गुरु नानक काव्य

का

सांस्कृतिक अध्ययन

(पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

❋

शोध-कर्त्तृ

ललिता देवी

शोध-निर्देशक

डा० गोविंद नारायण राजगुरु

अध्यक्ष हिन्दी विभाग पत्राचार निदेशालय

पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़

मई १९८०

गुरु नानक काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन :-

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
भूमिका	एक-पन्द्रह
प्रथम अध्याय	
गुरु नानक देव : जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व	1- 39
द्वितीय अध्याय	
संस्कृति और काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन का स्वरूप	40- 59
तृतीय अध्याय	
गुरु नानक - काव्य : तत्व दृष्टि	60-117
चतुर्थ अध्याय	
गुरु नानक - काव्य : अभिव्यक्ति	118-171
पंचम अध्याय	
गुरु नानक - काव्य : भौतिक मूल्य	172-189
षष्ठ अध्याय	
गुरु नानक - काव्य : भौतिक प्रतिमान	190-204
सप्तम अध्याय	
गुरु नानक काव्य : व्यक्तिक भौतिक मूल्य	205-234
अष्टम अध्याय	
गुरु नानक काव्य : सामाजिक भौतिक मूल्य	235-265
नवम अध्याय	
गुरु नानक-काव्य : अभिव्यंजना शिल्प	266-330

दशम अध्याय

गुरु मान्य - काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन : उपसंहार 340-350

ग्रन्थ सूची :

क:- मौलिक ग्रन्थ (हिन्दी) एक-बारह

ख:- पंजाबी ग्रन्थ

ग:- अंग्रेजी ग्रन्थ

घ:- सहायक ग्रन्थ सूची (हिन्दी)

च:- पत्र - पत्रिकाएं

-:-:-:-:-:-

गुरु नानक-काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन :-

भूमिका :-

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में गुरु नानक के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन किया गया है। गुरु नानक मध्यकालीन सन्त साहित्य के वह गौरव-मण्डित मुख पुरुष हुए हैं। निश्चय ही गुरु नानक काव्य में से सभी तत्व विद्यमान हैं जिनके आधार पर गुरु नानक वाणी का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन उपयोगी हो सकता है।

संस्कृति मानव की उत्थान की ओर ले जाने वाला वह व्यापक तत्व-बोध है जो विभिन्न कलाओं के माध्यम से मुख-मुखों की अनुभूति बन जाता है। काव्यकला संस्कृति के प्रचार, प्रसार एवं उसके रक्षण में सर्वाधिक रूप से सहायक होती है। "बोस" जी ने बिल्कुल ठीक कहा है कि "अच्छा साहित्य सुन्दर और अभिप्रायपूर्ण एक संस्कृति की उपज होता है और उस संस्कृति का स्वर उस साहित्य में सुनाई पड़ना चाहिए। जो साहित्य किसी एक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, उसका अपना व्यक्तित्व, अपनी एक अभिव्यक्ति होती है, और उस एक व्यक्तित्व उसके देश के बाहर पहचान पाता है तभी दूसरे संस्कृति-समाजों में जो महत्व दिया जाता है। दूसरे शब्दों में तभी वह विश्वजन साहित्य में स्थान पाता है। जिस साहित्य रचना में संस्कृति का स्वर नहीं बोलता उसका विश्व-साहित्य में स्थान पाने का कोई सवाल नहीं उठता।"[1] इस दृष्टि से कबीर, सूर, तुलसी, नानक आदि के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। गुरु नानक वाणी को लेकर अब तक थोड़े टीका ग्रन्थों एवं समीक्षात्मक ग्रन्थों का प्रका-शन हो चुका है परन्तु इस दिशा में कोई कार्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में पहली बार व्यापक स्तर पर और व्यवस्थित रूप से आदिगुरु नानक के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

१:- संस्कृति : यहाँ वहाँ, या लेख में ए सच्चिदानन्द वात्स्यायन, साप्ताहिक हिन्दुस्तान 30 मार्च, 1980, पृ० 7

आजकल "सांस्कृतिक अध्ययन" विश्वविद्यालय शोध का बहुत प्रिय एवं प्रतिष्ठित विषय बना हुआ है। इसकी महत्ता को सर्वप्रथम डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने महसूस किया था। उन्होंने "हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन" करते हुए लिखा है कि "सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से भारतीय साहित्य का अध्ययन अभी बहुत कम हुआ है। अब आवश्यकता है कि हर्ष तक के एक सहस्र वर्षों का भारतीय सांस्कृतिक जीवन का अति समृद्ध चित्र संस्कृत के काव्य, नाटक, कथा और कथा-साहित्य से प्राप्त किया जा सकता है" यह ऐसी सामग्री है, जो किसी शिलालेख या ताम्रपत्र में तो नहीं लिखी गई पर शताब्दियों से हमारे सामने रही है। उसे पूरे सम्मान और अर्थ को अब समझना उचित है। भारतीय इतिहास के चित्र में पूरा रंग भरने के लिये यह आवश्यक कर्तव्य है।[1]

काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन का स्वरूप क्या हो यह निर्धारित करने में मुझे पर्याप्त असुविधाओं का सामना करना पड़ा है। डा० राजेश मिश्र ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि "सांस्कृतिक अध्ययन का स्वरूप लोगों की दृष्टि में स्पष्ट नहीं है।"[2] अब तक जो विद्वान यों काम कर रहे हैं, उन से दो शैलियां सामने आई हैं - डा० वासुदेव शरण अग्रवाल की व्याख्यात्मक शैली और विश्वविद्यालयीय शोध ग्रन्थों की प्रायः परिभाषात्मक शैली। उक्त दोनों शैलियों का तुलनात्मक अध्ययन करते डा० मिश्र ने बड़े स्पष्ट रूप से प्रमाणित किया है कि काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए डा० अग्रवाल की शैली ही उपयोगी है।[2] डा० अग्रवाल के सांस्कृतिक अध्ययनों को जो व्यापक और उन्मुक्त रूपरेखा मिली है और विश्वविद्यालयीय शोध के नाम पर किए गए अध्ययनों की जो उपेक्षा हुई है उससे भी डा० अग्रवाल की पद्धति ही अधिक उपयुक्त प्रमाणित होती है। अतः अपने निर्देशक डा० गोविन्द नाथ राजगुरु की सलाह और डा० राजेश मिश्र की सलाह पर मैंने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में डा० अग्रवाल वाली शैली का अनुसरण किया है। संस्कृति के विविध पक्षों के आधार पर मूल नाम - काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन का मेरा यह विनम्र प्रयास है अपनी सार्वत्मिक सुरक्षता के लिए विज्ञजनों की उदार दृष्टि का कृपाभिलाषी है।

1:- हर्ष-चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल भूमिका, पृ० 6

2:- डा० राजेश मिश्र, आकाशवाणी, रीवां से 14/2/78 को प्रसारित पुस्तक समीक्षा।

1- गुरु नानक : जीवन, व्यक्तित्व और दृष्टि

गुरु नानक काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन के सम्बन्ध विवेचन के लिये प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सब से पहले गुरु नानक के जीवन, व्यक्तित्व एवं दृष्टि का विश्लेषणात्मक प्रस्तुत किया गया है। सम्भवतः गुरु नानक अपने जीवन-काल में ही अपने महिमा-मंडित एवं दिव्य पुरुष-चरित्र कर लिये गये थे अतः आगे आने वाले समय में उनके साथ अनेक चमत्कारी गाथाओं को सम्बद्ध किये जाने की एक लम्बी परम्परा रही है। एक तरह से इन गाथाओं को अवतारी पुरुष के जीवन के प्रति पौराणिक गाथाओं के रूप में भी देखा गया है। इनमें से अनेक, विभिन्न नामों के अन्तर्गत "जन्म साखियां" शीर्षक से हमें उपलब्ध हुई हैं। इन जन्म साखियों के माध्यम से गुरु नानक के जीवन एवं व्यक्तित्व का अध्ययन स्वयं में ही एक बहुत विशाल सांस्कृतिक विरासत लिये हुए है। विद्यमान प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सांस्कृतिक अध्ययन को गुरु नानक काव्य तक ही सीमित रखने की सीमा मेरे सम्मुख रही है, लेकिन जन्म साखियों के माध्यम से व्यक्तित्व के अध्ययन ने मुझे आदिगुरु के समकालीन सांस्कृतिक देश को समझने की एक दृष्टि मिली है जिसके मैं उनके काव्य में अभिव्यंजित सांस्कृतिक तत्वों का सही विश्लेषण करने में सक्षम हो सकी हूं।

भारतीय मध्यकालीन धर्म-साधना में गुरु नानक का गौरवपूर्ण स्थान है, और उनकी महिमामयी गुरुता, उनका प्रखर व्यक्तित्व, उनकी अन्तर्भेदी दृष्टि, अपने युग के प्रति उनकी जागरूकता, लोक संग्रह की भावना, मिथ्याचारों का निर्भीक प्रत्याख्यान तथा "सच-खंड वासी" की अपरोक्षानुभूति के महनीय तत्वों को उन्होंने अपनी वाणी में सहज सम्यक् अभिव्यक्ति दी है। आज से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व गुरु नानक ने अपनी सहज समाधिस्थ अवस्था में लोक कल्याण के लिये जिस वाणी का संगीत लहरियों में प्रादुर्भाव किया था वह भले ही, उनके अन्तर्धान के बाद स्वयं भाष्यकारों की दृष्टि में कहीं किन्हीं अंशों से प्रक्षिप्त हो परन्तु विद्वत्जन की दृष्टि से गुरु अर्जुन देव के प्रयत्नों के कारण ग्रन्थाकार रूप से सुरक्षित की गई उस वाणी को विद्वानों ने सही रूप में उपलब्ध माना है।

आदि ग्रन्थ में संकलित गुरु नानक वाणी का सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से मैंने समस्त गुरु वाणी को चार शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में उनकी सभी रचनाओं को "वृहदाकार कृतियां" शीर्षक देकर स्पष्ट किया गया है और छोटी रचनाओं को अन्य से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार गुरु नानक द्वारा रचित वारों का अलग वर्गीकरण कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त जो कुछ पद शेष रह गये हैं, उन्हें फुटकर पदों के शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है। इससे आदि नानक की वाणी के विश्लेषण को समझने में अधिक स्पष्टता मुझे प्रतीत हुई है।

गुरु नानक - काव्य का सर्वेक्षण करते हुए अन्य विद्वानों की तरह मैंने भी माना है कि यह समस्त वाणी गुरु अर्जुन देव द्वारा रागों के अन्तर्गत सम्पादित की गयी है। इसलिये उपर्युक्त वर्गीकरण के साथ-साथ मैंने समस्त वाणी में समाविष्ट विभिन्न रचनाओं के लिये निर्धारित विभिन्न रागों का वर्गीकरण भी प्रस्तुत कर दिया है क्योंकि जपुजी के अतिरिक्त समस्त गुरु-काव्य गेय रागों में रचित है।

आदि ग्रन्थ के सम्पादक एवं संकलन कर्ता पांचवें गुरु अर्जुन देव ने गुरुनानक वाणी को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत करने का निर्देश दिया था - जपु, सिध गोसटि, ओंकार, पट्टी, बारहमाहा, थिति, वार, सोदर, अलाहणियां, आरती, कुचजी, सुचजी, माझ की वार, आसा की वार, मलार की वार, कोयटे, अष्टपदिया, छंत, सोलहे, श्लोक। इस संकेत ने विश्लेषण क्रम से गुरु नानक-काव्य में प्रतिबिम्बित सांस्कृतिक तत्वों का स्वरूप निर्धारण करने में एक रूपरेखा का काम किया है।

२- संस्कृति और काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन का स्वरूप

द्वितीय अध्याय में विषय के सैद्धान्तिक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। इसमें संस्कृति के अर्थ, परिभाषाओं एवं उसकी उपयोगिता का उल्लेख करते हुए, संस्कृति एवं साहित्य का परस्पर सम्बन्ध निरूपित किया गया है। इसके साथ ही संस्कृति के विभिन्न पक्षों को विवेचित करने का प्रयत्न भी किया है।

संस्कृति मानवीय ज्ञान, अनुभव और उत्कर्ष का समष्टिगत रूप है, और साहित्य मानवीय भावनाओं और ज्ञान का सूक्ष्म संग्रह है। सांस्कृतिक अवदेय साहित्यिक कृतियों में व्यक्त होकर अमरत्व प्राप्त करती है। साहित्य सांस्कृतिक तत्वों के सम्श्लेषण से ही दीर्घजीवी बनता है। प्रस्तुत अध्याय में इसी दृष्टिकोण को मैंने विवेचन विश्लेषण का आधार बनाया है। वस्तुतः साहित्य में कवि या लेखक के व्यक्तिगत तथ्य सामाजिक अनुभवों, दार्शनिक-आध्यात्मिक विचारों, प्रेम-भावना और सौन्दर्य बोध आदि की अभिव्यक्ति होती है क्योंकि इन से संस्कृति का गहन सम्बन्ध है। सांस्कृतिक चेतना काव्य तथा चित्तप्रधान कृतियों में अधिक स्पष्ट रूप से प्रकाश पाती है। यही कारण है कि किसी भी जाति के साहित्य के द्वारा उसकी संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जिस देश की संस्कृति जितनी समुन्नत होगी उस देश का साहित्य भी उतना ही प्रांजल और उज्ज्वल होगा साहित्य और समाज के सम्बन्ध की तरह ही संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध भी अविच्छेद्य होता है। यदि सूक्ष्म रूप से देखें तो पता चलता है कि साहित्य का आधार पाकर ही संस्कृति स्थायी और शक्तिमती रह सकती है। आप यदि इस पाठ में वर्णी पूर्व की संस्कृति या इतिहास जानना चाहते हैं तो साहित्य ज्ञान में हमारा सर्वाधिक सहायक हो सकता है। साहित्य के द्वारा संस्कृति को नयी पीढ़ियों तक पहुंचाया जा सकता है। मानव जाति के इतिहास में होने वाली सांस्कृतिक प्रगति मुख्यतया श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों के रूप में सुरक्षित रहती है। इस प्रकार साहित्य संस्कृति का संवाहक भी है और संरक्षक तथा पोषक भी। सांस्कृतिक अवदेय साहित्यिक कृतियों में व्यक्त होकर अमरत्व प्राप्त करती है और साहित्य सांस्कृतिक तत्वों के सम्श्लेषण से सारवान, समुन्नत, प्रभावकारी और दीर्घजीवी बनता है। साहित्य के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए इस दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण स्वीकार करते हुए मैंने मुख्यतः काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन के समीचीन विवेचन के लिये संस्कृति के स्वरूप-विश्लेषण को आवश्यक माना है। साथ-साथ संस्कृति के [साहित्य के सन्दर्भ में] विभिन्न तत्वों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी मैंने किया है जिससे मूल भारतीय काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन का आधार निर्धारित किया जा सके। यही कारण है कि संस्कृति की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए मैंने इस बात पर बल दिया है कि संस्कृति अनुकरणशील है। यह एक समन्वयात्मकता है जिसमें अन्तर्गत मानवीय संभावनाओं के उच्चतम आदर्श निहित होते हैं।

इस लक्ष्य से गुरु नानक काव्य के अध्ययन में उन्हीं संवेदनाओं और अभिव्यंजनाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जिनका किन्हीं दार्शनिक मूल्यों, नैतिक मूल्यों और कलात्मक आदर्शों की स्थापना में योगदान है।

३- गुरुनानक - काव्य : तत्व दृष्टि

थीसिस के रूप में प्रस्तुत पहले दो अध्यायों के पश्चात मैंने तीसरे अध्याय में गुरु नानक काव्य में प्रतिपादित तत्व चिन्तन को प्रस्तुत किया है। समृद्ध भारतीय संस्कृति की महत्ता, गंभीरता, विशालता, भव्यता और प्राचीनता आदि विभिन्न पक्षों का सम्यक् विश्लेषण उसके दार्शनिकत्व में निहित है। दर्शन ही किसी देश या समाज की मौलिक एवं अक्षय चिन्ताधारा का उत्स है, संस्कृति की नींव दर्शन पर ही आश्रित है। दर्शन भारतीय जीवन का प्राण रहा है। प्राचीन काल से ही सन्तों ऋषियों तक यहां के साधकों, चिन्तकों एवं आचार्यों ने और तपस्वियों का अनुसरण करते हुए दार्शनिक तथ्यों का उद्घाटन किया है तथा अर्थ एवं तत्वज्ञान को जीवन के लिये अत्यावश्यक बताया है। गुरु नानक काव्य में प्रतिपादित दार्शनिक तथ्यों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए मेरा दृष्टिकोण रहा है कि विशिष्ट साध से सम्पन्न जनता की सन्तुष्टि के लिये, जीवनमय संसार से वास्तविक मुक्ति-सृष्टि के लिये ही दर्शन शास्त्र का आविर्भाव हुआ है। हमारे यहां चिन्तनप्रधान सूक्तियों की कमनीय कल्पना ही नहीं रहा अपितु उनका व्यावहारिक महत्व भी रहा है। यही कारण है कि गुरु नानक की लोकहितकारी चेतना के कारण गुरु काव्य में दार्शनिक तत्व यथास्थान प्रतिपादित होते चले गये हैं।

यहां इस तथ्य को भी स्पष्ट किया गया है कि गुरु नानक-काव्य समस्त भारतीय संस्कृति की मानव-मंगल-कामना की पावन धारा को सीढ़ियाँ बनाने का प्रयास है। गुरु नानक ने भारतीय दर्शन के ब्रह्म एवं परमतत्व तत्वों-ब्रह्म, जीव, जगत एवं माया को अपनी सहज, सार्वभौम दृष्टि से व्याख्यायित किया है। इन जिज्ञासाओं का तत्व संबंध उनके सम्पूर्ण मानव-भाव का अभ्युदय भी रहा है। ब्रह्म की चिरंतनता की तरह चिरन्तनदेव मनुष्य के अहं की मार्मिकता को चिन्हित करती है, जगत का मिथ्यात्व उसके मोहबन्धनों को

होता करता है , माया की भ्रमक आसक्ति तृष्णा का ज्ञान मनुष्य को गुरु की शरण में जाने के लिये बाध्य करता है । ब्रह्म, माया और जीव का सम्बन्धज्ञान ज्ञान मार्ग के मनुष्य तथा भक्ति मार्ग के अनुयायी के लिये परमावश्यक है । यही कारण है कि भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के समस्त चिन्तकों ने इन दार्शनिक तत्वों का बड़ी गम्भीरता से विवेचन किया है ।

गुरु नानक द्वारा अभिव्यक्त निर्गुण ब्रह्म सर्वशक्तिमान है, कृपालु है । यही कारण है कि उन्होंने अपने परब्रह्म के प्रति अनेक भावात्मक सम्बन्धतत्वों की स्थापना की है । जीव के सम्बन्ध में गुरु नानक की मौलिक उद्भावना मनुष्य का मनमुख तथा गुरुमुख दो भागों में बाँटा जाना है । जीव के सम्बन्ध में समस्त दार्शनिक परम्परा को स्वीकार करते हुए , वे मनुष्य जन्म को अत्यन्त मूल्यवान स्वीकार करते हैं क्योंकि इसी मनुष्य के रूप में ही वह परमात्मा की भक्ति करते हुए अनेक सत्य को उपलब्ध कर सकता है । इतना ही नहीं गुरु नानक द्वारा अभिव्यक्त मनुष्य शरीर-मन्दिर के समान है, वह समस्त साधनाओं का केन्द्र है, सिद्धियों का पुंज है । गुरु नानक का सृष्टि-चिन्तन भी अनेक आयामों को प्रकट करता हुआ अत्यन्त विराट है । ब्रह्म उनके लिये सृष्टा तो वह भी है और अन्तर्यामी को प्राप्त करने का साधनात्मक भी । अनेक स्थलों पर मैंने पाया है कि गुरु नानक अभिव्यक्ति के सर्वथा भिन्नार्थक भाव को अनेक उपमानों एवं रूपकों के मौलिक प्रयोग द्वारा प्रकट करने का प्रयास करते हैं । गुरु नानक का अनुभवी व्यक्तित्व अपनी समस्त सांस्कृतिक विरासत को समेटता हुआ सी अपनी मौलिक उद्भावनाएं प्रकट करता प्रतीत होता है । माया के सन्दर्भ में भी हमें उनके इसी प्रकार के दृष्टि कोण के दर्शन होते हैं । डा० राजेश्वर सिंह ने ठीक कहा है कि समस्त सन्त काव्य का दृष्टिकोण माया के प्रति विशेषतः व्यावहारिक रहा है । सन्त उन समस्त विकारों, जंजालों, कामनाओं, वासनाओं को माया से अभिहित करते हैं, जो ईश्वर चिन्तन में या मानव-अभ्युदय में बाधक हैं । [1] इसलिए माया के विकारी पक्ष को गुरु नानक के कुदरत की संकल्पना द्वारा अभिव्यंजित किया है । गुरु नानक की "कुदरत" सांख्यादिकों की प्रकृति से भिन्न है । यहां कुदरत एक विराट रूप में चित्रित है, जिसके अस्तित्व का उत्तरदायित्व सीधे ब्रह्म पर है । निर्गुण ब्रह्म की यह शक्ति ही जागतिक प्रपंचों का निर्माण करती है और सृष्टि के इस विराट् रूप का संचालन करती है । इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्म,जीव, जगत,

माया का खण्डन गुरु-काव्य में अनेक स्थलों तथा मौलिक उद्भावनाओं को समाहित किये हुए है और समस्त जाती के सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिये समर्पित है।

५- गुरु नानक - काव्य : भक्ति साधना

प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में गुरु - काव्य के साधना - पक्ष को अध्ययन का विषय बनाया गया है। समस्त सन्त साहित्य अभ्युदय एवं विकास भक्ति-साधना की देन कहा जा सकता है। गुरु नानक वाणी ज्योतिस्विनी के अभिन्न अंग हैं। भक्ति और उसके विविध रूपों को लेकर भारतीय साहित्य में पर्याप्त चिन्तन-मनन किया गया है। भक्ति की परम्परा का देश में काफी पुरानी है लेकिन मध्यकाल में भक्ति का देश की सामाजिक जीवन्त साधना रही है। इस समय भक्ति के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों का चिन्तन और आचरण व्यापक स्तर पर और पूरी गहराई से किया गया है।

मोटे तौर पर भक्ति के दो रूप उपलब्ध होते हैं - निर्गुण और सगुण। दोनों की परम्पराएं देश में काफी पुरानी हैं। निर्गुण -भक्ति-धारा के कवियों ने भगवान के निर्गुण-निराकार रूप की उपासना पर बल दिया, उन्होंने भजन-पूजन आदि के विधि-विधानों की आवश्यकता नहीं स्वीकार की, भगवान के अवतारों, लीलाओं आदि को माया मानकर उन्हें अपनी भक्ति का विषय नहीं बनाया। उनका सामान्य सिद्धान्त था - ईश्वर को अपने भीतर देखना, सारे संसार में उसकी स्थिति का अनुभव करना। ऐसे भिन्न सगुण भक्त कवियों ने जिन्होंने भगवान के नाम रूप, गुण, लीला और धाम की महिमा का वर्णन किया है तथा भगवान की अवतार-लीला को गौरव दिया है।

गुरु नानक निर्गुण-भक्ति-धारा के अन्तर्गत आते हैं। उनका ईश्वर अजन्मा पुरुष, निरभय, निर्वैर, अकाल, अयोनि, स्वयंभू है। गुरु - भक्ति की भक्ति की एक उल्लेखनीय विशेषता उनका अतिशय भावुक-प्रेम है। उनकी भक्ति को प्रायः भाव-भक्ति ही कहा गया है परन्तु गुरु नानक किसी भी रूप पर प्रेम-भक्ति के संयोग तथा वियोग पक्ष का वर्णन करते समय संयम का त्याग नहीं करते। उनका प्रेम अन्य प्रेम जैसा है पर उनके प्रेम-वर्णनों में आत्मा की भट्ठी से तैयार किया हुआ प्रेम का रस है। गुरु नानक के प्रेम-भाव में कामना भक्ति की अपेक्षा सेवा-भाव का प्राधान्य है। इस दृष्टि से सारसमाहार गुरु नानक की उल्लेखनीय रचना है जिसे कुछ विद्वान की श्रेष्ठ सांख्यिक अभिव्यक्ति माना गया है।

गुरु नानक ने प्रभु - भक्ति को महत्ता की रक्षा का सर्वोत्तम उपाय बताया है। उनके विचार में भक्त की आत्मा स्त्री है और उसे वही कार्य करना चाहिए जो उसके प्रियतम को अच्छा लगे क्योंकि अपने प्रियतम का गुणगान करने वाली प्रेमिकाओं पर ही प्रभु प्रसन्न होते हैं। प्रभु की अनन्य भक्ति के अभाव में आनन्द की प्राप्ति असंभव है। प्रभु - प्रेम से परिपूर्ण हृदय ही आनन्द से परिपूर्ण हो सकता है। यही कारण है कि गुरु नानक ने प्रेमा भक्ति के बिना कर्मकांड को पाखण्ड कहा है। वे भक्ति से शून्य ज्ञान को कोरा तर्क तथा क्लिष्टतावाद मानते हैं और योग-साधना को भक्ति के बिना शारीरिक व्यायाम घोषित करते हैं। गुरु नानक का मत है कि यदि हृदय में प्रेम का रस नहीं है तो जीव के कर्म सदा असफल रहेंगे। भक्ति-मार्ग के प्रशस्त होने पर ही ज्ञान ब्रह्मज्ञान कहलाता है और योग, सहज योग का रूप धारण कर लेता है।

गुरु नानक की भक्ति का दूसरा उल्लेखनीय लक्ष्य नाम सुमिरन है। वस्तुतः गुरु वाणी में भक्ति और "नाम" पर्याय के रूप में चित्रित किये गये हैं। भारतीय परम्परा में शक्ति, उपास्य तथा मन्त्र जपों का उल्लेख बड़े प्राचीन काल से किया जाता रहा है। मध्यकालीन सन्तसाधना तो है ही नाम-साधना। गुरु नानक ने भक्ति-साधना में नाम को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है। संसार के मोहान्ध वातावरण में नाम ही व्यक्ति का सम्बल बन सकता है। इस नाम को ही जहाँ गुरु नानक ने अनेक स्थलों पर सच्चिदानन्द, सत्यावरण और सच्चिदानन्द माना है। नाम को वे अमृत मानते हैं। नाम उनके लिये एक अनश्वर पदार्थ के समान है और जो उसके द्वारा सांसारिकता में खोया हुआ व्यक्ति मुक्त हो सकता है।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में कर्म, योग और भक्ति नामक तीन साधना-मार्गों का समय समय पर प्रत्याख्यान होता रहा है। लेकिन मध्यकालीन साधना ने एक मत से भक्ति को सर्वोत्तमुखी साधना के रूप में स्वीकार किया है। भारत के परिव्राजक की निर्गुण भक्ति ने लोक-मानस को बहुत गहराई तक प्रभावित किया है। इस क्षेत्र की भक्ति-साधना के विकास में गुरु नानक तथा उनके परवर्ती सिख गुरुओं की पावन-वाणी को योगदान सबसे अधिक माना जाना चाहिए। गुरु नानक की समस्त वाणी भक्ति का ही एक विशाल ग्रन्थ है जिसके प्रति पद से नाम - स्मरण अभिव्यक्त होता है। नाम - महिमा के प्रति समर्पित यह समस्त काव्य उस युग की सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है।

प्रथम - गुप्त मानस-काव्य : नैतिक मूल्य
: नैतिक प्रतिमान
: वैयक्तिक नैतिक मूल्य
: सामाजिक नैतिक मूल्य

प्रस्तुत प्रबन्ध के पांच ~~सात~~ से अध्याय अध्यायों में गुप्त मानस काव्य में प्रतिपादित नैतिक मूल्यों का विवेचन किया गया है। मानव के सांस्कृतिक विकास के साथ - साथ उसके नैतिक मूल्यों में भी एक उत्तरोत्तरी प्रवृत्ति लक्षित होती है। हर युग अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए किन्हीं नैतिक मान्यताओं को निर्धारित करने में सदैव प्रयत्नशील रहा है। नैतिक मूल्यों का सम्बन्ध संस्कृति के साथ बहुत गहराई तक होता है। प्रायः देखा जाता है कि नैतिक मान ही संस्कृति के स्वरूप निर्धारण में अधिक सहायक होता रहा है। सनातन भारतीय संस्कृति निरन्तर अपने में नैतिक आदर्शों को समाहित किये रही है और यही कारण है कि हमारे यहां संस्कृत व्यक्ति ही नैतिक व्यक्ति माना जाता रहा है या नैतिक व्यक्ति को ही संस्कारवान कहने की परम्परा है। ऋग्वेद का ऋत् निश्चित रूप से वैदिक आर्यों का नैतिक मापदंड रहा होगा क्योंकि ऋत् के प्रभाव विद्युप्त होते जाने की स्थिति में हम ब्राह्मण ग्रन्थों में लगभग प्राचीन साहित्यिक रूप की गौरवमयी परम्परा को पल्लवित होते देखते हैं। उसके बाद हम पाते हैं कि उपनिषदों में धीरे - धीरे नये नैतिक आधार ग्रहण किये जाने लगते हैं। परन्तु उस युग का लोक-मानस पुनः विद्रोह करता है और छः के चार आश्रमों के रूप में नये नैतिक आधार का स्वरूप निर्धारित किया जाने लगता है। कहने का अभिप्राय यह है भारतीय मनीषा निरन्तर युगानुरूप नैतिक मूल्यों को स्थापित करने में संघर्षशील रही है।

मध्यकालीन भक्ति-काव्य नैतिक आधार को प्रतिष्ठित करने की एक महती साधना है। इस कालावधि में भक्ति-काव्य की निर्गुण एवं सगुण दोनों धाराओं में ऐसे युग-पुरुषों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने छिन्न-भिन्न हो रहे भारतीय समाज को एक सम्बल प्रदान किया। गोस्वामी तुलसीदास के मर्यादा पुरुषोत्तम राम का शील, शक्ति, सौन्दर्य से समन्वित व्यक्तित्व मूढ़ाग्र भारतीय जनमानस के लिये

सहीजनी सिद्ध हुआ है। गुरु के बालकृष्ण ने उस अज्ञानपूर्ण वातावरण को भी उर्वरक तथा आशाजनकारी बना दिया था।

भिन्न-भिन्न सन्तों का मुख्य लक्ष्य था समाज का अभ्युत्थान और व्यक्ति का कल्याण। इसके लिए उन्होंने एक सिरे से दूसरे सिरे तक समस्त दुराग्रहों को पटक कर फेंक दिया और नवीन तथा मौलिक कुछ मान्यताओं को प्रस्तुत किया। जिनका प्रभाव लोक-चेतना में एक लम्बे समय तक प्रेरक बना रहा और जिनके उपदेशों ने लोकचित्त को निरन्तर सत्कर्म की प्रेरणा प्रदान की उन सन्तों में गुरु नानक अग्रणी हैं।

गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित मौलिक मूल्यों का विश्लेषण करने के लिये उसे "सामाजिक मौलिक मूल्य" तथा "व्यक्तिगत मौलिक मूल्य" जैसे दो भागों में बाँटा जिया गया है। वस्तुतः गुरु नानक के समक्ष व्यक्ति के "सुधार" होने की समस्या थी। लेकिन वे जानते थे कि व्यक्ति समाज-निरपेक्ष होकर कभी भी, किसी भी स्थिति में "सुधार" नहीं हो सकता। साथ ही समाज के मौलिक मूल्यों की स्थापना व्यक्तिगत मौलिक मूल्यों से सम्भव है। यही कारण है कि उन्होंने जहाँ व्यक्ति के "सुधार" होने के आदर्श प्रस्तुत किये हैं वहीं समाज के सामूहिक अभ्युत्थान को भी वे अपने ध्यान में रखते रहे हैं।

व्यक्तिगत मौलिक मूल्यों के अन्तर्गत गुरु नानक ने "परम ज्ञान" के स्वरूप को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया है। उन्होंने परम ज्ञान के रूप में "मोक्ष" के आदर्श को स्वीकार किया है। गुरु नानक सांसारिक उलझनों से छुटकारा प्राप्त करने को "मुक्ति" मानते हैं। इस मुक्ति के मार्ग में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि विकार बाधक हैं। यह गुरु नानक की गहरी सूझ थी कि इनका विश्लेषण करते हुए गुरु नानक ने इनके त्याग पर और सद्गुण वर्गों के द्वारा मोक्ष प्राप्ति पर बल दिया है।

परम ज्ञान की प्राप्ति में गुरु नानक ने सद्गुरु कृपा को महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने सर्वत्र बड़े आग्रह से इस मान्यता की स्थापना की है कि परम ज्ञान की प्राप्ति केवल परमात्मा की कृपा से ही संभव है। मनुष्य का जन्म विभिन्नभेद वर्गों के परिणामस्वरूप होता है लेकिन उस मोक्ष की प्राप्ति प्रभु की कृपा से ही होती है। यहाँ इस बात का उल्लेख भी किया जा सकता है कि सतों के मत से प्रभु-कृपा गुरु के सान्निध्य से ही उपलब्ध हो सकती है। गुरु नानक आदि सन्त कवियों को गुरु तथा परमात्मा में कहीं कोई अन्तर दिखायी नहीं देता। इस प्रकार परम ज्ञान की उपलब्धि

में सेवा-भाव का दर्शन गुरु - ग्रन्थ का एक उल्लेखनीय पक्ष है । इसमें सेवा को श्रेष्ठ कर्म बताया गया है । यही कारण है कि गुरु नानक की शिष्य परम्परा में सेवा कार्य को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है ।

गुरु नानक ने अपने आदर्श व्यक्ति को गुरमुख की संज्ञा से अभिहित किया है । गुरमुख का बड़े विस्तार से गुरु - वाणी में वर्णन किया गया है । गुरमुख के विपरीत मनमुख है । गुरमुख से अभिप्राय है गुरु के प्रति आत्मसमर्पण तथा मनमुख का अर्थ है मन के विकारों का अनुगामी व्यक्ति । गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित गुरमुख व्यक्ति में समस्त उच्च आदर्श विद्यमान रहते हैं ।

गुरु नानक ने सामाजिक नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन सन्त मानव-मात्र के दृष्टिकोण से किया है जिसे " गुरु सिख " परम्परा में "सरबत दा भला" के रूप में सम्बोधित किया जाता है ।

गुरु नानक ने अपने समय के समस्त राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करते हुए समाज के प्रत्येक वर्ग के लिये नैतिक मान्यताएं निर्धारित की हैं । उनका किसी व्यक्ति के मुसलमान, हिन्दू, सोना, लेना आदि किसी भी वर्ग-विशेष में होने का कोई विशेष महत्व नहीं है । वे वास्तव मुसलमान को एक अच्छा मुसलमान, हिन्दू को एक श्रेष्ठ हिन्दू, सोना को श्रेष्ठ सोना और लेना को श्रेष्ठ लेना देखना चाहते हैं । यही कारण है कि उन्होंने इन सभी वर्गों के संकीर्णता, अन्धविश्वास मिथ्या क्रियाकलापों का खंडन करते हुए एक सत्य-मार्ग का आदर्श प्रस्तुत किया । वे आज से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व एक सही व्यक्ति की निर्मिति की ओर अग्रसर हो रहे थे जो अपनी दृढ़ भूमि पर टिका रहकर जीवन जगत की समस्त विसंगतियों से टकराते हुए अपने समाज का निर्माण कर सके । उनके मन में एक ऐसे समाज की परिकल्पना थी जिसे अभिनव परिस्थिति "सिख पंथ " के रूप में पूर्ण और जिसने लगभग दो सौ वर्ष तक सम्पूर्ण भारतीय समाज के मनोबल को ऊंचा बनाये रखने में कोई कसर नहीं उठा रखी । गुरु नानक के नैतिक मूल्यों की आधारभूमि पर खड़े होकर ही गुरु अंगद से शिष्यों ने लगातार संघर्ष तथा शहीदी अर्जित किया जिससे कि हर शोषण, अत्याचार, धार्मिक अनाचार से ये टक्कर ले सकें और आत्मोत्सर्ग करने में कभी पीछे नहीं रहे ।

९- गुरु नानक - काव्य अभिव्यंजना शिल्प

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के सप्तम अध्याय में गुरु नानक काव्य के अभिव्यंजना शिल्प का विवेचन विश्लेषण किया गया है। किसी काव्यकृति के पुरोक्ष शब्द, वाक्य-विन्यास, अभिव्यक्ति कौशल, लोकोक्तियों तथा काव्य रूप आदि सभी के संस्कृति के विभिन्न स्तरों पर प्रकाश पड़ता है। नानक-काव्य का एक-एक शब्द अपने गर्भ में जिस चिंतन-धारा को लिए हुए है वह हमारे पूर्वजों के विश्वासों, विचार-पद्धति तथा व्यवहार-शैली को द्योतित करता है। यदि ये शब्द द्योतित करते हैं तो उनके साथ सम्बद्ध विचार-धारा भी द्योतित है और उसके साथ ही हमारी वह परम्परा भी द्योतित है जो युगों के अन्तराल को पीटती हुई अपने साथ जीवनोपयोगी सामग्री को लाती होती है।

किसी कृति के अभिव्यंजना शिल्प के अध्ययन से अन्तर्गत सबसे पहले उस कृति की भाषा का अध्ययन आवश्यक होता है। कवि की भाषा के सांस्कृतिक पक्ष का विवेचन उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों, वाक्यांशों तथा लोकोक्तियों के आधार पर किया जा सकता है। संस्कृति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले सद्गुण आचारों की समष्टि का ही दूसरा नाम है। सामान्य अर्थ में संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जो मानव व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं सशक्त बनाते हैं। सामाजिक की होने के कारण कवि का व्यक्तित्व देश विशेष की संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यही व्यक्तित्व भाषा के माध्यम से काव्य में प्रकट होता है। अतएव रूप में कवि का अभिव्यंजना शिल्प तथा उसकी भाषा उसकी सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती है। इस दृष्टि को लक्ष्य मानकर गुरु नानक काव्य के अभिव्यंजना कवि- शिल्प के विविध पक्षों का विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। भाषा, मुहावरे और लोकोक्तियां, शब्द-शक्ति, अलंकार-विधान, प्रतीक-योजना, बिम्ब-विधान तथा संगीतात्मकता इस अध्याय के विषय हैं।

१०- उपसंहार

प्रबन्ध के अंतिम अध्याय में गुरु नानक - काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन सम्बन्धी अब अनुशीलन कार्य की मुख्य उपलब्धियों को अध्यायक्रम से रेखांकित किया गया

है और इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध के सारे विस्तार को उपलब्ध किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध के उक्त सात अध्यायों में गुरु नानक के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। आशा है विद्वानों को मेरा यह विनम्र प्रयास पसन्द आयगा।

कृतज्ञता-ज्ञापन

इस शोध कार्य को सुविधापूर्वक सम्पन्न करने में मुझे अपने निर्देशक डा० गोविन्द नाथ राजगुरु से जो सहायताएं मिली हैं मैं उनके लिए हृदय से कृतज्ञ हूं। पंजाब विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के रीडर डा० मैथिली प्रसाद भारद्वाज ने विघ्न-बाधा, प्रारम्भ निर्धारण आदि सब में मुझे जो सहयोग दिया है तथा प्रबन्ध की पाण्डुलिपि को आद्यन्त देखकर उसे दोष मुक्त करने में महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक के डा० राजेश मिश्र ने जो आत्मीयता प्रदर्शित की है मैं उनके लिए उक्त दोनों विद्वानों का आभार मानती हूं। शोध-कार्य के रास्ते में पड़ने वाली अड़चनों को दूर करने और अपने भाषा वैज्ञानिक संस्कारों के कारण कभी - कभी नई उलझनें पैदा करने में मेरे पति डा० श्री कृष्ण चावला ने मुझे शोध कार्य को निर्दोष बनाने में अपार सहयोग दिया है। मैं औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों रूपों में डा० चावला के प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करती हूं। गुरु नानक देव विश्वविद्यालय के गुरुवाणी - साहित्य के विशेषज्ञ डा० सेवा सिंह जी से भी इस कार्य को सम्पन्न करने में मुझे आवश्यक सहयोग, दिशा और दृष्टि मिली है। मैं उनके प्रति अपनी सहज आत्मीयता और कृतज्ञता अर्पित करती हूं।

प्रस्तुत शोधकार्य को सम्पन्न करने में मुझे विभिन्न विद्वानों की रचनाओं से यथोचित सहायता मिली है। पाद टिप्पणियों और ग्रन्थसूची में यथा स्थान उनका उल्लेख मैंने किया है। कोई भी शोध कार्य इन ग्रन्थों के बिना सम्भव नहीं है। मैं यहां उक्त ग्रन्थों के विद्वान लेखकों का आभार स्वीकार करती हूं।

शोध - कार्य के दौरान मुझे जिन - जिन से भी कोई सहयोग, सहायता दिशा दृष्टि, सूचना और आश्वासन मिला है मैं उन सबों के प्रति अपनी कृतज्ञता निवेदित करते हुए आशा करती हूँ कि विद्वानों को मेरा यह विनम्र प्रयास पसन्द आएगा। गृहिणी, पत्नी, माँ और प्राध्यापिका के दुर्वह उत्तरदायित्वों को निभाते हुए भी शोध कार्य को पूरा कर लेना कितना कठिन है, यह सहज अनुमेय है। इन सीमाओं के कारण जो न्यूनताएँ रह गई है उन के लिए मैं विद्वानों के स्नेह की आशा रखती हूँ।

''जो बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता।''

ललिता देवी

-- ललिता देवी --

गुरु नानक काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन

प्रथम अध्याय :-

गुरु नानक देव : जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्रथम अध्याय:-

गुरु नानक देव: जीवन व्यक्तित्व एवं कृतित्व:-

जीवन :-

गुरुनानक का जन्म अक्टूबर 20, 1469 ई० कार्तिक पूर्णिमासी वि० 1526 को प्रात:काल "तलवंडी रायभोय की भट्टी" नामक गांव में बाबा कालू खत्री के घर हुआ।[1] बचपन से ही अन्य बालकों की अपेक्षा उनके स्वभावगत लक्षण सर्वथा भिन्न और अलौकिक थे। जब कोई मुसलमान फकीर नानक से मिलता तो वह उसे कहता - "अल्लाह हो अक्बर।" जब कोई हिन्दू मिलता तब कहता "बोलो राम गोविंदे।" नानक के दिव्य मुख को देखकर मुसलमान पुकार उठते "बाबा खुदाए तेरी पैदाइश"। हिन्दू उनके मधुर वचन सुनकर कह उठते "देखो कितना छोटा सा बालक है किन्तु उसके मुख से अमृत वचनों की वर्षा होती है।[2] कभी-कभी वह घर पढ़ी कोई पुस्तक या हिसाब जांचने की बही उठाकर नानक उस तरह पढ़ने लगता जैसे कोई विद्वि पंडित धार्मिक ग्रंथ पढ़ रहा हो।[3]

पं० हर्ष की अध्यक्षता में नानक को गोपाल पांधा की पाठशाला में अध्ययन के लिये भेजा गया।[4] बुनियादी शिक्षा समाप्त कर लेने के पश्चात् नानक

1:- डा० किरपाल सिंह: जीवन चरित्र, गुरुनानक देव:, पृ० 2
2:- जन्म साखी: भिखवाल, पृ० 11
3:- जन्म साखी: मनी सिंह, पृ० 44
4:- जन्म साखी: बाला, पृ० 92

ने तलवंडी के प्रकांड पंडित कृपाल से संस्कृत का अध्ययन किया।[1] सैयद हसन मौलवी से नानक ने अरबी तथा फारसी का ज्ञान प्राप्त किया।[2] सियाह-उल मुत्ताखरिन[3] के रचयिता का कथन है कि नानक ने सैयद हसन नानक तलवंडी के सूफी दरवेश से फारसी अरबी की शिक्षा प्राप्त की और इस्लाम की सैद्धान्तिक रचनाओं का ज्ञान भी उसने प्राप्त किया। वह मौलवी की कोई सन्तान न थी। यह नानक के मुख-मण्डल की तेजी आभा और सौन्दर्य से इतना प्रभावित हुआ कि उसने नानक को अपना बेटा समझ कर अधिक से अधिक ज्ञान प्रदान किया।"

चिन्तनशील प्रकृति के कारण गुरुनानक हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों जातियों के संतों की संगति में अत्यधिक प्रसन्न होते। उन्हें हर प्रकार के अंधविश्वास तथा मिथ्याचिचारों से तीव्र घृणा हो गई। उन्हें अपने पिता की नौकरी या पारिवारिक व्यापारिक धंधे आदि से भी लगाव न था। वे ईश्वर के आज्ञाकारी दास तथा सच्चे भक्त के रूप में मानवता की सेवा करना चाहते थे। नानक इन दिनों एकान्त में ही दिन व्यतीत करते अथवा नाथ पंथी योगियों, संन्यासियों से ज्ञान-चर्चा करते। परिवार के लोगों को चिन्ता हुई कि कहीं बालक नानक विरक्त साधु ही न बन जाये। उस समय उनकी आयु सोलह वर्ष की थी। उनका ध्यान संसार की ओर लगाने के लिये नानक का विवाह बटाला के पटवारी मूलचन्द की सुपुत्री सुलक्खनी[4] से कर दिया गया[5] और उन्हें दो पुत्र हुए — श्रीचन्द तथा लक्ष्मीदास।

विवाहोपरान्त लगभग चार वर्ष गुरुनानक देव तलवंडी में ही रहे। नित्य प्रातः-सायं प्रभु का कीर्तन किया जाता। नानक अपनी खेती की देखभाल करते और बाहर से आने वाले साधु-भक्त उनके घर में ही भोजन प्राप्त करते।[6] इस प्रकार गृहस्थ जीवन में भी वे नितान्त सात्विक जीवन व्यतीत करते रहे। पारिवारिक मोह भी

1:- जन्म साखी: भनी सिंह, पृ० 52

2:- ट्रान्सलेशन ऑफ सियाह-उल मुत्ताखरिन।, 1786 एडीशन पृ० 82-83

3:- वही

4:- जन्म साखी : बाला [2,3], पृ० 75

5:- तवारीख गुरु खालसा, पृ० 52

6:- जन्म साखी: भिचरवाल, पृ० 76

नानक को सांसारिकता में प्रवृत्त न कर सका। बाप-बेटे में जब न बने पैसा सौंप कर नानक की बड़ी बहन नानकी जिसकी शादी बटाला के पास सुलतानपुर में हुई थी, अपने भाई को वहीं ले गयी। वहां नानक के बहनोई जयराम ने दौलतखां मोदी के सरकारी मोदी खाना में नानक को भंडारी की जगह दिलवा दी।[1] कुछ समय के लिये नानक बीबी नानकी के पास रहे। फिर उनको दरबार की ओर से अलग मकान रहने के लिये मिल गया। जो बाबा नानक का "डेरा" नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ महीनों के पश्चात् गुरुनानक ने मरदाना और सुलक्खा को अपने पास बुला लिया।[2] गुरुनानक ने ईमानदारी तथा जिम्मेदारी से काम किया तथा शीघ्र ही वे लोकप्रिय हो गये। भुल्लिया, चौधरी, कानूनगो, करोड़िए आदि यदि किसी गरीब से कोई अन्याय करते तो गुरुनानक न्याय के लिये गरीबों के अधिकारों के लिये डट जाते।[3]

सायंकाल नानक के डेरे पर कीर्तन होता। ज्ञान गोष्ठियां होतीं। आने वाले भक्त साधुओं को गुरु नानक उपदेश देते। दीन दुखियों की समस्याओं का समाधान करते। बाहर से आये भक्त जिज्ञासु साधु सन्त गुरुनानक के लंगर से भोजन प्राप्त करते। माता सुलक्खा के घर के सेवकों को आज्ञा थी कि किसी भूखे दरिद्र जन को उसकी आवश्यकता पूर्ण किये बिना नहीं जाने दिया जाये। यदि कार्यालय के लेखे जोखे का कुछ काम शेष रह जाता तो वह साथी-बस्तियों को घर ले आते और बड़ी रात गए तक काम करते रहते। वह अपने विभाग के प्रत्येक लेख का हिसाब तैयार रखते कि यदि उन्हें सहसा काम छोड़ना पड़े तो वे तुरन्त हिसाब-किताब से मुक्त हो जाये।[4]

अन्य लोगों की भांति नानक पास की नदी में प्रातःकाल स्नान के लिये जाते। मरदाना सदैव उनके साथ रहता। स्नान करके वे नदी के तट पर खुले मैदान में सहज समाधि में लीन रहते। घर आकर कीर्तन करते और खाना खाकर दरबार में

1:- भाई मनी सिंह : सिक्खां दी भगत माल, पृ० 41
2:- जन्म साखी : भिसरवान, पृ० 80
3:- जन्म साखी : भिसरवान, पृ० 75
4:- वही वही पृ० 80

जाते।[1] एक दिन बेईं नदी में नहाने के बाद वे भिट की एक गुफा में जाकर समाधिस्थ हो गए। तीन दिनों तक उन का पता न चला और लोगों ने समझा कि वे पानी की रेत लहरों में बह गये।

तीसरे दिन गुरुनानक देव सुलतानपुर में प्रकट हुए। बेईं की ओर से उन्हें आते देख लोग डरने लगे। जहाँ से बेईं में प्रवेश किया था वे वहीं के पानी में से निकले थे। उनके मुख पर एक अलौकिक मस्ती और चमक थी। सिर पर जटा, खुली दाढ़ी, नंगा शरीर, कमर में कोपीन सुलतान पुर की ओर आ रहे थे। यह यह देखकर सब लोग सहम गये कि गुरुनानक तो मर गये थे, तीसरे दिन पुनः कैसे जीवित हो गये। यह समाचार चारों ओर आग की तरह फैल गया। कई लोग कहने लगे, यह नानक नहीं है, जिसका भूत शरीर में घुसा है। जयराम, बीबी नानकी, पत्नी सुलक्षणी, बीरचन्द और लालीदास प्रसन्नता के आँसू बहाते हुए भागकर उन्हें मिले। गुरुजी सीधे अपने घेरे गए। घर की आवश्यक वस्तु छोड़ों के अतिरिक्त अपनी सब सम्पत्ति गरीबों, दीन-दुखियों में लुटा दी।[2] ब्राह्मण कहने लगे दान दो, मुसलमान पीर कहते हमें दान दो। गुरुनानक ने कहा, न कोई हिन्दू है न मुसलमान है," उनकी दृष्टि में सभी मानव हैं। योगियों, संन्यासियों पीरों, फकीरों ने उनकी चर्या देखकर अनुमान लगाया कि बाबा को कोई नया अनुभव और सिद्धि प्राप्त हुई है। लोग जो भी प्रश्न पूछते उनमें उत्तर न तो हिन्दू धर्मानुसार थे, न ही इस्लाम के अनुकूल। परन्तु उनके वार्तालाप में सत्यनिष्ठा था।[3]

ज्ञान प्राप्ति के तृतीय बाद गुरुनानक ने भंडारी की अपनी नौकरी छोड़ दी तथा अपने पवित्र उद्देश्य को प्रसार के लिये यात्रा आरम्भ करदी। कुछ समय तक उन्होंने सुलतानपुर लोदी में धर्म प्रचार किया किन्तु बाद में अपने निवास स्थान

1:- पुरातन जन्म साखी, पृ० 16
2:- वही पृ० 18
3:- मेहमा प्रकाश वार्तक, पृ० 20

सोहदुरा जिला में की गई। उनकी प्रचार यात्राओं में उनके दो साथी थे — उनके दो मुख्य अनुयायी, भाई मर्दाना तथा भाई लालो। अपने इन दोनों शिष्यों को साथ लेकर गुरु नानक जैसा की परिपाटी पंजाब की ओर चल पड़े। उनके सिर पर दस्तार थी। उन्होंने लूकी दाढ़ियों का योगा धारण कर रखा था। कमर में लंगोटी और दो चद्दरें उनके पास थीं एक चद्दर कमर में बांध रखी थी और दूसरी ओढ़ने के लिये थी।[1] स्वयं गुरुनानक देव बहुत अल्पाहार करते, कम सोने और अत्यधिक संयम व सत्य का जीवन व्यतीत करते। जो कन्दमूल या प्राकृतिक फलों का आहार उन्हें मिल जाता वही खाकर सन्तुष्ट हो जाते।[2] पंजाब की इस प्रथम यात्रा में ही उन्होंने अपने मन तन को इस प्रकार के जीवन का अभ्यस्त बना लिया था। जिस बिछौने के पृथ्वी उनके लिये का विश्राम स्थल बन गयी।[3]

सुलतानपुर से चली कर वह गुरुनानक एक दिन एक ऊंचे गांव के अन्दाज - कोनों पर जाकर ठहरे। यह स्थान राजमार्ग पर स्थित था। इस ऊंचे स्थान को बाद में गुरु अमरदास जी ने बसाया और इस प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान का नाम गोइंदवाल प्रसिद्ध हुआ। यहां से गुरुनानक कुछ मील पर स्थित एक ग्राम की ओर गए। यहां पर एक रमणीय स्थान पर गुरुनानक ने एकान्त आनन्द उठाया और कीर्तन किया। तत्पश्चात् इसी पवित्र स्थान पर गुरुनानक गुरु रामदास जी ने "राम दास सरोवर" अथवा "अमृतसर" का निर्माण किया। इसी रामदास सरोवर में हरि मन्दिर के निर्माण का निश्चय किया गया। यह नगर इतिहास में "चक गुरु रामदास" के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आजकल यह श्री अमृतसर के नाम से प्रसिद्ध है।[4]

1:- जन्मसाखी बाला, पृ0 107
2:- जन्म साखी भिखारीदास, पृ0 106 पुरातन जन्मसाखी, पृ0 33
3:- जन्मसाखी भाई वीर सिंह, पृ0 134
4:- तवारीख गुरु खालसा, पृ0 66-67

यहाँ से लाहौर होते हुए गुरु नानक गुजरांवाला की ओर चल पड़े।[1] मार्ग में एमनाबाद के समीप एक बना जौल था। उस जौल के मध्य में एक समतल मैदान था। जिसमें एक जलाशय था। उस जलाशय के तट पर और खिजाकर गुरु नानक ने एक आसन जमाया और कई दिन तक वहाँ साधना करते रहे। जिस दिन से गुरु नानक ने मोदी खाना का कार्य छोड़ा था, उसी दिन से वे तत्त्वज्ञानन्दमयी मस्ती में विचरण किया करते थे। उनकी रहस्यमयी एकान्त अभिरुचि और सहज समाधि देखकर लोग उन्हें सच्चा तपा नानक कहने लगे थे।[2] इस अवस्था में यदि खाने को कुछ न मिलता तो समीप ही रेत में उगे आक के पत्ता को खाकर ही निर्वाह कर लिया करते। गुरु नानक अपनी विशाल आत्मा का लोक और परलोक के मध्य एक सेतु बाँध रहे थे। अज्ञानता और ज्ञानि से ग्रस्त सृष्टि की पुकार उनके संवेदनशील हृदय को उद्वेलित कर रही थी। उनके सम्मुख एक ओर ब्रह्मानन्द का असीम अनुभव था तथा दूसरी ओर मानव सृष्टि में घोर अन्धकार और अज्ञानता का प्रसार था। इस स्थिति में उन्होंने अपने स्वःपूत जीवन का लक्ष्य ब्रह्मस्वरूप के सत्य ज्ञान का प्रचार करना ही अपना परम लक्ष्य निर्धारित कर लिया।[3]

1:- जन्म साखी: सिद्धान्त, पृ० 111

2:- पुरातन जन्म साखी: [डा०लि०] [22]

3:- पहिले बाबे पाया खजान वह पिछों दे चित्त वाल समार्इ ।।
रेत एक अवाहकरि, रोड़ा की गुर कती खिड़ार्इ ।
भारी करी तपस्या, छड़े भाग हरि सिंघ बणि आर्इ ।
बाबा पौंडा सच्च खंड, नट सिधि माग गरीबी पार्इ ।
बाबा देखे ध्यान धरि जाती सभ पृथ्वी चित्त आर्इ ।
बाबु गुर गुबार वे, वे वे करती सुती लुकार्इ ।।
भार्इ गुरदास, वार 1/24

ये प्रारम्भ से ही हिन्दुओं तथा मुसलमानों के कर्म काण्डों का खण्डन किया करते थे। हिन्दू धर्म की कार्मिक व्यवस्था के तो ये कट्टर विरोधी थे। स्थान-स्थान पर भ्रमण करते हुए ये अपने विचारों का प्रचार करते। अपनी यात्राओं के अनन्तर ये प्रायः निर्धन लोगों की झोपड़ियों में ही ठहरने का प्रयास किया करते थे। इस प्रकार पंजाब का भ्रमण करते हुए ये सैयदपुर में एक निर्धन निम्न जाति वाली लालो के यहाँ ठहरे जहाँ उन्हें उस क्षेत्र के साहूकार मलिक भागो के विरोध का सामना करना पड़ा। परन्तु गुरु नानक ने मलिक लालो की सूखी रोटियों से दूध की धारा प्रवाहित करते हुए तथा मलिक भागो के पकवानों से रक्त की धारा निकाले दिखाकर, ईमानदारी तथा श्रम से अर्जित धन का महत्व प्रतिपादित किया।

इस यात्रा के अनन्तर गुरु नानक को कुछ समय के लिये ऐमनाबाद के सूबेदार इब्राहिम खान की कैद में भी रहना पड़ा। उन्हें नानक के प्रति इब्राहिम खान के अत्याचारों की वेदना से मक्का छोड़कर गुरु नानक ने इन्हीं दिनों रचित अपनी एक वाणी

।:- जाबा जी गुरहु समझाये ।।
इह रक्त भोजन हम कैसे खावे ।।
भया प्रापतन्त यह वचन पुकारा ।।
तुमको लालो पर अधिकारा ।।
तब सतिगुर लालो का साग मंगावड़ा ।।
जो रास को राखा का कुछ खाया ।।
ले निचोड़ साग कर मलि दखाई ।।
इसमें दूध ता मो अधिकाई ।।
भोजन जब कर मो ले भया ।।
रक्त की धारा सो सो चला ।।
देख गुरहु किरपा होय गया ।।
देख मलिक गुरु चरनन पाया ।।
महिमा प्रकास ।।

में स्पष्ट भविष्य वाणी की और बताया कि ऐसे अत्याचार का सामना करने के लिए किसी अन्य दूर व्यक्ति का तुम्हें आह्वान करना पड़ेगा।[1]

गुरु नानक की यात्राएं :-

भारत में प्रचलित धर्मों के मुख्य केन्द्रों में जाकर उनके अध्ययन के लिये गुरु नानक ने कई स्थानों की यात्राएं की। इन यात्राओं के अन्तर्गत वे मानव-जाति की शान्ति और प्रेम का अपना संदेश भी प्रचारित करते रहे। गुरु नानक के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा था जो विशिष्ट, नाटकीय तथा आकर्षक था। वे मुस्लिम दरवेशों की भांति लम्बा ढीला चोगा पहनते, किन्तु उसका रंग हिन्दू संन्यासियों के भगवे जैसा होता। कमर में कपड़े का लंबा कमरबन्द पहनते थे, और सिर पर मुसलमानी कुल्ला अर्थात् कोनदार टोपी लगाकर, उसके चारों ओर छोटी पगड़ी बांध लेते। पांव में ढीले जूते होते जो नाप में एक होते हुए भी अलग-अलग रंग और जोड़ के होते। कभी-कभी हड्डियों की माला भी गले में डाले होते।[2] यह विचित्र वेश उनके पास जुटे - नौजवान तथा प्रकार के लोगों को खींच लाता। गुरु नानक किसी खुली जगह में खड़े हो जाते और भावपूर्ण भजन गाने लगते। ऐसे अवसरों पर उनके दोनों साथी बाला और मरदाना उनके साथ गाते तथा मरदाना साथ ही रबाब भी बजाता।

गुरु नानक ने चार विस्तृत यात्राएं की। इनमें प्रथम से 1497 से 1509 तक पूर्वी भारत की यात्रा में रहे, और आसाम तक गये। इस काल में मुख्यतया उन्होंने हिन्दू तीर्थ स्थानों का भ्रमण किया। इन तीर्थ स्थानों पर गुरु नानक ने अपने भाषणों में प्रचार का एक अद्भुत तरीका अपनाया। उदाहरणार्थ, हरिद्वार में गंगा स्नान करने वाले लोगों को उन्होंने उगते हुए सूर्य को जल अर्पित करते देखा। नानक कारण तो जानते

1:- ऐसे मैं आसे खसम की वाणी लेखड़ा वही निजानु ते सालाही ।।
खसम की वाणी नानकु आखै सचु फुनाखी खसम का लेखा ।। आदि ग्रन्थ, पृ० 462 722

2:- तेजा सिंह और गंडा सिंह, ए हिस्ट्री आफ दि सिक्ख, 1, पृ० 11

थे, फिर भी पूछ बैठे कि वे क्या कर रहे हैं। उत्तर मिला कि स्वर्ग में स्थित फूलों को वे अंजलि दे रहे हैं। नानक तुरन्त पश्चिमी दिशा की ओर मुँह कर जल और पानी उछालने लगे। इस बार लोगों ने पूछा वे क्या कर रहे हैं? गुरु नानक ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि वे पंजाब में अपने खेतों को सींच रहे हैं। उनसे पूछा गया, यह पानी यहाँ से तीन सौ मील दूर उन खेतों में कैसे पहुँचेगा। यदि यह पानी मेरे खेतों में नहीं पहुँच सकता जो इतने निकट हैं तो फिर तुम्हारा पानी यहाँ से इतनी दूर स्वर्ग में किस प्रकार जा सकता है? इस उत्तर ने हिन्दू तीर्थ यात्रियों को अत्यधिक प्रभावित किया। इसी प्रकार वे अनेक तीर्थों पर झूठे हुए हिन्दुओं के कट्टरपन्थ, मूढ़ कर्मकाण्डों का खण्डन करते हुए नये सहज मार्ग का उपदेश देते रहे।

गुरु नानक ने दूसरी यात्रा 1510 से 1515 तक दक्षिण की ओर की। इस यात्रा में वे श्री लंका तक गये। इस काल में उनका उद्देश्य प्रसिद्ध सांध तथा जैन तीर्थ स्थलों को देखना था। इस यात्रा में उनके साथ उनके दो जाट अनुयायी, मर्दाना और लेहणा थे। इस अवसर पर उन्होंने दूसरे प्रकार के वस्त्र धारण किये। सिर पर एक लम्बी रस्सी को पगड़ी के रूप में बांधा, एक हाथ में मोटा डंडा, कंधे में भिक्षापात्र। जहाँ रुकते, कहानी सुनाते। लोगों पर उसका भी था। विवादग्रस्त प्रश्नों का वे तर्कसंगत ढंग से समाधान करते। हिन्दू- हिन्दू दाह-क्रिया तथा मुस्लिम दफन-क्रिया के भेद के सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि मुसलमान की मिट्टी कुम्हार के हाथ लगती है और वह उससे बर्तन और ईंटें गढ़ता है और वही मिट्टी अन्त में आग में झुलस जाती है, यह तो प्रभु स्वयं ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि शव का जलाया जाना उचित है या दफनाया जाना।[2]

1515 से 1517 की अवधि उनकी तीसरी यात्रा की है। इस समय गुरु नानक हिमालय की ओर, योगियों और सिद्धों के केन्द्रों में उत्तर दिशा की ओर गये। इस बार उनके साथ मरदाना तथा बलवीर नामक दो व्यक्ति थे जिनमें एक योगी

1:- ग्रन्थ, आदि ग्रंथ - XXXIV

2:- मिटी मुसलमान की पैदे कुम्हिआर।
घड़ि भांडे इट्टा कीआ जादी करे पुकार।
जलि जलि रोवै बपुड़ी जलि जलि होइ अंगिआर
नानक जिनि करते कारणु कीआ जो जाणै करतार, आदि ग्रन्थ आसा दी वार, पृ0340

तथा दूसरा कुम्हार का। ठंड से बचने के लिये गुरु नानक ने उन्हें के वस्त्र पहने हुए थे। उन्होंने गोरखनाथ तथा मछेन्द्रनाथ के अनेक अनुयायियों से वार्तालाप किया। गुरु नानक ने बताया — " ज्ञान[1] का अन्धकार चारों ओर फैला हुआ है, सत्य का चन्द्रमा अदृश्य हो गया है। मैं उसे ढूंढने निकला हूं। पृथ्वी पाप के बोझ से कराह रही है। योगीगण तो पर्वतों में खो गये हैं तथा वे अपनी देह को रक्त से सनने के अतिरिक्त, कुछ जानते ही नहीं हैं, फिर संसार की रक्षा कौन करेगा? न गुरु बिना संसार अज्ञान के सागर में डूब रहा है।" ज्ञात होता है कि गुरु नानक इस यात्रा के अनन्तर तिब्बत[2] में मानसरोवर तथा उससे भी आगे तक गए थे।

1517 से 1521 तक का समय पश्चिमी खिदा की यात्रा का है जब गुरु नानक ने मुस्लिम देशों का भ्रमण किया। इस बार मरदाना उनके साथ थे। नानक ने हाजियों जैसे कपड़े पहने। उन्होंने नीले वस्त्र धारण किये तथा कान में एक मुद्रा तथा एक दरी ली, जिसपर बैठकर वे नाम स्मरण करते। हाथ में मोटा डंडा था एक रात्रि मक्का में सोते समय गुरु नानक ने अपने पैर काबा की ओर किये हुए थे, किसी ने झोंझला उन्हें जगाया और अल्लाह के घर के प्रति अनादर दिखाने के लिये कुपित किये। बड़े आदर सहित गुरु नानक ने मोलवियों से कहा "कृपया मेरे पैर उस दिशा में मुड़ा दीजिये जहां सर्वशक्तिमान परमात्मा विद्यमान नहीं है।"[3]

अब से नानक पैदल चले, और कुछ दिन बगदाद में ठहरे जो इस्लाम के खलीफा का प्रधान - पक्ष था। वे शहर के बाहर ठहरे। भाई गुरदास ने अपनी वारों में नानक की बगदाद यात्रा का उल्लेख किया है।[4] तुर्की-अरबी मिश्रित भाषा में एक शिलालेख में गुरु नानक की बगदाद यात्रा का वृत्तांत अंकित है। बेले पटेरान से तेह मील दूर एक अड्डाह के पास एक पुराकार दीवार में यह पत्थर लगा हुआ है। प्रथम

1:- भाई गुरदास, वार 1/29

2:- स्वर्ण सिंह, 'डिवाइन मास्टर, 139-141, "नानक प्रकाश 111, 691-92

3:- डा0 त्रिलोचन सिंह : "गुरु नानक" पृ0 364

4:- भाई गुरदास वारां पउड़ी 35-36, भाई काहन सिंह- "गुरु शब्द रत्नाकर महानकोश" भाषा विभाग पंजाब पटियाला 1960, दूसरा संस्करण, पृ0 622

विश्व युद्ध के समय कुछ भारतीय सैनिकों ने ईराक में युद्ध किया था और से आबाद में रहा करते थे। यह शिलालेख उनकी दृष्टि में आया और एक सिख अखबार में जनवरी 1918 के वार्षिक गजेट साहांक में यह प्रकाशित किया। शिला लेख स्पष्ट नहीं पढ़ा जाता, और विभिन्न लेखकों ने उसका भिन्न-भिन्न ढंग से अनुवाद किया है। इन्दु - भूषण सैनी ने मौलाना आगा मोहम्मद काशिम रशीदाजी द्वारा किया हुआ अनुवाद अपने ग्रंथ में अंकित किया है — "गुरु मुराद मर गये। बाबा नानक फकीर ने इस भवन को बनाने में मदद दी और इस प्रकार एक गुणवान शिष्य की भांति सहकार्य किया।[1] डॉ0 तेजासिंह तथा डॉ0 गंडा सिंह ने अपना अनुवाद प्रस्तुत करते हुए बताया है—— "पवित्र गुरु बाबा नानक फकीर औलिया की स्मृति में यह भवन सात सन्तों की सहायता से बनाया गया। तिथि श्लोक में लिखा गया है —— " भाग्यशाली शिष्य ने ईश्वरीय अनुकम्पा का स्त्रोत तैयार कर दिया " सन् 921 हिजरी।"[2]

मामा के भाई कालन सिंह ने उसका अनुवाद प्रस्तुत करते हुए बताया है — "देखो, ईश्वर ने किस प्रकार यह इच्छा पूर्ण की कि सात प्रसिद्ध सन्तों की सहायता से बाबा नानक द्वारा यह भवन नये सिरे से बना दिया गया। उसके तिथि सम्बन्ध पर लिखा हुआ है कि गुणवान शिष्य ने उसको एक उपयोगी स्त्रोत बना दिया।" भाई कालन सिंह की व्याख्या टिप्पणी में कहा गया है कि गुरु नानक के आने से पहले आबाद के कुओं का पानी खारा था। गुरु नानक ने एक कुआँ खोदा जिसके मीठे पानी का स्त्रोत फूट पड़ा।[3]

भाई वीर सिंह ने अपने अनुवाद में बताया है कि जब मुराद ने महात्मा सन्त बाबा नानक के भवन के भग्नावशेष देखे, तो उसने अपने हाथों एक नये भवन का निर्माण किया ताकि यह ऐतिहासिक रूप से परम्परा में स्थापित रहे और गुणवान

1:- एनसाइक्लोपीडिया ऑफ खालसा, पृ0 3
2:- ए शार्ट हिस्टरी ऑफ दी सिक्ख्स 12
3:- "गुरु शब्द रत्नाकर महान कोश," पृ0 622

शिष्य की सेवा-भावना स्थिर रहे। 917 या 921 हिजरी पाद टिप्पणी में कहा गया है कि उस की भाषा तुर्की तथा अरबी का मिश्रण है।[1] भाई सन्तोख सिंह तथा अन्य अनेक लेखकों ने अपने भिन्न भिन्न अनुवाद किये हैं।[2]

इस शिक्षा लेख के का समुचित अर्थ जो भी हो, परन्तु कुछ तथ्यों को सर्व सम्मति से स्वीकार किया जा सकता है। इसमें स्पष्टतया बाबा नानक फकीर तथा 921 हिजरी तिथि का उल्लेख है, जिसे प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। 921 हिजरी का आरम्भ फिरवरी 1520 में तथा अन्त फरवरी 1521 में हुआ। फरवरी 1521 में नानक सैयदपुर, पंजाब में थे और उसी समय पंजाब पर बाबर का आक्रमण हुआ था। इस आक्रमण की तिथि गुरु नानक ने स्वयं 1578 विक्रमी संवत बतायी है, और उन्होंने साखी के रूप में सैयदपुर में बाबर के आक्रमण तथा नर संहार का मार्मिक वर्णन किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि 1520 के अन्त में गुरु नानक बगदाद में थे, और उसके शीघ्र बाद वहाँ से चल पड़े थे।

गुरु नानक की इन महान यात्राओं की यदि दूरी को नापा जाये तो अनुमानतः उन्होंने 20,000 मील लम्बी यात्रा की थी और वह भी लगभग पैदल क्योंकि कहीं भी उन्होंने यातायात के किसी प्रकार के साधन के प्रयोग का उल्लेख नहीं किया है। वे भयानक एवं दुर्गम स्थलों पर भी गए और कई घटनाओं से मालूम होता है कि उन्हें अपने प्राणों को भी संकट में डालना पड़ा। उनके साथ मरदाना, लादू अलाल, लेहणा सिंह, छज्जू आदि अनियत साथी भी रहे थे। अनुमान है कि गुरु जी की सभी यात्रा एवं लगभग 18 वर्षों में सम्पन्न हुई। भाई काहन सिंह ने यह अवधि 1554 वि० से 1579 वि० तक स्वीकार की है।

गुरु नानक की प्रचार यात्राओं के समय उनका परिवार उनके ससुरोई के साथ पखोके में, जो रावी के पूर्वी किनारे पर था, रहा। इस स्थान के सामने, नदी

1:- श्री गुरु नानक प्रकाश, भाई, खालसा समाचार, अमृतसर, 1966 संस्करण, पृ० 175

2:- श्री गुरु नानक प्रकाश, खालसा समाचार, अमृतसर, 1962 संस्करण, पृ० 1052

3:- तेजा सिंह व गेंडा सिंह, ऐ स्टडी हिस्टरी आफ दी सिक्ख, पृ० 102

4:- मैकालिफ - दि सिक्ख रिलीजन, खण्ड-1, पृ० 181

के पार, गुरु नानक ने कुछ समीप से रावी को जहाँ उन्होंने करतारपुर नामक उपनगर बसाया। गुरु नानक ने अपनी उदासियों के पश्चात् प्रायशः सभी यहीं उपनगर में जीवन व्यतीत किया। पुरातन जन्म साखी के अनुसार प्रथम महान यात्रा से लौटने पर इस नगर की स्थापना हुई।[1] मेहरबान जन्म साखी इस घटना को मुख्य उदासियों के पश्चात् मानती है।[2] भनी सिंह जन्म साखी प्रकारान्तर से मानती है कि प्रथम सुदीर्घ यात्रा के उपरान्त जब ये सुमेरु पर्वत पर सिद्धों से गोष्ठी सम्पन्न करने के पश्चात् वापिस आते हैं, तब ये इस उपनगर की स्थापना की अनुमति देते हैं।[3] भाई गुरदास की प्रथम वार में भी कुछ संकेत मिलता है कि ये सत्यनाम का डंका बजाने के पश्चात् ही करतार[पुर] में आकर निवास करते हैं -

बाबा आइआ करतारपुरि भेख उदासी सगल उतारा।
पहरि सचीआरी कपड़े मंजी बैठि कीआ अकारा।[4]

इस नगर में गुरु नानक लगभग 16-17 वर्ष रहे थे। इस अवधि में उन्होंने अपने परिवार तथा अन्य सम्बन्धियों को यहीं बुला लिया। ये स्वयं खेती का काम करते थे और साथ-साथ अपने अनुयायियों को आदेश भी देते थे। दूर-दूर से श्रद्धालु लोग उनके पास आते और आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा की जाती। यहीं से ये मुलतान, बटाला तथा पंजाब स्थित अन्य छोटे - छोटे नगरों और गाँवों में धर्म-प्रचार और जन-कल्याण के लिये जाते थे। भाई लहणा भी इसी स्थान पर उनके सम्पर्क में आकर कालांतर में उनका रूप ही हो गया और अन्ततः उनका आध्यात्मिक उत्तराधिकारी बना। वस्तुतः यह उपनगर एक प्रकार का सिख आश्रम अथवा कर्म क्षेत्र था, जहाँ गृहस्थ जीवन में ही आत्मिक आनन्द प्राप्त करने की एक नवीन विधि का रूप निर्मित[हो] रहा था।

1:- पुरातन जन्म साखी, पृ० 73-74 (शाहिबाबादी प्रति)
2:- मिहरबान जन्म साखी भाग 1 पृ० 516
3:- पृ० 398-99
4:- वार 1, भाई गुरदास 1/38

गुरु नानक के देहांत के संवत् एवं तिथि सम्बन्धी मतैक्य नहीं है। पुरातन जन्म साखी में लिखा है — संवत् 1595 मिति असू सुदी 10 बाबा नानकु जी समाणे।[1] प्राचीन स्त्रोतों में से मेहरबान जन्म साखी क्योंकि पूर्ण रूप में प्राप्य नहीं है, अतः उसमें देहान्त का उल्लेख नहीं है। बाला जन्म साखी की प्राचीन प्रतियों, विशेषतया 1715 वि० वाली प्रति में देहान्त का विवरण नहीं दिया गया। भाई सिंह जन्म साखी में उल्लेख मिलता है - संवत् 1596 असू सुदी दसमी गुरु नानक जी जोती जोत समाणे।[2] महिमा प्रकाश के रचयिता ने भी संवत् 1596 असू सुदी 10 - ही गुरु नानक की परलोक गमन की तिथि स्वीकार की है।[3]

डा० त्यार सिंह ने, पुरातन जन्म साखी की देहान्त तिथि को सही माना है। उन्होंने अपनी स्थापना की पुष्टि में इस जन्म साखी की कतिपय प्राचीन प्रतियों में अंकित तिथियों का उल्लेख भी किया है।[4] किन्तु ये सभी प्रतियाँ ऐतिहासिक महत्व रखती हैं और न ही बहुत प्राचीन हैं। अतः डा० त्यार सिंह की मान्यताएं स्वीकार नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त पुरातन जन्म साखी में उल्लिखित तिथियाँ बदली जाती रही हैं। इसलिये यह बताना कठिन है कि इसमें कौन - सी सही है और कौन - सी गलत।

सभी प्राप्त स्त्रोतों में से अधिक विश्वस्त स्त्रोत आदि ग्रंथ की मूल प्रति है, क्योंकि एक तो इसे गुरु अर्जुन की देख रेख में लिखा गया था और इसमें जो सूचना जुटाई गई है वह निश्चय ही गुरुदेव ने भली - भांति जांच कर संकलित की होगी। दूसरी, ये अत्यधिक प्राचीन लिखित साक्ष्य है और इसका किसी भी प्रति में विरोध नहीं हुआ। अतः आदि ग्रन्थीय संवत् 1596 आश्विन सुदी 10 को सही मान लेना उपयुक्त होगा। डा० मेकलाउ ने भी अपने ढंग से इसी संवत् को सही माना है।[5]

1:- पुरातन जन्म साखी, पृ० 115
2:- वही पृ० 585
3:- दे पंजाब पास्ट एण्ड प्रेजेंट, वोल्य० III, 1969 पृ० 46
4:- आदि साखियां, भूमिका, पृ० 11
5:- गुरु नानक एण्ड दे सिख रिलीजन, पृ० 101

पुरातन जन्म साखी में रावी नदी के तट पर गुरु नानक के परलोकगमन का उल्लेख है।[1] प्रसंगानुसार यह स्थान करतारपुर अथवा उसके समीप ही कहीं है। मेहरबान और बाला जन्म साखियों में मृत्यु सम्बन्धी विवरण का अभाव है। किन्तु भनी सिंह जन्म साखी और भाई गुरदास की प्रथम वार के प्रथम - क्रम से ऐसा संकेत मिलता है कि करतारपुर में ही उनकी मृत्यु हुई थी। परवर्ती स्त्रोत तथा परम्पराएँ भी यही सिद्ध करती है कि करतार में गुरु नानक का परलोक गमन हुआ। यह स्थान गुरु नानक के देहांत के पश्चात् रावी नदी में विलीन हो गया था, किन्तु उसी स्थान पर बाद में वर्तमान करतारपुर नगर बसाया गया।[2] यह स्थान अब पाकिस्तान में है, किन्तु वहाँ गुरुधाम यथावत् विद्यमान है।

व्यक्तित्व :-

भारतीय मध्य युगीन धर्म - साधना में गुरु नानक अपना गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। गुरु नानक का महिमामय गौरव उनके प्रखर व्यक्तित्व, उनकी अन्तर्यामी दृष्टि, युग के प्रति जागरूकता, लोक संग्रह की भावना, मिथ्याचारों का निराकरण प्रत्यक्षानुभूति तथा "वह वाणी" की अपरोक्षानुभूति के महनीय तथ्यों पर आधित है।

मध्ययुग भारतीय प्रतिभा के जागरण का युग है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में " यह काल भारतीय मनीषी की जागरूकता, कर्मण्यता और प्रतिभागत उत्कर्ष का काल है।"[3] किन्तु इसी और मध्ययुग अनेकानेक, अन्ध - व्यवस्थाओं एवं विभीषिकाओं से भी ग्रस्त दिखायी पड़ता है। वस्तुतः यह युग दो विरोधी अन्तर्धाराओं का मिलन - बिन्दु है। अतः तत्कालीन भारत की आत्मा के

1:- गुरु नानक एण्ड हिज टिलीजन, पृ० 110, 111, 115

2:- महानकोश, पृ० 226

3:- मध्यकालीन धर्म साधना: पृ० 9

दो स्वरूप हमारे सम्मुख दृष्टिगोचर होते हैं। एक ओर भारत की आत्मा गुलामी से अभिभूत है और दूसरी ओर वह आत्मलीन अभिध्यान का शंखनाद फूंक रही है।

इसी काल में भारत की हिन्दू जनता अपनी व्यक्तिवादिता की परिधि से मुक्त होती दिखायी देती है और जाति - पाँति के बन्धन ढीले पड़ने लगते हैं। हिन्दू जनता की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति यद्यपि शोचनीय ही बनी रही तथापि उसकी मानसिक स्थिति प्रस्तर तुल्य सुदृढ़ होती गयी। पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन के परिणाम स्वरूप भक्ति साहित्य का जितना संवर्धन और उन्नयन हुआ उतना संभवतः भारत में कभी नहीं हो सका।

गुरु नानक इसी भक्ति आन्दोलन के सत्परिणाम थे जिन्होंने अपने सशक्त व्यक्तित्व और समर्थ काव्यवाणी से सम्पूर्ण युग को प्रबुद्ध करने का अद्भुत कार्य सम्पन्न किया।

गुरु नानक वस्तुतः दृष्टा भी थे और स्रष्टा भी थे। उन्होंने अपनी मनीषिणी दृष्टि से जीवन, जगत और अध्यात्म के जिन रहस्यों का उद्घाटन किया, उनको उन्होंने अपनी रचनाओं में "मैं" यथेष्ट अभिव्यंजित भी किया है। इसलिए वे अनुसंधाता भी थे और विधाता भी। यही उनके व्यक्तित्व का मूल रहस्य है।

गुरु नानक के ऐतिहासिक जीवन पर दृष्टि पात करने से विदित होता है कि वे अपनी बाल्यावस्था में ही प्रायः ध्यानस्थ मुद्रा में आसीन रहते थे। आत्म विचारणा में निमग्न होकर आत्म - साधना करते हुए हम उन्हें उनके प्रारंभिक जीवन में देखते हैं। इस ढंग से जहाँ उनका अन्तर्व्यक्तित्व किसी नव उन्मेष से उद्भासित हुआ करता था वहाँ उनका बाह्य व्यक्तित्व भी सर्वथा भास्वान् रहता था। इसका विशेष कारण यह था कि गुरु नानक ने भारत और भारतेतर देशों की यात्राएँ की, प्रख्यात स्थलियों और तीर्थ स्थानों का भ्रमण किया, मतवादियों, नाथों, सिद्धों, ब्राह्मणों तथा मुल्लाओं से गोष्ठियाँ कीं।[1] पंजाब तथा अन्य जनपदों के घरों में विचरण कर जन - समष्टि का सामीप्य लाभ किया। परिणामतः गुरु नानक व्यापक रूप से लोक मानस को पहचानने में कृतकार्य हुए।

इसी लोक तत्व का स्फुरण गुरु नानक की वाणी में हुआ है। अपनी वाणी में उन्होंने सभी जागतिक विषयों, सामाजिक तथ्यों और युगीन आवश्यकताओं की आलोचना की है। उनकी रचना का यही सामाजिक परिवेश है। यही उनकी रहस्य वाणी को ऐतिहासिकता से सम्पृक्त रखता है। ऐतिहासिकता या सामयिकता गुरु नानक के व्यक्तित्व का उज्ज्वल पक्ष है। उसके अन्तर्गत उन्होंने मानव की अखिलता, लोक संग्रह की भावना, समाज का अभ्युत्थान तथा विश्वतत्व का प्रतिपादित किया है।

गुरु नानक का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व अपनी अखिल विभूति के साथ वहाँ प्रदीप्त हुआ है जहाँ उन्होंने सामाजिक विषमता, रूढ़िवादिता और जाति - पाँति का तीखे स्वरों से खण्डन किया है और मानव मात्र को अपने गले से लगाने का आमन्त्रण दिया है। उनकी धारणा थी कि समाज की इस दुर्व्यवस्था का कारण सर्वव्याप्त भेदभाव है। यही हमारे सामाजिक अवनति का हेतु है। परन्तु प्रभु की दृष्टि में प्रत्येक प्राणी समान है। प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का अंश है अतः हमारे आदर का सर्वथा अधिकारी है। गुरु नानक ने इसे स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है :-

जाणहु जोति न पूछहु जाति,
आगै जाति न है।[1]

अर्थात मानव की आत्मा में विद्यमान परमात्मा की ज्योति को पहचानो और जाति-पाँति को मत पूछो। क्योंकि ईश्वर के समीप किसी भी प्रकार की जाति का विधान नहीं है।

इसी प्रकार उन्होंने अपने समय में बहुप्रचलित बाह्याडम्बरों,[2] पाखंडों और निःसार विधि विधानों की तीव्र भर्त्सना की। यह उनके निर्भीक व्यक्तित्व

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 960

2:- अठी तीरथ नावण पड़हि एतु भरमिऐ तनु दुखु पाइआ।
अंटे सेती नावणु पड़हि सुधे तिन्न न होइ।
मनहठि कार कमावदे दुखु न सुखे एहु पवनु अलोवा।
सही पृ० 636

का प्रत्यक्ष प्रमाण है और उनकी जनहित भावना का स्पष्ट द्योतक है। ऐसा लगता है कि गुरु नानक के समक्ष उस - समाज सर्वदा उपस्थित रहता है। उसी को अभिमुख रखते हुए वे अपनी विशाल शिक्षामयि शिक्षायिनी वाणी का साक्षात्कार करते हैं, जीवन के अद्भुत दृश्यों का सम्पादन करते हैं और यहाँ तक कि अपने परम उपास्य की यशोगाथा का गायन भी समाज की भूमिका पर खड़े होकर करते हैं।

गुरु नानक का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व एक अन्य दृष्टि से भी अवलोकनीय है। समाज की प्राचीन परम्पराओं में नारी जाति साधारणतः उपेक्षित ही बनी रही थी। परन्तु गुरु नानक ने उपेक्षित नारी जाति का पक्ष लिया और अपने क्रान्तिकारी स्वरों में उसकी गरिमा का प्रतिपादन किया। गुरु नानक के ये प्रखर भाव उनकी वाणी में वहाँ मिलते हैं जहाँ उन्होंने नारी के लिये "मंदी" शब्द का व्यवहार कर अपनी तार्किक शैली से उसकी सराहना की है। उन्होंने बताया है कि स्त्री से मनुष्य उत्पन्न होते हैं, उसके सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जीवन स पथ पर उसी के साथ अग्रसर होते हैं। जो स्त्री महापुरुषों को जन्म देती है, उसका तिरस्कार करना किसी प्रकार न्यायपूर्ण हो सकता है?[1]

गुरु नानक के व्यक्तित्व में आलोचनापूर्ण स्वर भी विद्यमान हैं। वे दलितों के पक्षधर थे और तत्कालीन क्रूर राजाओं तथा अत्याचारियों की कड़ी आलोचना के सहित उनकी वाणी में स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। जिस समय मुगल निरपराध व्यक्तियों को मौत के घाट उतार रहे थे, स्त्रियों का अपमान किया जा रहा था, उस समय गुरु नानक का हृदय करुणा से द्रवित हो उठा। उन्होंने प्रभु "करतार" से सहसा यह प्रश्न किया :-

ऐती मार पई कुरलाणे
तै की दरदु न आइआ ।।[2]

1:- मंदा आखिऐ जितु जंमहि राजान । आदि ग्रन्थ, पृ० 139

2:- वही , पृ० 203

समन्वयवाद

गुरु नानक के व्यक्तित्व का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष उनका समन्वयवाद है। गुरु नानक सही अर्थों में समन्वयवादी थे। उनका यह समन्वयवाद केवल उनके वस्तु नियोजन में ही नहीं मिलता बल्कि उनकी कला तथा भाषा शैली में भी परिलक्षित होता है।

वस्तु - समन्वयवाद के रूप में गुरु नानक ने विभिन्न धर्मों, वाह्य विधि विधानों और विभिन्न साधना प्रणालियों का वर्णन करते हुए एक ऐसे धर्म की स्थापना की जिसमें सभी धर्मों के कल्याणकारी तत्व समाविष्ट हैं। गुरु नानक का धर्म मानवता पर आधारित है क्योंकि वे तो कृत्य जगत के मूल में जाकर उसकी सार्थकता को देखना चाहते थे। वह ग्राह्य पदार्थों के पीछे छिपी आत्मा के ही अन्वेषक थे। इसलिये पदार्थ का पदार्थत्व ही उन्हें मान्य था। अतः गुरु नानक ने धर्म के उस स्वरूप को तार्किक और ग्राह्य उद्घोषित किया जो सर्वजन सुलभ हो और जो वर्ण, जाति, धर्म से परे मानव की आत्मा से सीधा सम्बन्ध रखता हो।

यही कारण था कि उन्होंने ब्राह्मणों, मुसलमानों, नाथों, सिद्धों, योगियों और सूफियों की आधार - विधियों से पूर्ण परिचय प्राप्त किया और तत्पश्चात आचार्य ब्राह्मण[1] आचार्यनाथ[2] तथा आचार्य मुसलमान[3] का स्वरूप स्वरूप निर्धारित किया।

उक्त प्रयास का मन्तव्य यह था कि ये ऐसे समन्वयवादी धर्म और समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का समादर हो और जिसमें मानव के आन्तरिक गुणों और विशेषताओं पर बल हो। ऐसी स्थिति में ही सहधर्म की स्थापना हो सकती है और तभी मानव - मात्र आपसी भाव के सुखद वातावरण में जीवनयापन कर सकता है।

1:- सो ब्राह्मण जो ब्रह्म विचारे।
आप तरे सगले कुल तारे।। आदि ग्रन्थ, पृ० 102

2:- गुंदा संतोख सरम पति सोची धिआन की करहि विभूति
खिंथा काल कुआरी काया जुगति डंडा परतीति।। आदि ग्रन्थ, पृ० 304

3:- सिदक मसीति सिदकु मुला सरम सील कुरान
सरम सुंनति सील रोजा होहु मुसलमाणु, आदि ग्रन्थ, पृ० 129

गुरु नानक का महान व्यक्तित्व उनके भक्त और सन्त रूप में भी हमें मिलता है। उनकी आत्मा भाव - भक्ति से परिप्लावित होती दिखायी देती है। वे ऐसे प्रभु का साक्षात्कार चाहते हैं जो भक्त - वत्सल है, जो रहीम है, और क्षमाशील है। इसीलिए गुरु नानक अपने प्रभु के सम्मुख नतमस्तक होते हैं, मनुहार करते हैं, बलिहार जाते हैं और अपनी विरहावस्था का एक तीव्र वेदना से वर्णन करते हैं।[1] यहाँ गुरु नानक की रहस्यात्मिका भक्ति का मधुर रूप हमें मिलता है।

गुरु नानक के व्यक्तित्व उक्त रूपों के अतिरिक्त वे एक यात्री, लोक सेवक, तत्वदर्शी उपदेशक, त्यागी, निर्भीक, प्राणियों के हितैषी भी थे। अपने शिष्यों को दीक्षित करने के लिये उन्होंने दीक्षा देने की एक नवीन रीति प्रचलित की जिसे साक्षीकार में "पाऊ" की संज्ञा दी है।[2] इससे यह प्रमाणित होता है कि सम्भवतः गुरुद्वारा अमृत - पान की दीक्षा - विधि का आदि रूप गुरु नानक द्वारा प्रचलित पाऊ की रीति में देखा जा सकता है। डा० दुग्गल ने पाऊ की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए बताया है कि शिष्यों द्वारा "वाहिगुरु" शब्द का उच्चारण करते हुए मीठा जल पिया जाता था।[3] लेकिन महानकोश के रचयिता भाई काहन सिंह का कथन है कि "पाऊ" शब्द वास्तव में "पाद्जल" (चरणामृत) का विकृत रूप है।[4] गुरु नानक[5] तथा उनके आठ परवर्ती गुरुओं ने इसी परम्परा को प्रचलित किये रखा।[6]

1:- तुहुनि करि रस मिठे प्रीतम आपने।
मनि तनि रवत सेती खड़ी न डीसरे।
किरा खड़ी विसारी हउ बलिहारी हउ जीवा गुण गाए।
न कोई मेरा हउ केरा हरिबिनु रहणु न जाए।। आदि ग्रन्थ, पृ० 223

2:- पुरातन जन्म साखी, साखी 44, पृ० 82

3:- आदि ग्रन्थ, इन्ट्रोडक्शन, पृ० 39

4:- महान कोश, पृ० 569 (पाद टिप्पणी)

5:- सहलो ओर रविदास करि चरणारविन्दु सिर्वा चितवउ।"
चारों भाई गुरदास 1/23

6:- महानकोश, पृ० 342

गुरु नानक के व्यक्तित्व का विशद् विश्लेषण प्राचीन फारसी इतिहास लेखकों तथा तत्कालीन साक्षीकारों ने बड़ी कृपा बड़ा से किया है। मुस्लिम इतिहासकार अरदिस्तानी [1] ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दबिस्तान-मजाहिब" में लिखा है कि गुरु नानक ने बहुत तपस्या की। प्रकृतः खाना पीना कम किया, पुनः थोड़े से गाय के दूध पर ही निर्वाह किया। तत्पश्चात् किंचित घी पीकर काम चला लेते। बाद में पानी और फिर केवल पवन पर निर्वाह करते रहे। —— जहाँ मुसलमानों की बहुत प्रशंसा करते वहाँ हिन्दुओं के देवी देवताओं की भी सराहना करते, परन्तु अपने उन्हें परमात्मा की मखलूकात मानते थे, न कि स्वयं परमात्मा। आपको न बहुल [अवतारवाद] में विश्वास था और न ही "हलिहाद" [2] में। [3] [5]

मुंशी सुजान राय ने अपनी पुस्तक "खलासत - उत् - तवारीख" में लिखा है कि अपने समय से बाबा जी सत्य-मार्ग अनुगामी व्यक्तियों का पथ प्रदर्शन करते, उन्हें तरीकत का मार्ग दिखाते और अन्त भेदों की गुप्तनी बातों को प्रकट करते रहे। आरम्भ से ही परमात्मा उनपर कृपा की वर्षा कर रहा था। बचपन से ही अद्भुत बातें करते, करामातें दिखाते और ईश्वरीय लीला की बातें करते। —— उनकी प्रभावशाली वाणी की बहुत प्रसिद्धि हुई और परमात्मा से उनके सम्पर्क की भी बहुत चर्चा होने लगी। दूर देश-देशान्तरों से अनेक व्यक्ति आकर उनके उपासक बन गए। [4] [5]

1:- यह लेखक छठे और सातवें सिख-गुरुओं और जहाँगीर-शाह जहाँ का समकालीन था। यह पंजाब में रहा और सिख गुरुओं सम्बन्धी अधिकारपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया।

2:- परमात्मा - सत्ता के किसी एक व्यक्ति में समाहित होने की भावना।

3:- प्रो० गुरु बचन सिंह : " बाबा दा निराली गुरु/नानक " पृ० 25-26

4:- जहाँगीर का समकालीन।

5:- प्रो० गुरु बचन सिंह : "बाबा दा निराली गुरु बाबा नानक, पृ० 37

गुरु सिंह अरोड़ा [1] ने अपने "तिलाला-ए-नानकवाद" में लिखा है कि गुरु नानक बचपन में ही बहुत मृदुभाषी और सुन्दर मुख के/प्रभु से ही उन्हें योग्य प्रतिभा मिली हुई थी। ——— वे परमात्मा की भक्ति में लीन रहते। परमात्मा की दरगाह में उन्हें बहुत मान्यता थी, अतः उन्हें बहुत ख्याति प्राप्त हुई। वे यात्रा करके जिस स्थान पर पहुंचते और और लोगों का पथ प्रदर्शन करते, वहीं लोग उनके श्रद्धालु और अनुयायी बन जाते। [2]

गुलाम अलीखां सय्यद [3] ने अपनी कृति "इमाद-उल, सआदत" में बताया है कि गुरु नानक का दरवेश सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर चिरकाल तक प्रभु-भक्ति करता रहा। परमात्मा की दरगाह में किसी की भक्ति व्यर्थ नहीं जाती, अतः उन्हें हिन्दुओं बाबा ज्ञान प्राप्त हुआ। उनकी वाणी के अध्ययन से स्पष्ट पता लगता है कि वे पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे। उनके मुख से निकले प्रत्येक पद में वैज्ञानिक सूत्र दृष्टिगोचर होती है। जितना समय वे जीवित रहे सांसारिक प्रपंचों से दूर रहे। [4]

कहानचन्द राय [5] ने अपनी पुस्तक "तवारीख-ए-खिज़ी" में लिखा है कि गुरु नानक बड़े विकसित मस्तिष्क वाले थे और गंभीर वास्तविकताओं को पहचानने वाली दृष्टि रखते थे। ——— वे सदैव प्रभु - भक्ति में ही रहते। ——— उन्होंने अपनी आयु का अधिकांश भाग उदासियों में व्यतीत किया। सारी धरती पर उनकी वाणी का बहुत प्रचार हुआ। सत्य की परख करने वाली उनकी वाणी ने देश - देशान्तरों में उत्साह पैदा किया। उनकी वाणी के एक-एक पद से सत्य सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन होता। — नानक शाह की कृपामयी दृष्टि ने अनेक श्रद्धालुओं को तृप्त किया। [6]

1:- यह ग्रन्थ 1782 ई० में लिखा गया।

2:- साखी बाबा नानक — पृ० 40

3:- यह ग्रन्थ 1808 ई० में लिखना आरम्भ किया गया था।

4:- साखी बाबानानक —— पृ० 41

5:- इस पुस्तक की रचना 1811 ई० से पूर्व की गयी थी।

6:- साखी बाबानानक — पृ० 44,50,51

"जनमसाखी-परंपरा" के रचयिता अज्ञात[1] ने बताया है कि लोगों ने उस गुरु नानक की मान्यता देखी तो स्वयं उनके अनुयायी हो गए। परमात्मा की एकता में विश्वास की आस्था ने धीरे धीरे गुरु नानक को बहुत प्रसिद्धि प्रदान की। विश्व-भ्रातृत्व और सभी के साथ मित्रता की भावना उनका जीवन-आदर्श था। उन्होंने बहुत यात्राएं की। जहां भी वे जाते कुछ दिनों के लिये वहीं ठहरते और लोगों को नाम-दान देते।[2]

अहमद्शाह बटालवी[3] ने अपनी पुस्तक "तारीख-ए-पिन्द" में लिखा है कि गुरु नानक परमात्मा की एकता में विश्वास रखने वाले महान संत थे।[4]

"उमदत-उत्-तवारीख" के रचयिता मुंशी सोहन लाल ने लिखा है कि बाबा नानक जैसी माता के यहां नानक नामक एक ऐसे बालक ने जन्म लिया जिसका मस्तिष्क विकसित था और उस पर ईश्वर का सितारा अपनी प्रकाशमयी रश्मियों की वृष्टि कर रहा था। ——— उसके जन्म से यह दुःखित सृष्टि स्वर्गपुरी में बदल गयी। ——— बाबा नानक सत्य और तरीकत के मार्ग में पथी, अनन्त ज्योति के स्रोत और ब्रह्म ज्योति की झलक दिखाने वाले थे। ——— उनके पवित्र चरणों के आगमन के फलस्वरूप इस दुःख पूर्ण संसार में प्रसन्नता की ऐसी लहर दौड़ गयी कि स्वर्ग आकाश भी उसे ईर्ष्या करने लगा। वे निपुणता के स्रोत थे और आरम्भ से ही उन पर परमात्मा की असीम कृपा थी।

जनमसाखी[5] के रचयिता ने लिखा है कि आध्यात्मिक ज्ञान में उच्च पदवी की प्राप्ति और परमात्मा के स्मरण में लीन रहने के कारण बाबा नानक

1:- यह पुस्तक 1811 - 1814 ई० में लिखी गयी।

2:- प्रो० गुरुबख्श सिंह : "मसली दासमाड़ी गुरु बाबा नानक", पृ० 56

3:- प्रस्तुत लेखक ने अपनी यह पुस्तक 1810 ई० में लेफ्टिनेंट मैरे की प्रेरणा से लिखी।

4:- मसली दा मनाजी — पृ० 58

5:- यह मूलतः पंजाबी की पुस्तक थी जो अब उपलब्ध नहीं है। उसका किसी अज्ञात लिखारी ने फारसी में अनुवाद किया।

ने समस्त संसार में बड़ी मधुर सुगन्धि फैलाई । फूलों और रंगों के कर्ता प्रभु को भी भाँति जानते थे । — बाबा जी परमात्मा की दरगाह के बड़े पुत्र थे । उन्होंने एक ऐसे दरबार में पाठ पढ़ा था जो कभी अवनति की ओर नहीं ले जाता । — बाबा जी सांसारिक खेलों और सम्बन्धियों के माया-जाल में नहीं उलझे । सांसारिक बंधनों और मजहबी तुच्छताओं से मुक्त होकर उन्होंने ब्रह्म - ज्ञान की अलख जगाने के लिए पर्वतों, जंगलों और निर्जन स्थानों की यात्रा आरम्भ की और सांसारिक प्रपंच में ग्रस्त और दिशाहीनता के साथ घिरे हुए लोगों को परमार्थ का मार्ग बताना शुरू किया ——— आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले बाबा जी की जीवनी की कड़ियों और रक्षित कर देने वाली बातों में मनुष्य की अडिग खोज थी । उनकी समस्त संसार में चर्चा होने लगी । क्या विशेष और क्या सामान्य प्रत्येक व्यक्ति उनकी महानता का यशोगान कर अपनी जिज्ञासा पूर्ण करने लगा ।

उनके अतिरिक्त गुरु नानक के परवाह उनके पूर्ववर्ती गुरुओं और गुरु काल के अनुयायियों ने कुछ ऐसी भावनाएं अभिव्यक्त की हैं, जिनसे उन के व्यक्तित्व का कुछ आभास होता है । यह सभी भावनाएं लगभग स्तुतिपरक हैं और उनमें गुरु नानक सम्बन्धी कवियों के मन में पड़े प्रभाव का बड़ा सीमित परन्तु बहुमूल्य परिचय प्राप्त होता है ।[2] भाई गुरदास ने भी अपनी वारों में यत्र — तत्र गुरु नानक के व्यक्तित्व

1:- साखी दा समाड़ी ——— पृ० 94,96,97

2:- गुरु ओअंकार-दीखिआ आदि सुजाकआ सिक्खिसिती सचि समेत ।
तिन का उपदेसीऐ जिन गुरु नानक देउ । आदि ग्रन्थ,पृ० 150
गुरु राम दास: गोविंदु गोविंदु गुरु है नानक देखु म भाई ।" पृ० 442
गुरु अर्जुन: मैं धुरु की बेला बात है कोई पराधी लखिआ रे ।
गुरु नानकु जिन सुणिआ पेखिआ - से फिरि गरभासि न पतिआ रे ॥ वही पृ० 612
गिआनु धिआनु किछु करमु न जाणा सार न जाणा तेरी ।
सभै सजा सतिगुरु नानकु जिनि कल राखी मेरी ।। वही, पृ० 750
अनदिनु सुतिआ उठ रतन जड़ाणी हरि प्रेम पुरखु मनि बुझा ।
सभे सभे काल सुहेले कीए गुरु नानकु सति गुरु तुठा । पृ० 322
चित अचिंता लगी गई ।प्रभु नानक नानक नानक भई । वही पृ० 1197

पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।[1] आदि ग्रन्थ में संकलित राय बलवंड तथा सत्ते डूम की "राम वली की वार" में गुरु नानक को ईश्वर और जगन्नाथ के समान मानते हुए[2] उनके जन्म मात्र से जन्म - जन्मान्तरों के कालुष्य धुल जाना लिखा है और यह भी बताया गया है कि गुरु नानक ने सत्य के साम्राज्य की स्थापना बड़ी दृढ़ता से की है।[3]

भट्टों के सवैयों में गुरु नानक को राजयोगी और सहजयोगी बताते हुए लगभग सभी पौराणिक पुरुषों को उनका यशोगान करते हुए चित्रित किया गया है और उन्हें विष्णु, वामन, राम और कृष्ण नामक अवतारों की पंक्ति में खड़ा करते हुए उनके हृदय में परमात्मा के बसे होने की घोषणा की है।[4]

1:- एक बाबा अकाल रूप दूजा रबाबी मरदाना। सारां भाई गुरदास, वार 1/35
गुरु परमेसर एक है सचा साह जात जगाजारा ।। वही वार 1/17
पारब्रह्म पूरन ब्रह्म कलिजुगि अन्दर एक खिडाइया। वही वार 1/23

2:- नानक ईसरि जगन्नाथि उपदेसु तेकु तिहरिकि दीनु। आदि ग्रन्थ, पृ0 967

3:- तुधु ठिठे सचे पातिसाह मधु जनम जनम दी करीऐ। वही पृ0 967
नानकि राजु चलाइआ सचु कोटु सतोखु नीवंदे। वही पृ0 966

4:- राजु जोगु माणिओ अमिओ भिखिआ सिवरि दिदारे। वही पृ0 1390
सतजुगि ते माणिओ छलिओ बलि बावन भाइओ ।।
त्रेते वे माणिओ रामु रघुकुलु कहाइओ।
दुआपरि किसन मुरारि कंसु किरतारथु कीओ।
उग्रसेन कउ राजु अभै भगतह जसु दीओ।
कलिजुगि प्रमाणु नानक गुरु औदु अंक कहाइओ।
इती गुरु राजु अविचलु वरतु आदि पुरखि फुरमाइओ।

आदि ग्रन्थ, पृ0 1390

स्पष्टतया गुरु नानक का बहुविध व्यक्तित्व उनके काव्य के माध्यम से भी अभिव्यंजित हुआ है। वस्तुतः किसी काव्य कृति के अध्ययन में रचयिता का व्यक्तित्व अत्यधिक योगदान दिया करता है। गुरु नानक जैसे युग पुरुषों के व्यक्तित्व तो समस्त सांस्कृतिक संभावनाओं को अनुस्यूत किये रहते हैं। निश्चित रूप से गुरु नानक के व्यक्तित्व का यह साक्षात्कार हमें अगले अध्यायों में उनके काव्य में अन्तर्भावित सांस्कृतिक तत्वों के अध्ययन विश्लेषण में एक दृष्टि प्रदान करेगा।

कृतित्व :-

अध्ययन की सुविधा के लिये गुरु नानक की समस्त प्रामाणिक वाणी को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है - 1:- मुक्तकाकार कृतियाँ जो संख्या में ४८ हैं : जपु, सिद्ध गोसटि, ओंकार, पटी, बारहमाहा और थिती, 2:- सप्तकाकार कृतियाँ, 3:- वार काव्य, 4:- फुटकर पद।

गुरु नानक वाणी को निम्नलिखित रागों में क्रम से वर्गीकृत किया गया है :-

सिरी राग :-

सलोक, तिपदे, छपदे, अष्टपदी तथा एक वार।

माझ राग:-

सलोक, अष्टपदी तथा पहरे।

गउड़ी राग :-

तिपदे, छपदे, पाँच पदे, ४८ पदे, अष्टपदी, छंत तथा पहरे।

आसा राग :-

सलोक, दुपदे, तिपदे, छपदे, पाँच पदे, ४८ पदे, अष्टपदी, छंत तथा एक वार।

गूजरी राग :-

सलोक, छपदे तथा अष्टपदी।

सिधागड़ा राग :-

केवल सलोक।

आसा राग :-

सलोक, छपदे, छंत तथा आठ वीवां।

सोरठ राग :-

सलोक, छ्पदे, पाँच पदे तथा अठ पदी ।

असावरी राग :-

छ्पदे, पाँच पदे, अठपदी, छंत और बारली ।

तिलंग राग :-

दुपदे, तिपदे, छ्पदे तथा अठपदी ।

सूही राग :-

सलोक, छ्पदे, पाँच पदे, छः पदे, अठपदी, छंत सुधी तथा दुधी ।

बिलावल राग :-

सलोक, छ्पदे, अठपदी, छंत, थिती तथा एक वार ।

रामकली राग :-

सलोक, तिपदे, छ्पदे, अठपदी, छंत, ओंकार, सिध गोसटि ।

माझ राग :-

सलोक, तिपदे, छ्पदे, पाँच पदे, छः पदे, अठपदी तथा सोहले ।

गुआरी राग :-

छंत तथा बारहमाह ।

भैरउ राग :-

छ्पदे, पाँच पदे तथा अठपदी ।

बसंत राग :-

तिपदे, छ्पदे तथा अठपदी ।

सारंग राग :-

सलोक, छ्पदे तथा अठ पदी ।

मलार राग :-

सलोक, छ्पदे, पाँचपदे, अठपदी तथा एक वार ।

परभाती राग :-

छ्पदे और अठपदी ।

जपुजी :-

"जपुजी" गुरु नानक की सर्व श्रेष्ठ, प्रौढ़ एवं सुव्यवस्थित रचना है। यह एक सुकाव्यी दार्शनिक कृति है। "आदि ग्रन्थ" की सारी एक प्रकार से जपुजी का ही विस्तृत भाष्य है। जपुजी की बाणी गायन करने की अपेक्षा विचारणीय अधिक है। इस बाणी के नाम से ही मालूम होता है कि यह मंत्र रूप है। जपुजी का आरम्भिक शब्द "ओ ओं" बीज मन्त्र है। इस रचना के आरम्भ में एक संक्षिप्त मंगलाचरण दिया गया है। ओं सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरप्रसादि।" इस मंत्र में सिख धर्म के सिद्धान्तों का बीज रूप मिल जाता है। यह इस रचना का ओ नहीं, ध्यातव्य मन्त्र है। इसकी व्याख्या पहले "जपु" बाणी में और फिर सम्पूर्ण गुरु बाणी में हुई है। इस रचना में कुल 38 पउड़ियां और दो श्लोक हैं। इन 40 पदों के चार-चार के गुट हैं और इन्हीं के आधार पर इस बाणी के विचार-क्रम का निर्धारण हुआ है। वस्तुतः गुरु नानक ने दार्शनिक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक विषय को लेकर उसका विश्लेषण पउड़ियों के इन गुटों द्वारा प्रस्तुत किया है और बड़ी व्यवस्थित विधि से मूल दार्शनिक प्रश्न- " किव सचिआरा होईऐ किव कूड़े तुटै पालि" का उत्तर" हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआ नालि " और " ऐसा अमृत वेला सचु नाउ वडिआई वीचारु" द्वारा देकर अपने भक्ति मार्ग की स्थापना की है।

निःसन्देह "जपुजी" एक दार्शनिक और विचार प्रधान रचना है और इस की रचना गुरुओं की अन्य बाणी की भांति रागों के अनुसार नहीं की गयी। किन्तु इसमें अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है और यह गायी भी जा सकती है। इसमें मुख्य छन्द दोहा, चौपाई तथा तोटक आदि हैं।

जपुजी के आरम्भ और अन्त में एक - एक श्लोक है। जपुजी के पहले चरण की पहली तीन पंक्तियों का तुकान्त एक है और उससे अगली तीन पंक्तियों का अलग। इसी तुक की एक प्रकार कहा जा सकता है।

जपुजी को सारका रूप भी कहा जा सकता है। डा० मोहन सिंह के शब्दों में - यह स्तुति होने के कारण सार है। और सार में कई चरण होते हैं।

सार में चरणों के साथ पहले और अन्त में स्पष्ट करने वाले श्लोक भी हैं। सार गाएन करने से पूर्व अपने "सतगुरु" नानक, वाहगुरु, प्रभु के लिये स्तुति के बाद उच्चारण किये जाते हैं जो कि चार [गद्य] में ही होते हैं।[1]

इसी प्रकार कहा जा सकता है कि चरण [पउड़ी] के रूप में विचार प्रतिष्ठापित करने का आरम्भ गुरु नानक ने ही किया। जपुजी के कुछ चरण और श्लोक श्लोक वाणी में रागों के वर्गीकरण के नीचे दिये गये हैं जिससे इस वाणी के भी रागमयी होने का संकेत मिल जाता है। जपुजी का आरम्भिक श्लोक गोंडी राग [गुरुवाणी] की सत्तासरसी छन्दबंदी के आरम्भ में अंकित है। जपुजी के अन्तिम श्लोक की पहली दो पंक्तियाँ मात्र सोलहे महला। में तथा सारा श्लोक मात्र की सार में गुरु अंगद जी की वाणी में कुछ पाठान्तर से लिखा गया है। जपुजी का सत्तार्वसवाँ - चरण "सोदर" कुछ पाठान्तर से राग आसा में दो स्थानों पर उद्धृत है।

कुछ शब्दों के सार - सार दोहराने से भी संगीतमयी लय उत्पन्न की गयी है। जैसे चरण तीसरे में "गावै को " का सारभाग दोहराना।

इसी प्रकार छन्द के विधान, शब्दावली, भावों दृष्टि से भी "जपु" बीज रूप है। सार श्लोक, शब्द, छन्द पउड़ी, पउड़ी, सोहला, आरती जो कुछ भी गुरु नानक ने रोग वाणी में स्थापित किया है उसका रूप "जपु" में ही[2] प्राप्त होता है।

इस रचना के अन्त में संलग्नित पाँच खण्ड गुरु नानक की मौलिक अनुभूति के परिचायक हैं। धर्म प्रथम खण्ड का केन्द्र है। जब मनुष्य के अन्तः करण में प्रभु की कृपा से जागृति की अवस्था उत्पन्न होती है तो आचार की पूर्णता का प्रयास किया जाता है। धर्म का अभिप्राय प्रवृत्ति के नियमों का संयोजन है। इस खंड में परमात्मा से समस्त

1:- डा० मोहन सिंह, "पंजाबी भाषा विज्ञान अते गुरमत साहित्य", पृ० 6
2:- वही पृ० 42

प्राकृतिक उपकरणों के बीच धरती को अंतरिक्ष के रूप में स्थापित किया है। इस धरती में अनेक जीवों के शिविर, उनकी अनेकानेक जातियों एवं प्रकारों का निर्माण किया गया है। अनन्त रूपों, प्रकारों और नामों वाले जीवों सम्बन्धी उनके कर्मानुसार ही सत्य स्वरूप परमात्मा विचार कर यह प्रदान करता है जिससे प्राणी प्रामाणिकता का चिन्ह प्राप्त करता है। इस खंड में पुण्यात्मा तथा पापात्मा की परीक्षा होती है। ज्ञान खंड दूसरी अवस्था का नाम है। शब्द में अनुरक्त होने पर प्रभु की शक्तियों का ज्ञान प्राप्त होता है। इस खण्ड में अनन्त देव देवता, कृष्ण, महेश और ब्रह्मा विद्यमान हैं, अनेक प्रकार की वस्तुओं के अनेक प्रकार के रूप - रंग हैं। अनन्त लोक - लोकान्तर हैं और अनन्त सिद्ध, नाथ, खानियाँ, वाणियाँ, राजे और बाजगार इस खण्ड में स्थित हैं। इस खंड की सृष्टि का अन्त और सीमा का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसमें सर्वत्र ज्ञान की प्रधानता रहती है। तीसरी अवस्था का नाम " सरम खण्ड है। इस खण्ड में उद्यम, सच्चर्या, बड़ा साधक की गरिमा से रूप निखरता है और "सुरत मति मनि बुद्धि" का परिष्कार होता है। सिद्धों और देवताओं की "सृष्टि" भी यहीं रची जाती है। इस खण्ड की विकसित कर्मभूमि है। चौथी अवस्था को "करम खण्ड" का अभिधान दिया गया है। " कर्म से अभिधाय" प्रभु की कृपा है। इसमें प्रभु की शक्ति की प्रधानता होती है। यहाँ आध्यात्मिक योद्धा और शूरवीर लोग निवास करते हैं और उनमें राम व्याप्त रहता है। उनकी न मृत्यु होती है और न ही वे रो या रुला सकते हैं। इस खण्ड में भक्तों के अनन्त लोक निवास करते हैं और वे शाश्वत आनन्द में अनुरक्त रहते हैं। पांचवाँ और अन्तिम "सच खण्ड " है। इसमें निराकार का निवास है। इसके अन्तर्गत अनन्त खण्ड, मंडल ब्रह्मा हैं। इसमें सभी "सुरम " के अनुसार अपने - अपने कर्मों में लीन हैं और प्रभु का नित्य ध्यान और ध्यान करते हुए प्रसन्न होते हैं।

सिद्ध गोष्ठि :-

दार्शनिक दृष्टि से यह वाणी एक महत्वपूर्ण रचना है क्योंकि "जपु" की वाणी के समान यह वाणी भी गुरु नानक के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करती है। इस वाणी का मूल आशय प्रभु - मिलन का महत्व और साधन बताना है। छन्द के दृष्टिकोण से यह रचना अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित है। इसमें कुल 73

पउड़ियाँ अथवा पदे हैं जिनमें से । से 18 अंक तक चार पंक्तियाँ हैं और 19 से 73 तक छः पंक्तियाँ हैं। इनकी मात्रा संख्या भी दो प्रकार की है, यथा 16:12 और 8:8। इसमें संगीत की आवश्यकता के अनुसार कतिपय अतिरिक्त मात्राओं का प्रयोग भी हुआ है। प्रथम पद के पश्चात दो पंक्तियाँ "रहाउ" (टेक) की हैं, जो उक्त 73 पदों से अलग हैं और गोष्ठी की मूल समस्या को प्रस्तुत करती हैं।

ओंकार :-

इस वाणी में गुरु नानक के सभी दार्शनिक एवं धार्मिक विचार किसी - न - किसी रूप में मिल जाते हैं। इस रचना का मूल प्रतिपाद्य "रहाउ" वाली दो पंक्तियों में दे दिया गया है कि " हे पाँडे। यदि कुछ लिखना ही है तो जागतिक जंजालों को छोड़ कर राम का नाम लिखो :-

सुणि - पाँडे किआ लिखहु जंजाला। लिखु राम नाम गुरमुखि गोपाला।

इसी राम-नाम की व्याख्या रोचक रचना में हुई है। इस रचना में कुल मिला कर 54 पद हैं और "रहाउ" की दो पंक्तियाँ इनके अतिरिक्त हैं। इसमें प्रयुक्त भाषा का स्वरूप सधुक्कड़ी है।

पट्टी :-

पट्टी किसी छन्द विशेष का नाम नहीं, अपितु यह एक स्वतन्त्र काव्य विधा है।[1] "पट्टी" अथवा पटिया उस तख्ती को कहते हैं, जिस पर बच्चे वर्णमाला लिखना सीखते हैं। इसी परम्परा के आधार पर इस रचना को भी पट्टी कहा जाने लगा, जिसमें वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण की काव्यमयी व्याख्या प्रस्तुत की गयी हो। गुरु नानक द्वारा रचित पट्टी गुरमुखी की किसी प्राचीन लिपि के 35 वर्णों पर आधारित है। इस कृति में 35 पदों द्वारा परमात्मा का यशोगान किया गया है। साथ साथ इसमें गुरु नानक के दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों की भावात्मक अभिव्यक्ति भी होती गयी है। इस वाणी की मूल समस्या "रहाउ" वाली दो पंक्तियों में प्रस्तुत की गयी है कि " हे मूर्ख मनुष्य। तू किसलिये भूला है ? किसलिये कि तू अपने

1:- पुरातन जन्म साखी, साखी 57

को पढ़ा हुआ समझा है ? वास्तव में तू तभी पढ़ा हुआ समझा जायेगा, जब अपने कर्मों का लेखा पूरा देगा - " मन काहे झूझे मूढ़ मना । जब लेखा देवहि बीरा सद पड़िवा ।" तात्पर्यतः सभी अक्षरों एवं मात्राओं के आध्यात्मिक अभिप्राय का विवेचन किया गया है ।

बारहमाहा :-

तुखारी राग में संकलित यह वाणी गुरु नानक देव के अन्तिम दिनों की कृति मानी जाती है, जब वे करतार पुर में निवास करते थे । इस रचना में जीवात्मा की परमात्मा से एकात्म होने की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है । यह प्रक्रिया वियोग से संयोग की ओर सहजभाव से विकास करती है ।

"बारहमाहा" का आरम्भ "चेत" माह से हुआ है । इसके गुरु में बारह पद सुरक्षित हैं, शेष 13 में से 12 पदों का सम्बन्ध प्रत्येक माह से है और अन्तिम पद में गुरु नानक का दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ है । प्रत्येक पद में छः पंक्तियाँ हैं किन्तु उनकी मात्राओं की संख्या में समानता नहीं है ।

सिरि :-

सिरागु राग में संकलित 20 पदों की इस रचना में चन्द्रमा की गति के अनुसार मानी गयी तिथियों का आध्यात्मिक विश्लेषण किया गया है । गुरु नानक ने इस रचना में अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए बताया है कि परमात्मा अमर और अगोचर है । इसमें कुल 20 पद हैं और प्रत्येक पद में 6 पंक्तियाँ हैं । "रहाउ" की दो पंक्तियाँ उक्त संख्या के अतिरिक्त है । छन्द के दृष्टिकोण से

1:- पुरातन जन्म साखी, साखी 57

यह बीसवीं सदी की रचना है। मात्राओं में असमानता सर्वत्र है। द्वितीया, पंचमी, एकादशी, त्रयोदशी और अमावस्या का विश्लेषण दो - दो पदों में किया गया है और शेष 10 तिथियों का विश्लेषण एक - एक पद में।

पहरे :-

सिरी राग के अन्तर्गत गुरु नानक द्वारा रचित दो "पहरे" संकलित हैं। "पहर" अथवा "प्रहर" से भाव है - दिन अथवा रात्रि का चौथा भाग। गुरु नानक ने मनुष्य को बनजारा कहकर सम्बोधित किया है जो अपनी आयु रूपी रात्रि को संसार रूपी अनुचित स्थान में व्यतीत करता है। इसमें स्थान - स्थान पर मनुष्य जन्म रूपी अमूल्य पदार्थ को व्यर्थ में कामादिक विषय - वासनाओं रूपी चोरों द्वारा न चुराये जाने के लिये उपदेश दिया गया है। जीवन के वास्तविक लक्ष्य की पूर्ति पर बल दिया गया है। प्रथम पहरे में चार पद हैं और दूसरे में पाँच। प्रत्येक पद में छः छः पंक्तियाँ हैं, जिनकी रचना प्रवृत्ति तुकान्तियाँ छन्द से पर्याप्त साम्य रखती है किन्तु इसमें मात्राओं की संख्या का बन्धन स्वीकार नहीं किया गया।

सो-दर :-

इसका संकलन आसा राग में हुआ है। "सोदर" इसका कोई विशेष नाम नहीं है। भाई काहन सिंह के अनुसार - "इसके आरम्भ में " सोदर केरा सो ढब केहा" पाठ होने के कारण यह संज्ञा हो गयी है, जिस प्रकार "ओंकार" शब्द आदि में होने के कारण उपनिषद का नाम ओंकाराक्ष हो गया है और केतकि पद के कारण केतक उपनिषद कहलाती है।"[1] इसमें प्रभु के महान् दरबार की कल्पना की गयी है जहाँ पर अनेकानेक देवी-देवता, सिद्ध-योगी, योद्धा-दानी आदि सदैव यशोगान कर रहे हैं। और

- - - - - - - - - - - - - - -

1:- डा0 सीता राम बाबरी, गुरु नानक का हिन्दी काव्य, पृ0 208

जहां विराजमान प्रभु सभी की देख-रेख कर रहा है। इस पद की "जपु" मानक कृति की 27 वीं पउड़ी से अत्यधिक समानता है। इस पद में कुल 22 पंक्तियां हैं और मात्रागत असमानता सभी में है।

अलाहणियां :-

"अलाहणी" पंजाबी के रोचक - पारंपरिक लोक गीतों की एक विधा है। इसमें सामान्यतः मृत व्यक्ति के गुणों का दुःखित स्वर में स्मरण किया जाता है। गुरु नानक ने इस लोक गीत को बड़ी सफलता से साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। गुरु - कवि ने पांच अलाहणियों की रचना की है। ये पद वैराग्य से परिपूर्ण हैं किन्तु कहीं भी निराशा अथवा उदासीनता का आभास नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि ~~आदि~~ गुरु नानक ने इन पदों में जिज्ञासु को मृत्यु के भय का निवारण करने, निर्वेद भाव उत्पन्न करने और मोहाक्त भौतिकता से मुक्ति प्राप्त करने का उपदेश दिया है।[1] इन पांच अलाहणियों में से पहली, दूसरी, चौथी और पांचवीं में छः छः पंक्तियों के चार - चार पदे हैं और छन्द का विधान कुंडलियों से साम्य रखता है भले ही मात्राओं की गणना ठीक न बैठती हो। तीसरी अलाहणी में चार - चार पंक्तियों के आठ पदे हैं।

आरती :-

आसावरी राग में प्रस्तुत कृति चतुष्पदी के रूप में संकलित है। इसमें कुल चार पदे हैं। पहला दूसरा चौथा पद दो - दो पंक्तियों का है किन्तु तीसरे की चार पंक्तियां हैं, ये चार पंक्तियां लम्बाई में उक्त दो जितनी ही हैं। इनके अतिरिक्त प्रथम पदा के पश्चात् दो पंक्तियां "रहाउ" की भी हैं। इस वाणी में हिन्दू मत की परम्परागत आरती के स्थान पर परमात्मा की विशुद्ध और सहज आरती की महिमा का वर्णन किया गया है। इस रचना का शब्दचयन अपना विशेष महत्व रखता है। अनुप्रास की छटा विशेष द्रष्टव्य है।

1:- डॉ० सीता राम बाली, गुरु नानक का हिन्दी काव्य, पृ० 208

कुछजी :-

राग सूही के अन्तर्गत संकलित 16 पंक्तियों की प्रस्तुत रचना में जीवात्मा रूपी बुरे आचरण वाली स्त्री का स्वरूप चित्रित किया गया है। अपने दूषित आचरण के फल स्वरूप जीवात्मा रूपी स्त्री परमात्मा से बिछुड़ जाती है और क्लेश तथा अहं भाव के कारण अनेक प्रकार के कष्ट और दुःख सहन करती है। इसकी भाषा पश्चिमी क्षेत्र की पंजाबी है।

सुहजी :-

"सुहजी" कुहजी का विपरीतार्थक शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है :- " अच्छे आचार वाली स्त्री", जिसके फलस्वरूप उसका पति प्रसन्न हो। प्रस्तुत वाणी में इस शब्द का तात्पर्य ऐसी जीवात्मा है जो सांसारिकता को त्याग कर परब्रह्म में पूर्णतया अनुरक्त हो और उसकी भावना अथवा इच्छा में अपने आप को समर्पित कर चुकी हो। इन पंक्तियों की यह रचना सूही राग के अन्तर्गत संकलित की गयी है। इसकी भाषा सधुक्कड़ी है।

सार - काव्य :-

गुरु नानक ने माझ, आसा और मलार रागों में तीन वारों की रचना की है। " आसा की वार" गुरु नानक की एक अति प्रिय रचना है। इस वार की पउड़ियों में रहस्यवादी अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है तथा श्लोकों में "कुदरत" और सृष्टि का वितरण प्रस्तुत करते हुए मनुष्य की आत्मिक शुद्धि पर बल दिया गया है। धार्मिक एवं सामाजिक पाखंडों पर प्रहार करना श्लोकों का प्रमुख विषय रहा है।

" आसा की वार" में 24 पउड़ियाँ और 45 श्लोक हैं। पउड़ियों के साथ श्लोकों का वितरण कम एक समान नहीं हुआ। प्रत्येक पउड़ी के साथ कम-से-कम दो और अधिक से अधिक पाँच श्लोक हैं। इन श्लोकों की पंक्तियाँ अथवा चरणों में समानता नहीं है। सभी पउड़ियाँ पाँच - पाँच पंक्तियों की हैं और सभी की अन्तिम पंक्ति का आकार अत्यधिक छोटा है, जिसमें सम्पूर्ण पउड़ी का सारांश रहता है।

"माझ की वार" में 21 पउड़ियां हैं और 46 श्लोक । इस वार की पउड़ियों में गुरु नानक की दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं की चर्चा है । दार्शनिक विचार पर-मात्मा, आत्मा और जगत से संबन्धित हैं । धार्मिक विचारों के द्वारा गुरु, गुरु - शब्द और नाम साधना के महत्व का प्रतिपादन हुआ है । गुरु नानक का अभिमत है कि प्रभु ने अनेक विधि - विधानों और रंग-रंगों वाले जगत् की रचना करते हुए जीव के लिये नाना प्रकार के पदार्थ उपलब्ध किये हैं । यह एक प्रकार का मायिक प्रपंच है । मूर्ख व्यक्ति इसमें फंस कर जन्म की अनेकानेक यातनाएं सहन करते हैं और सच्चे साधक गुरु की शरण में जाकर, नाम रूपी अमूल्य वस्तु प्राप्त करते हैं जो भवसागर से तरने में उनके लिये सहायक सिद्ध होती है ।

इस वार की प्रत्येक पउड़ी में 8 पंक्तियां है, पर उनमें मात्रागत असमानता सर्वत्र है और पउड़ी अंक 1,14 और 16 में यह असमानता और भी अधिक है । इस वार के साथ गुरु नानक के 46 श्लोक भी संकलित हैं । भाषा की दृष्टि से यह वार पंजाबी के अधिक निकट है । श्लोकों में पंजाबी रंग और भी अधिक है । संज्ञा-संबंध के फारसीकृत कठोर और व्यंग्यात्मक शब्दावली की प्रधानता है । अरबी - फ़ारसी के शब्द भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं ।

गुरु नानक द्वारा विरचित तीसरी वार "मलार की वार" है । इस में 28 पउड़ियां हैं किन्तु 21 वीं पउड़ी गुरु अर्जुन कृत है । इस वार में प्रकट किये गये विचारों और भावनाओं का आशा और माझ रागों की वारों से पर्याप्त साम्य है । इस वार में कुरीतियों एवं अनुचित परम्पराओं को त्याग कर वास्तविक धर्म - कार्य में लीन होने की भावना को प्रकट किया गया है । श्लोकों में अधिकतर प्रचलित धार्मिक परम्पराओं, सामाजिक मूल्यों, राजनैतिक अत्याचारों, आर्थिक विषमताओं के प्रति गुरु नानक के आक्रोश का स्वर मुखरित हुआ है । पुरा - चित्रण का इतना सशक्त रूप मध्य - युगीन काव्य में बहुत कम मिलता है । गति - भाव के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत करते समय जिस स्वाभाविक एवं सर्वपूर्ण शैली का प्रयोग किया गया है, वह नानक की सर्जनात्मक प्रतिभा एवं प्रभावोत्पादकता का प्रतीक है ।

इस वार की प्रत्येक पउड़ी में आठ पंक्तियाँ हैं, किन्तु उनमें मात्रागत अन्तर सर्वत्र है। इनके साथ संकलित गुरु नानक के श्लोकों का सम-विभाजन नहीं है, किसी के साथ एक श्लोक है, किसी के साथ दो और किसी के साथ चार।

चौपद्दे :-

"चौपदा" किसी एक छन्द - विशेष का नाम नहीं है। यह एक ऐसा छन्द विधान है जिसके अन्तर्गत चार पदे संगृहीत हों। "पद" अथवा "पदा" से अभिप्राय पंक्ति अथवा पंक्ति - समूह है। प्रस्तुत प्रकरण में इन पदों की पंक्ति संख्या एक से चार तक है। गुरु नानक ने पदों के रूप - आकार में परिवर्तन किया है। गुरु नानक से पूर्व पदों में केवल दो समतुकान्त पंक्तियाँ होती थी। गुरु नानक ने उस नियम को न अपना कर इन की निजी कृतियों की निजी प्रतिभा और रुचि पर छोड़ दी है। ये पदे मात्राओं की गणना के बंधन से मुक्त हैं और किसी छन्द विशेष की कैद को भी स्वीकार नहीं करते। पदों की पंक्तियों को तुक भी कहा जाता है। गुरु नानक का प्रत्येक पद अपने - आप में पूर्ण है और उनमें दार्शनिक तथा धार्मिक तथ्यों का उद्घाटन किया गया है। उनमें उस युग में व्याप्त अनुचित परम्पराओं और ऐतिहासिक परिस्थितियों का भी यत्र - तत्र वर्णन हुआ है।

अष्टपदी :-

चौपदा के समान अष्टपदी भी छन्द का कोई भेद - प्रभेद नहीं है। साधारणतः उस छंद-प्रबंध को, जिसमें आठ पदे अथवा पंक्तियाँ लिखी हों, अष्टपदी कहा जाता है। प्रत्येक पदा अथवा पदी में एक से लेकर चार तक पंक्तियाँ होती हैं। गुरु नानक - कृत 12। अष्टपदियों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक में आठ पदे अथवा पंक्तियाँ हों। यह संख्या न्यूनाधिक हो सकती है किन्तु इन्हें अष्टपदियाँ इसलिये कहा गया है क्योंकि अधिकांशतः ये अष्टपदों वाली हैं। अष्टपदियों के लिये यद्यपि कोई छंद-विधान निश्चित नहीं है तथापि यत्र - तत्र उपमान, सार, चौपाई आदि कई प्रकार के छंदों के लक्षणों का किंचित प्रभाव देखा जा सकता है। इनमें अधिकतर गुरु नानक के दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या हुई है।

छंत :-

गुरु नानक के 24 छंतों की रचना की है जो सात रागों में से-क्रम संकलित हैं। इनमें अधिकांश चार पदों वाले हैं किन्तु "छंत" के लिये पदों की संख्या निश्चित नहीं है। अधिकांश छंतों में 4 लोकगीतों की परम्पराओं में कुछ शब्दों एवं पंक्तियों की पुनरावृत्ति भी हुई है। इन छंतों में भक्ति अनुप्राणित शृंगार रस की जो धार्मिक एवं मर्यादित अभिव्यक्ति हुई है और रहस्यानुभूति को जिस तीव्रता से अभिव्यक्त किया गया है, उसके उदाहरण सन्त काव्य में बहुत कम मिलते हैं।

सोलहे :-

मारु राग के अन्तर्गत गुरु नानक विरचित 22 सोलहे भी संकलित हैं। जिस प्रकार चार और आठ पदों के समुदाय का नाम क्रमशः सोपदा और अष्टपदी है, उसी प्रकार सोलहे पदों के समुदाय का नाम सोलहा है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी में 16 पदे ही हों, उनकी संख्या न्यूनाधिक हो सकती है। इसके छंद गत लक्षण कुछ कुछ छप्पय, चित्रपदा, आदि छन्दों से मेल खाते हैं। प्रत्येक पदा में प्रथम तथा द्वितीय विश्राम पर समानुप्रास है। इन दोनों का आकार लगभग समान रहता है परन्तु तीसरी पंक्ति इन दोनों से लम्बी और लगभग दुगनी होती है और जिसके अन्त में सामान्यतः दीर्घ स्वर वाला शब्द रहता है। इन सोलहों में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, सृष्टि, प्रभु की सर्व व्यापकता और सब को उत्पन्न कर उनकी देख - रेख करना आदि पक्षों पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

श्लोक :-

गुरु नानक ने लगभग 260 श्लोकों की रचना की है। इनमें से 115 श्लोक गुरु नानक द्वारा रचित तीन वारों के साथ संकलित हैं और शेष 145 श्लोकों में से 107 श्लोक अन्य गुरु - कवियों की वारों के साथ सिरी, बिहागड़ा, वडहंस, सोरठ, सूही, बिलावल, रामकली मारू और सारंग रागों के अन्तर्गत संकलित हैं। इनके

अतिरिक्त 3 श्लोक संस्कृती हैं, दो श्लोक "जू" नामक रागनी के आदि तथा अन्त में तथा दो श्लोक माल राग के पूर्व तथा पश्चिम छोरदों के साथ दिये गये हैं। गुरु नानक के लिये श्लोक कोई विशिष्ट छंद - रूप अथवा प्रकार नहीं है अपितु किसी काव्य - पंक्ति अथवा काव्य - पंक्तियों के समूह का नाम है जिसमें एक ही भाव और विचार की प्रधानता होती है। श्लोक में किसी एक विषय को लेकर गुरु नानक अपना मत प्रकट करते हैं और जब तक उस विचार की पूर्णतया अभिव्यक्ति नहीं हो जाती, तब तक श्लोक की रचना - प्रक्रिया चलती रहती है, चाहे वह कितनी ही पंक्तियों का विस्तृत क्यों न हो जाये। अतः श्लोक में रूप की अपेक्षा विचार - तत्व की प्रधानता है।

-:-:-:-:-:-:-:-

गुरु नानक के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन

द्वितीय अध्याय :-

संस्कृति और काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन का स्वरूप

द्वितीय अध्याय :-

संस्कृति और काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन का स्वरूप :-

"संस्कृति" शब्द "सम्" उपसर्ग युक्त "कृ" धातु और "क्तिन्" प्रत्यय से बना है। इसका भाव स्पष्टतया परिष्कार या परिमार्जन की ओर इंगित करता है। शिष्टता, सौजन्यता, विवेकशीलता एवं धर्म पालन आदि भाव भी संस्कारों में समाहित है। कल्याण के हिन्दू संस्कृति अंक में संस्कृति को "भूताय भूत सम्यक् कृति[1] या सेल्टा कहा गया है। " भूताभूत सम्यक् चेष्टाएँ मानव व्यवहार के से प्रेरक कारक हैं, जिन से मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख - शान्ति प्राप्त करता है। मनुष्य के लौकिक - पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार ही संस्कृति है।[2] कोशग्रंथों में उपलब्ध संस्कृति के विविध अर्थों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि "संस्कृति" अँग्रेजी के शब्द "कल्चर" के अधिक निकट है। श्री वी० एस० आप्टे के प्रसिद्ध संस्कृत - अँग्रेजी कोष में उपसर्ग - युक्त "कृ" धातु [संस्कृत] का अर्थ[3] तथा ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में दिए गये अर्थ[4]

1:- "कल्याण", हिन्दू संस्कृति अंक, पृ० 24

2:- श्री गोरी शंकर भट्ट: भारतीय संस्कृति एवं समाज शास्त्रीय समीक्षा, पृ० 11

3:- शामन विश्वराम आप्टे : संस्कृत - अँग्रेजी कोश ।

4:- "द आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी", वाल्यूम 11

परस्पर बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। इनमें परिष्कार, परिष्कार, सजाने-संवारने आदि का भाव ही प्रमुख प्रतीत होता है।

संस्कृति की परिभाषाएँ :-

"संस्कृति" की परिभाषा देते हुए "प्रामाणिक हिन्दी कोश" में श्री राम चन्द्र वर्मा का कथन है कि संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य, आचार-विचार ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास-सूचक बातें आती हैं।[1] श्री हरिन्द्र नाथ दत्त ने संस्कृति को समष्टि-मनु के आभ्यन्तरिक - सौष्ठव की बाह्य अभिव्यक्ति कहा है।[2] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाओं को संस्कृति मानते हैं।[3] इसी प्रकार श्री गोकुल देव शास्त्री अपने ग्रन्थ "भारतीय संस्कृति का विकास" में संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि किसी देश या समाज के अनेक विध जीवन-व्यापारों सामाजिक सम्बन्धों और मानवीय दृष्टि से प्रेरक कारकों की समष्टि को संस्कृति कहा जा सकता है।[4]

एक अन्य स्थल पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति पर चर्चा करते हुए उल्लेख किया है कि "भाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योग मूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम "संस्कृति" शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।[5] इसी प्रकार डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल भी अपने एक लेख में इस बात को स्वीकार करते हैं कि "संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग संस्कृति है ———— जीवन के मानसिक

1:- प्रामाणिक हिन्दी कोश: रामचन्द्र वर्मा
2:- हरिन्द्रनाथ दत्त: इण्डियन कल्चर, पृ० 4
3:- श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी: अशोक के फूल, "भारतीय संस्कृति की देन" नामक लेख।
4:- गोकुल देव शास्त्री : "भारतीय संस्कृति का विकास", पृ० 3
5:- अशोक के फूल में संकलित भारतीय संस्कृति की देन नामक निबन्ध।

रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।[1] मानसिक जीवन के स्वरूप का नाम संस्कृति है।[2] डॉ० राधा कृष्णन् के अनुसार संस्कृति जीवन का ढंग तथा मानव भावनाओं का सम्यक् उद्देश्य है। इसका सार-तत्व जाति की आर्थिक-रक्षा के गुंठन में नहीं, न ही राजनीतिक तथा अर्थ शास्त्रीय - प्रबन्धों पर आधारित है, वरन् उसे बनाने तथा सुरक्षित रखने वाले मूल्यों में ही इसका सार विद्यमान रहता है। - प्रत्येक संस्कृति प्रबुद्ध विचारों की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि वह स्वयं परम् मूल्यों में विश्वास तथा उसके तात्पर्यार्थ जीवन के सुंदर का द्योतक होता है।[3] वस्तुतः संस्कृति उन गुणों का समुदाय है, जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है। संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव, मनोवृत्तियों से है। सच में, सांस्कृतिक विशेषताएँ मनुष्य की बुद्धि एवं स्वभाव की विशेषताएँ होती हैं, इन विशेषताओं का अविच्छिन्न सम्बन्ध जीवन के मूल्यों से होता है। ये विशेषताएँ या तो स्वयं में मूल्यवान् होती हैं अथवा मूल्यों के उपलब्धि का साधन होती हैं।[4] इसी प्रकार संस्कृति की एक अन्य परिभाषा में बताया गया है कि "संस्कृति वह यन्त्र है, जिसके द्वारा मानव अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करता है। भूख, प्यास, संरक्षण और कामवृत्ति से प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं, जिनकी पूर्ति और संरक्षण के प्रयास में ही संस्थाओं का जन्म होता है, जिनके द्वारा मानव-व्यवहार के आदर्शिक मापदंड निर्धारित होते हैं।" अतः इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक तथा गौण आवश्यकताओं की तुष्टि के प्रयास में निर्मित संस्थाओं की पारस्परिक सम्बन्ध प्रणाली ही संस्कृति है।[5] संस्कृति की सबसे पुरानी और व्यापक परिभाषा टायलर की है जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के प्रारम्भ में दी गयी थी। टायलर के अनुसार संस्कृति वह जटिल तत्व है जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीतिरिवाजों तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतों

1:- डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल कल्पवृक्ष "कल्पवृक्ष" - पृ० 26
2:- डॉ० रवीन्द्र नाथ टैगोर : द वर्ल्ड यूनीवर्सल मैन, पृ० 209
3:- डॉ० राधाकृष्णन : रिलीजन एण्ड सोसायटी पृ० 21
4:- डॉ० देव राज: "भारतीय संस्कृति" पृ० 21
5:- मालनोवस्की बी : ए साईंटीफिक थ्योरी आफ कल्चर, पृ० 13-14

का समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है।[1] लिंटन आग्ल विद्वान ने संस्कृति को "सामाजिक विरासत" कहा है,[2] मार्टी के अनुसार संस्कृति "समस्त सामाजिक परम्परा" है।[3] क्लोकहोहन ने संस्कृति को मनुष्य का समस्त "सीखा हुआ व्यवहार" कहकर सम्बोधित किया है, अर्थात् "वे चीजें जो मनुष्य के पास हैं, वे चीजें जो वे करते हैं, और वह सब जो वे सोचते हैं" संस्कृति है।[4] इस प्रकार संस्कृति के ये सम्पूर्ण कल्पना को स्पर्श करते हैं और उनका दार्शनिक महत्व भी है। संस्कृति के विश्लेषण से हमारा ध्यान उन समस्त परिवर्तनों की ओर जाता है जो परमु की भूमिका से उत्पन्न होने के बाद, मनुष्य ने उत्पन्न तथा अनुभव की हैं।

संस्कृति और सभ्यता :-

संस्कृति पर विचार करते हुए हमें सभ्यता के स्वरूप पर भी विचार करना पड़ेगा, क्योंकि ये दोनों धारणाएँ एक - दूसरे से सम्बन्धित हैं। संस्कृति और सभ्यता शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है, ये अर्थ इतने भिन्न और विविध हैं कि सुनकर बुद्धि विभ्रम में पड़ जाती है व साधारण मनुष्य की दृष्टि में ये दोनों शब्द मानव - व्यक्ति या मानव - समूहों की उपलब्धियों की ओर संकेत करते हैं। जब हम किसी व्यक्ति या समूह को सभ्य कहते हैं तब हमारा भाव प्रशंसा मूलक होता है। हम यह प्रकट करते हैं कि उनकी जीवन - विधियाँ श्लाघ्य हैं। साधारण लोगों की इस धारणा के विरुद्ध विद्वानों ने प्रथम सभ्यता और संस्कृति शब्दों द्वारा कुछ दूसरा ही अभिप्राय व्यक्त करते हैं। वे न तो इस बात पर सहमत हैं कि इन शब्दों का वाच्य पदार्थ क्या है, और न इस पर ही कि यह शब्द प्रशंसा - मूलक है। इन मत भेदों के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। प्रसिद्ध मर विज्ञानी टाईलर के मत में

1:- टार्लर, प्रिमिटिव कल्चर, भाग 1, पृ0 1
2:- एच0 जेवर, एन्थ्रापालॉजी, पृ0 292
3:- वही पृ0 292
4:- क्लॉ कोहिट्स, वही पृ0 625

सभ्यता और संस्कृति पर्यायवाची शब्द हैं।[1] इसके विपरीत ब्रानिस्ला मैलिनाउस्की का कहना है कि सभ्यता और संस्कृति शब्दों को पर्याय मानकर प्रयुक्त नहीं करना चाहिए, उनका प्रयोग भिन्न अर्थों में होना चाहिए। जैसी संस्कृति के एक खास पक्ष को सभ्यता कहते हैं।[2] इसके विपरीत श्री हुमायूँ कबीर के मत में संस्कृति सभ्यता की पलभूत है। उनका कथन है कि संस्कृति का जन्म तभी हुआ जब सभ्यता ने अस्तित्व की समस्या को हल कर दिया, अर्थात् जब सभ्यता ने मनुष्य को दैनिक जीवन की जरूरतों से मुक्ति दी।[3] इसी प्रकार मैकाइवर ने यांत्रिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था में अन्तर किया है। उनके अनुसार यांत्रिक व्यवस्था उपयोगिता का क्षेत्र है, और सांस्कृतिक व्यवस्था मौलिक मूल्यों का।[4] मैकाइवर का यह भी विचार है कि सभ्यता कई अर्थों में संस्कृति की विरोधिनी है। टायलर की भाँति हर्कोविट्स का विचार है कि सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के पर्याय हैं। वह कहते हैं कि संस्कृति के लिये एक शब्द है परम्परा और दूसरा सभ्यता।[5] प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी संस्कृति शब्द का प्रयोग करना पसन्द नहीं करते, उन्होंने सभ्यता शब्द का ही प्रयोग किया है। किन्तु उनकी सभ्यता की धारणा मैकाइवर की धारणा से उलटी है। वह सभ्यता और यांत्रिक व्यवस्था में तो अन्तर करते हैं ही, यह भी कहते हैं कि यांत्रिक उन्नति न तो सांस्कृतिक उन्नति के लिए जरूरी है, और न उसकी सहकारी है। उन का विचार है कि कभी - कभी यांत्रिक उन्नति सभ्यता के अवरोध तथा अवनति से सम्बन्धित रहती है। यांत्रिक प्रगति तथा सभ्यता की प्रगति में सहचार का अभाव है। इतिहास में ऐसा अक्सर हुआ है कि यांत्रिक प्रगति हो रही है, और सभ्यता की प्रगति या तो नहीं हो रही या उसमें अवनति हो रही है।[6] एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है कि कई जगह कृषि -शिल्प की उन्नति सभ्यता की अवनति से सम्बन्धित देखी गयी है।[7]

1:- टार्नर, एन्थ्रापालॉजी, पृ० ।

2:- एन्साइक्लो पीडिया आफ द सोशल साइन्सेज, भाग 4, पृ० 621

3:- हुमायूँ कबीर, आवर हैरिटेज, पृ० 6

4:- मैकाइवर, सोशल कांज़ेशन, अध्याय 10 पृ० 203

5:- एम०जे० हर्कोविट्स, "मैन एण्ड हिज़ वर्क्स", पृ० 17

6:- आर्नल्ड जे० टायनबी, ए स्टडी आफ हिस्टरी, संक्षिप्त संस्करण, पृ० 196

7:- वही पृ० 195

सैकड़ों हजारों वर्षों तक फैली रहती है जैसा कि चीन भारत तथा

इसी प्रकार ओस्वाल्ड स्पेंगलर का मत है कि सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है। हर संस्कृति की अपनी सभ्यता होती है। सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सभ्यता किसी संस्कृति की बाहरी, चरम, कृत्रिम अवस्था का नाम है। यदि संस्कृति जीवन है, तो सभ्यता मृत्यु, संस्कृति विस्तार है तो सभ्यता कठोर स्थिरता। सभ्यताएँ नैसर्गिक धरती के स्थान पर आने वाले कृत्रिम, प्रस्तर निर्मित नगर हैं जो "डोरिक" तथा "गोथिक" के आध्यात्मिक रोमांस का अन्त सूचित करते हैं। आदिम जंगल के जीव, बड़े देवदार महावृक्ष की भाँति से अपनी गणित शाखाएँ — A सैकड़ों हजारों वर्षों तक फैली रहती है। जैसा कि चीन भारत तथा इस्लामी देशों में दिखायी देता है।

अविकसित समाजों में संस्कृति और सभ्यता का भेद स्पष्ट नहीं होता, वहाँ मानव - जीवन के उपयोगी तथा निरुपयोगी सब पक्ष एक दूसरे से मिले रहते हैं। आदिम समाजों में वर्ग - विभाजन भी नहीं होता। किन्तु विकसित समाजों में वर्ग भेद स्पष्ट होने लगते हैं। कार्ल मार्क्स तथा टी०एस० इलियट जैसे विचारकों का मत है कि संस्कृति का विशिष्ट वर्गों से क्या सम्बन्ध होता है अर्थात् अपने विकसित रूप में संस्कृति नामक तत्व विभिन्न वर्गों के जीवन से सम्बद्ध हो जाता है।

श्री इलियट ने संस्कृति के विषय में तीन बातें कहीं हैं : प्रथमतः इलियट का कथन है कि व्यक्ति की संस्कृति समूह या वर्ग की संस्कृति पर, तथा वर्ग की संस्कृति उस सम्पूर्ण समाज की संस्कृति पर, जिसका वह वर्ग अंग है, निर्भर करती है।[2] दूसरे, इलियट ने संस्कृति के स्तरों की धारणा का निरूपण किया है जिसकी मदद से वर्ग - विशेष की संस्कृति पूरे समाज की संस्कृति से जुदा की जा सकती है। तीसरे, इलियट मानते हैं कि संस्कृति को संक्रांत करने का प्रधान मार्ग कुटुम्ब अथवा कौटुम्बिक जीवन है। "जब कुटुम्ब अपना कार्य करना बन्द कर देता है, जब वह संस्कृति - दाय से विमुख हो जाता है, तब संस्कृति का अधःपतन होने लगता है।" इलियट का विचार

1:- पी० एच० सारोकिन, "सोशल फिलासफीज़ आइ ऐज एज आफ क्राइसिस", : पृ० 77-78 पर उद्धृत।

2:- टी० एस० इलियट, नोट्स टुवर्ड द डेफिनिशन आफ़ कल्चर, पृ० 21

है कि कुटुम्ब मुख्य रूप में व्यक्ति को शिष्टाचार तथा रहन-सहन का तरीका सिखाता है। यह दोनों संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग हैं और आवश्यक रूप में सभ्य-जीवन से सम्बद्ध हैं।[1] संस्कृति के निर्माता शिष्ट लोग समाज के निम्न स्तर में भी आ सकते हैं। किन्तु फिर भी हर्सिट का विचार है कि ऐसे शिष्ट लोगों का वर्ग कायम रखा जाये जो सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र हों और जो कला और चिन्तन के क्षेत्रों में की जाने वाली सृष्टियों का उपयोग करें। ये शिष्ट लोग जो दूसरे वर्गों तथा सामाजिक स्तरों से आये हैं, अन्त में वह स्थायी शिष्ट वर्ग के अंग बन सकते हैं। लेकिन स्थायी शिष्ट वर्ग का अस्तित्व अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। वर्ग का मुख्य काम यह है कि वह शिष्ट व्यवहार के रूपों तथा मानों की रक्षा करे। सभी परिवारों और उनके सदस्यों का यह कर्तव्य है कि वे वर्ग की संस्कृति को सुरक्षित रखें, जब कि संस्कृति के निर्माताओं का यह कर्तव्य है कि वे उसे परिवर्तित करें। कुटुम्ब को चाहिए कि वह अपने सदस्यों में अतीत के महापुरुषों के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करे और साथ ही आगे आने वाली पीढ़ियों के प्रति ममत्व की भावना तथा उनके कल्याण की चिन्ता जागृत करे।[2]

संस्कृति को वर्ग की वस्तु मानने वाले कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त, टी० एस० हर्सिट के सिद्धान्त के विपरीत है। मार्क्स वादी अनुभव - जगत को दो भागों में विभक्त करते हैं: एक भौतिक वस्तु सम्बन्ध, और दूसरे चेतना, ज्ञान या विचार। मार्क्सवाद बौद्धिक चेतना अथवा मूल्यों को वस्तु सम्बन्धों पर आधारित बतलाता है। संस्कृति का सम्बन्ध सामाजिक चेतना से है और यह संस्कृति सामाजिक सत्ता पर निर्भर करती है। सामाजिक सत्ता से मतलब है भौतिक सामाजिक सम्बन्ध। सामाजिक रूप में सम्पत्ति का उत्पादन करते हुए मनुष्य कुछ निश्चित सम्बन्धों से सम्बन्धित हो जाते हैं। ये सम्बन्ध अनिवार्य होते हैं और विभिन्न व्यक्तियों के संकल्पों से निर्धारित नहीं होते। इन सम्बन्धों की समग्रता किसी समाज के आर्थिक ढाँचे को निर्मित करती है। यह आर्थिक ढाँचा असली आधार होता है जिस पर कानूनी तथा

1:- टी० एस० हर्सिट, मीनिंग ऑफ द डेफिनिशन आफ कल्चर, पृ० 22

2:- वही पृ० 44

राजनीतिक ढाँचा खड़ा होता है और जिसके सामाजिक चेतना के रूप स्थिर होते हैं। भौतिक उत्पत्ति के प्रकार सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक जीवन - व्यापारों का निर्धारण करते हैं।[1] मार्क्स की दूसरी मान्यता यह है कि हर युग में लोगों पर शासन करने वाले विचार प्रायः शासकों के विचार होते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए सिलनी हुक कहता है कि " समाज का वर्गों में विभाजन विभिन्न विचार - पद्धतियों को जन्म देता है : राजनैतिक, नैतिक , धार्मिक और दार्शनिक। ये विचार - पद्धतियाँ वर्ग - सम्बन्धों को प्रकट करती हैं, और वे या तो शासकों की शक्ति को पुष्ट करने वाली होती है या उन्हें निराधार प्रदर्शित करने वाली होती है। इस प्रकार विचार - पद्धतियों के बीच द्वन्द चलता रहता है। जिन्के हाथों में उत्पत्ति के साधन होते हैं, उन्हीं के हाथों में प्रचार के साधन भी होते हैं जैसे चर्च, प्रेस, और स्कूल। फलतः किसी समय में जो विचार प्रचलित होते हैं वे मौजूदा व्यवस्था को आधार देने वाले होते हैं।[2]

किसी विचार - पद्धति का मूल्यांकन करने का मार्क्सवादी तरीका ऐतिहासिक है। जब तक किसी संस्कृति को उत्पन्न करने वाला वर्ग स्वयं प्रगतिशील रहता है, तब तक उसकी संस्कृति भी प्रगतिशील रहती है। जब वह प्रगतिशील नहीं रहता, तब उसकी संस्कृति भी प्रगतिशील नहीं रहती, बल्कि मूल्यहीन हो जाती है। उदाहरण के लिये जब बुर्जुवा वर्ग ने सामन्ती व्यवस्था का विनाश किया उस समय वह प्रगतिशील और क्रान्तिकारी था। उस समय वह वर्ग सम्पत्ति का अधिक और दक्षता से उत्पादन कर रहा था। इतिहास के जिस युग में सामन्ती व्यवस्था छिन्न- भिन्न हो रही थी उस समय बुर्जुवा वर्ग की संस्कृति प्रगतिशील तथा महत्वपूर्ण दोनों थी। लेकिन इस समय, उपस्थित होते हुए मजदूर वर्ग की अपेक्षा, पूँजीवादी वर्ग और वह वर्ग संस्कृति जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, प्रतिक्रियावादी तथा अप्रगतिशील बन गये हैं। इस समय पूँजीवादी समाज की क्षमता वैसी नहीं है कि वे अधिक से अधिक सम्पत्ति का उत्पादन कर सके।

1:- देo कार्ल मार्क्स , क्रिटीक आफ पोलिटिकल इकानामी की प्रस्तावना।

2:- देo एन्थाक्लाजी पीडिया आफ द सोशल साइंसेज, सिलनी हुक का निबन्ध, मेटीरीयलिज्म, पृo 217 पर उद्धृत।

संस्कृति का क्षेत्र एवं उपयोगिता :-

वस्तुतः संस्कृति का अध्ययन इस बात को सिद्ध करता है कि मनुष्य केवल एक जीवन - सम्पन्न प्राणी ही नहीं है, मनुष्य उपयोगिता के परे के बाहर जाना चाहता है, और जा भी पाता है। मनुष्य अपने को ऐसे पदार्थों से सम्बन्धित करना चाहता है जिनका उसके जीवन की जरूरतों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। वह केवल उसी परिवेश को नहीं समझना चाहता, जो उसे चारों ओर से घेरे हुए है, उसकी जिज्ञासा समस्त ब्रह्माण्ड को आच्छादित कर लेती है। वस्तुतः मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अपने को, संक्षेप रूप में, चित्त की सम्पदा से सम्बन्धित करके जीवित रहना चाहता है। ऐसे ऐसे प्राणी के रूप में, जिसकी कुछ विशिष्ट जरूरतें हैं, मनुष्य सन्तुष्ट नहीं रह पाता, वह यह महसूस करना चाहता है कि वह समस्त ब्रह्माण्ड का अभिन्न है। यह कहने की बात है कि दुनिया का कोई भी बड़ा धर्म अथवा दर्शन नहीं है जिसने मनुष्य की पशु - सुलभ जरूरतों को पूरा करने की अपेक्षा सत्य, सौन्दर्य आदि की खोज को अधिक महत्व नहीं दिया है।

सांस्कृतिक क्रियाएँ वे हैं जो हमें ऐसी यथार्थ एवं कल्पित वस्तुओं के अनुचिन्तन में संलग्न करती हैं जिनका हमारी दैनन्दिन जरूरतों से कोई सम्बन्ध अथवा उनके लिये कोई उपयोग नहीं है। सांस्कृतिक क्रिया हमारी चेतना का विस्तार करती है, इसलिए वह नहीं कि वह विस्तार उपयोगी चीज है, बल्कि इसलिए कि उससे हमारे अस्तित्व का प्रसार होता है। संस्कृति वस्तुतः हमारे अवधान के कणों की सृष्टि है। वह हमारे मन तथा बुद्धि की उस क्षमता में उत्पन्न होती है जिसमें हम दैनन्दिन स्वार्थों से मुक्त होकर स्वतंत्र भाव से मूल्यों के जगत में विचरण करते हैं।

जिसे हम मनुष्य का व्यावहारिक जीवन कहते हैं वह निरन्तर उसके सांस्कृतिक व्यक्तित्व से प्रभावित एवं गठित होता रहता है। वस्तुतः सांस्कृतिक जीवन में लगातार उपयोगी एवं निरुपयोगी सत्यों की क्रिया - प्रतिक्रिया होती रहती है। एक ही जरूरत कई तरह से पूरी की जा सकती है। संस्कृत व्यक्ति अपनी जरूरत को ऐसे ढंग से पूर्ण करता है कि उसकी पूर्ति के साथ किसी सुंदर मूल्य का भी जन्म हो जाये।

एक संस्कृति व्यक्ति के जीवन में बहुत सी उपयोगी क्रियाएं एकत्रित कार्यक्रम का भी बनाए जाती हैं जिनका उद्देश्य वांछित मूल्यों एवं आदर्शों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार संस्कृति जीवन के भावुकी कार्यकलापों को एक नये सौन्दर्य से मंडित करती है। एक अलभ्य जैसी मनुष्य के लिए नारी एक ऐसी चीज है जो उसकी विशिष्ट जैसी आवश्यकता को पूरा करती है, किन्तु एक संस्कृत व्यक्ति की दृष्टि में, जिसका मस्तिष्क कवियों और दार्शनिकों के सम्पर्क में घटित हुआ है नारी उन सब लक्षणों की प्रतीक बन जाती है जो कि सुन्दर तथा शोभन हैं, उसकी दृष्टि में नारी सम्पूर्ण माधुरी तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य की मूर्ति दिखायी देती है और सृष्टि के मधुर रहस्य भी प्रतिभासित होती है।

किसी व्यक्ति की सांस्कृतिक चेतना वह मूल्य - चेतना है जिसका निर्माण उसके सम्पूर्ण बोध के अनु आलोक में होता है। सांस्कृतिक चेतना जितनी मूल्य-चेतना है उतनी ही तथ्य - चेतना भी है। यह चेतना यथार्थ तथा संभाव्य को अविभक्त रूप में ग्रहण करती है। मनुष्य लगातार जीवन की कई संभावनाओं का चित्र बनाता रहता है। यह संभाव्य चित्र ही वे मूल्य हैं जिनके लिये वह जीवित रहता है। जिन आदर्शों एवं मूल्यों को लेकर मनुष्य जीवित रहता है उनकी गरिमा और सौन्दर्य उस मनुष्य के सांस्कृतिक महत्व का भाव प्रस्तुत करते हैं।

सार - रूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति वस्तु - जगत के उन पदार्थों की जीवंत एवं शक्तिपूर्ण चेतना है जो, उपयोगी न होते हुए भी, अर्थवान होते हैं, लाभदायक न रहते हुए भी महत्व रखते हैं। इस प्रकार की चेतना से सम्पन्न होकर मनुष्य अपने को वस्तु - जगत की परतन्त्रता के क्रम से मुक्त कर लेता है और उसका प्रवेश मूल्यों के जगत में हो जाता है, जहाँ मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता का साम्राज्य है। इस जगत् में पहुँचकर मनुष्य उन चीजों से सम्पृक्त हो जाता है जिनका सम्बन्ध उसकी विशुद्ध आध्यात्मिक सत्ता से है।[1] इस आत्मिक सत्ता की जरूरतें मनुष्य की उन

1:- डा० देव राज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० 176

इकाइयों से जिनका सम्बन्ध उसकी जीव - प्रवृत्ति से है कम महत्वपूर्ण नहीं होती, अपितु कभी - कभी अधिक महत्वपूर्ण होती हैं।

इस प्रकार हमने संस्कृति के स्वरूप निर्धारण के अन्तर्गत जिन तत्वों को स्वीकृत किया है उनका निवर्तन, धर्म, नीतिशास्त्र या आचार नीति, तथा धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूतियों में उपलब्ध होता है। किसी साहित्यिक कृति के सांस्कृतिक अध्ययन के लिये इन सन्दर्भों का अध्ययन अपेक्षित है। पूर्वपीठिका के रूप में इन सब पक्षों का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया जाना गुप्त कालीन काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन के लिये आवश्यक है।

दार्शनिक पक्ष :-

धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत डा० देवराज ने एक स्थान पर उल्लेख किया है कि "धर्म सांस्कृतिक अनुभूति का विश्लेषण, व्याख्या या उसे मूल्यांकित करने का प्रयत्न है।[1] जिसे हम सांस्कृतिक अनुभूति कहते हैं उसकी दो मुख्य विशेषताएं हैं, प्रथमतः वह विषयोगी होती है अर्थात् स्वयं अपना साध्य होती है, दूसरे सांस्कृतिक अनुभूति प्रायः प्रतीक रूप में उपलब्ध होती है। धर्म का सम्बन्ध उस अनुभूति से नहीं है जो विभिन्न पदार्थों के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। यह अनुभूति संस्कृति नहीं होती। सांस्कृतिक अनुभूति अथवा क्रिया का सम्बन्ध उन प्रतीक - विधानों से होता है जिनके द्वारा मनुष्य यथार्थ के विभिन्न, अर्थात् पदार्थों को चेतना में संचित एवं व्यवस्थित करके उनका मनन करता है — अर्थात् उन क्रियाओं से जो उसके अस्तित्व का साधन न होते हुए उसके आत्मिक जीवन को विस्तार देती हैं। अतः धर्म का विषय वे क्रियाएं नहीं हैं जो दृश्यमान जगत का चित्र निर्माण करती हैं, अपितु वे क्रियाएं हैं जो मनुष्य के आन्तरिक जीवन को निर्मित करती हैं।[2] इस दृष्टि से धर्म को ज्ञान - ज्ञान कहा जा सकता है। क्योंकि दार्शनिक वक्तव्यों का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य के

1:- डा० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० 258
2:- वही पृ० 302

आन्तरिक, सांस्कृतिक जगत से होता है इसलिए उन वक्तव्यों को बाह्य निरीक्षण द्वारा प्रमाणित अथवा अप्रामाणित नहीं किया जा सकता।[1] इस दृष्टि से हम दर्शन को मानवीय आत्मा का वर्णनात्मक अध्ययन, अथवा मानवीय संस्कृति का समीक्षात्मक वर्णन कह सकते हैं। दर्शन वह प्रयत्न है जिस के द्वारा मानव - संस्कृति आत्मचेतना प्राप्त करती है।

दर्शन सांस्कृतिक चेतना के विभिन्न रूपों की सामान्य विशेषताओं का विश्लेषण और परीक्षण करता है। दर्शन का मुख्य उद्देश्य यह है कि विभिन्न अनुभव - क्षेत्रों से सम्बद्ध विचारकों के स्वीकृत मन्तव्यों और अन्वेषण-पद्धतियों में सामंजस्य स्थापित करे। यथार्थ की विभिन्न प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध में, जिन्हें मानव - मस्तिष्क इकट्ठा कर लेता है उस मस्तिष्क की बोधात्मक क्रिया को निर्विरोध अथवा आत्मसंगत बनाना दार्शनिक चिन्तन का विशेष प्रयोजन है। दर्शन मानवीय चिन्तन को सुसम्बद्ध तथा संगत बनाने की ओर प्रयत्नशील रहता है।

ब्रह्माण्ड के बीच मनुष्य का जीवन दो विरोधी मांगों का संघर्ष - केन्द्र बना रहता है। एक ओर उसकी आत्मिक कल्पना शक्ति की ऊँची मांगें हैं, और दूसरी ओर उसके चारों ओर फैली हुई वास्तविकता की नीरस जकड़ें। मनुष्य एक पूर्ण जीवन की कल्पना करता है और उसे यथार्थ बनाने के लिये अपना सब कुछ दाँव पर लगा देता है। फिलासफी या दर्शन उस आन्तरिक खोज की अभिव्यक्ति है जो एक उच्चकोटि के मस्तिष्क और सशक्त कल्पना में निहित होती है। सांस्कृतिक दृष्टि से तत्व दर्शन का मुख्य उपयोग यह है कि वह मनुष्य की बोध - कल्पना तथा मूल्य कल्पना को अधिकाधिक उत्तेजित करे। दर्शन हमारे सामने अणु तथा विराट जगत के अंतिम रूपों को उपस्थित करता है, जीवन की अंतिम संभावनाओं एवं दृष्टियों की उद्भावना करता है, और जीवन तथा जगत् के अंतिम सम्बन्धों की ओर हमारा

1:- ह्वाईट हेड्स, फार्म ऑफ थिंकिंग, तृतीय संस्करण, पृ० 131

ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रकार धार्मिक हमें जीवन की कुछ स्थितियों से ऊपर उठा कर विश्व - ब्रह्माण्ड की कल्पना के केन्द्र में स्थापित कर देता है। दूसरी कोई भी क्रिया, यूह - ज्ञान - विज्ञान खोजशास्त्र और खुफ्फीसों का अध्ययन करने वाला प्राणि शास्त्र भी, हमारे मन में विस्मय पूर्ण आनन्द की वैसी व्यापक भावना नहीं जगा सकते जैसी कि धार्मिक जगाता है। धार्मिक क्षण में जो चेतना उत्पन्न करता है वह जीवन को उच्चतम कोटि की तृप्ति देती है।

नैतिक मूल्य :-

नैतिक चिन्तन के क्षेत्र में अधिकांश मतभेदों का केन्द्र यह प्रश्न है कि व्यक्ति के लिये चरम लक्ष्य साध्य या मूल्य, अर्थात् उच्चतम श्रेय, क्या है। दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर बहुत विचार किया है कि कहाँ तक व्यक्ति को समाज के लिए अपने हितों का बलिदान करना चाहिए। विभिन्न क्षेत्रों तथा युगों के विचारकों ने आदर्श मनुष्य के विभिन्न चित्र प्रस्तुत किये हैं : प्लेटो का "दार्शनिक शासक, अरस्तू का " मध्यमी व्यक्ति", स्टोइकों का "विवेकी पुरुष", गीता का "स्थितप्रज्ञ", बौद्धों का "बोधिसत्व", ईसाइयों का "संत" नीत्से का " अतिमानव" ये सब आदर्श - पुरुष की विभिन्न कल्पनाएँ हैं। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न समीचीन है कि क्या नैतिक व्यवहार का कोई सार्वभौम नियम है ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमें मनुष्य के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक तथ्यों को याद रखना पड़ेगा। मनुष्य जटिल प्राणी की बहुत तरह की जरूरतें होती हैं और वह प्रत्येक जरूरत को अनेक ढंगों से पूरा करता है। मनुष्य की जरूरतों की यह विभिन्नता और, विभिन्न परिस्थितियों में, उनकी पूर्ति के उपायों की अनेकता का एक परिणाम यह होता है कि विभिन्न जनसमूहों में विभिन्न जरूरतें ज्यादा महत्व - पूर्ण बन जाती हैं। इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि विभिन्न मनुष्य भिन्न 2 ढंगों से सुखी तथा दुखी बन जाते हैं। लेकिन इन भिन्नताओं के बावजूद विभिन्न मनुष्यों के लिये यह संभव होता है कि वे एक दूसरे की सुख दुख सम्बन्धी स्थितियों से सहानुभूति कर सकें। जीवन के मुख्य मूल्य दो हैं : एक जरूरतों के व्यापक से सन्तोषा, और दूसरा

व्यक्तियों का खेलना - मुख्य विस्तार।[1] ये कुछ मनुष्य की उन क्रियाओं द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं जिन्हें हम सभ्यता तथा संस्कृति कहते हैं।

वस्तुतः आधार - धर्म की सभ्यता और संस्कृति के सामान्य विश्लेषण में अलग नहीं किया जा सकता।

आर्थिक अथवा साधन पक्ष :-

प्रेट के अनुसार धर्म में दो तत्व होते हैं :- एक चिन्तनात्मक और दूसरा व्यावहारिक। एक ओर तो धर्म में मनुष्य से उच्चतर अलौकिक शक्तियों में विश्वास रहता है, और दूसरे, उन शक्तियों को प्रसन्न करने के लिये तरह - तरह के अनुष्ठान किए जाते हैं।[2] मनुष्य देवताओं को प्रसन्न करने के लिये प्रयत्न करता है क्योंकि उसे यह विश्वास रहता है कि देवता लोग उसके हितों को आगे बढ़ा सकते हैं। मैलिनोव्स्की का कथन है :- " यह सिद्ध किया जा सकता है कि धर्म का मनुष्य की कुछ ऐसी आवश्यकताओं से आत्यन्तिक सम्बन्ध रहता है, यद्यपि यह सम्बन्ध सीधे दिखायी नहीं देता।[3] उनके मत में धर्म - चेतन विचार अथवा चिन्तन में उत्पन्न नहीं होती, - वह प्रति क्षण में ही जन्म लेती है। उसका जन्म जीवन की यथार्थ, दुखपूर्ण स्थितियों में होता है, अर्थात् मनुष्य की योजनाओं और यथार्थ के विरोध में।[4]

प्रेट ने इस मन्तव्य का स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि धर्म वैज्ञानिक दृष्टि के विकास में एक सोपान मात्र है। धर्म की उत्पत्ति जादू - टोने से होती है, और जब जादू - टोने से काम नहीं चलता, तो विज्ञान का उदय होने लगता है। मानव चिन्तन का विकास, कुल मिलाकर, जादू - टोने से धर्म की ओर, और धर्म से विज्ञान की ओर हुआ है, इस तरह से धर्म प्रकृति का व्याख्या रूप होता है जो क्रमशः विज्ञान द्वारा स्थानच्युत कर दिया जाता है।[5] फ्रेजर भी धर्म को

1:- डा0 देव राज : संस्कृति का दार्शनिक विश्लेषण, पृ0 296

2:- डा0 देव राज, उनका विरचित "संस्कृति का दार्शनिक विश्लेषण, इलाहाबाद पृ0 343

3:- एन्साइक्लोपीडिया आफ़ द सोशल साइन्सेज, वाल्यूम, पृ0 642

4:- वही

5:- डा0 देव राज द्वारा पृ0 343 पर उद्धृत

एक प्रकार की भ्रान्ति मानता है। धर्म का जन्म मनुष्य की इच्छाओं में होता है। हर मनुष्य में एक इच्छा यह होती है कि उसकी रक्षा करने वाला एक पिता हो। ईश्वर की कल्पना भी प्रायः जात - पिता के रूप में की गयी है। एक ऐसी शक्ति का व्यावहारिक जीवन के व्यवहारों के समक्ष हो निरिच्छ बनाता है, तथा वह नैतिक व्यवस्था की स्थापना करके हमारी न्याय की माँग को पूरा करता है, ऐसी माँग जो सामाजिक संस्कृति में प्रायः अपूर्ण रह जाती है, और इसी के अस्तित्व का परलोक में विस्तार उसके अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिये देशकाल का आधार उपस्थित कर देता है।[1] मैलिनाउस्की का विचार है कि मनुष्य की मूल जरूरतें उसकी दैवी प्रवृत्ति से सम्बद्ध हैं। फ्रायड के अनुसार ये जरूरतें मनुष्य की मनोवैज्ञानिक तथा दैवी दोनों प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हैं। किन्तु यह बात मैलिनाउस्की को भी स्वीकार है कि आर्थिक विकास जीवन को अनुमति देने वाले होते हैं, और इस प्रकार उनका सांस्कृतिक महत्व होता है।[2]

संस्कृति के दार्शनिक पक्ष, आधार पक्ष तथा धार्मिक पक्ष का इस प्रकार अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि मानवीय अनुभवों के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान दार्शनिक सिद्धान्तों को दिया गया है। इसी क्षेत्र में संस्कृत व्यक्ति स्वयं तथा परम के सम्बन्ध में विचार करता है। स्वयं की परिधि में वह आत्मा, आत्मा के अन्य सम्बन्धों से सम्बन्ध, परमात्मा तथा उसके स्व - ज्ञान मन और मनोविकार, शरीर और उसमें निवासित चेतना के सम्बन्ध में विचार करता है। 'परम' की सीमाओं में प्रकृति और सृष्टि में अपना अस्तित्व, प्राकृतिक विकार, योग और कुछ सहयोगी मूल - प्रवृत्तियाँ, उसके चिन्तन का केन्द्र बनती हैं। प्रत्येक पक्ष का चिन्तन सांस्कृतिक उत्थान का कारण है। लक्ष्य करने की बात यह है कि चिन्तन क्षेत्र में हर बार, मनुष्य किसी पूर्व - निरिक्षित प्रदेय का आधार लेकर चलता है। आत्मा- परमात्मा सम्बन्धी उसका समूचा चिन्तन

1:- ब्रिग्मन्ट फ्रायड, द फ्यूचर आफ् ऐन इल्यूजन, पृ० 92

2:- बी० मैलिनाउस्की, "मैजिक, साइंस ऐन्ड रिलीजन" पृ० 33

किसी मूल सत्ता के अस्तित्व की मान्यता पर आश्रित है। मनोविकारों, मूल - प्रवृत्तियों और शारीरिक - प्रतिक्रियाओं सम्बन्धी विचार से पूर्व वह मन इसी प्रदेय को स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार प्रवृत्ति पर विचार करते समय मनुष्य मूल - तत्व तथा आदि जीव - धारी के प्रदेयों को मानकर चलता है। अभिप्राय यह है कि विषय के प्रति किसी की अभिवृत्ति बनाने से पूर्व कोई न कोई प्रदेय विद्यमान रहता है। यह प्रदेय जितना महत्वपूर्ण होगा, अभिवृत्ति उतनी ही उन्नत होगी और उसका मूल्य भी उतना ही ऊँचा पाटित होगा। और जितने ऊँचे मूल्य की उपलब्धि होगी, उतनी ही उन्नत संस्कृति का निर्माण होगा।

प्रस्तुत योजना में सर्वोच्च प्रदेय मूल सत्ता के अस्तित्व का है। इसे परमात्मा आदि अनेक नाम दिए गए हैं। इस प्रदेय पर किया गया चिन्तन धर्म है और विश्वास एवं श्रद्धा धर्म की कोटि में आते हैं। अभिप्राय यह है कि धर्म का विश्वास - पक्ष ही धर्म है और यही विषय का उच्चतम मूल्य होने के कारण संस्कृति का विशिष्टतम अंग है।

धर्म का मूल्यांकन करने की दो प्रणालियाँ - प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हैं - एक अनुभवातीत तर्कातीत प्रणाली तथा दूसरी अनुभवातीत रहस्यात्मक प्रणाली। प्रथम द्वारा हमें क्रम - व्यवस्था के बहुत से ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा दूसरे से प्रायोगिक साधन मिलते हैं। प्रथम विधायिक - मूल का विश्लेषण है और दूसरा वहाँ पहुँचने का मार्ग बतलाता है।[1] इस मूल्यांकन से प्रमाणित होता है कि मानवीय अनुभवों के सैद्धान्तिक विकास में अध्यात्म धर्म का स्थान सर्वोच्च है। उसका उत्तरोत्तर के उन्नतिक्रम का प्रकार है - पदार्थिक ज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान, दार्शनिक ज्ञान और अन्त में आध्यात्मिक "स्व" से सम्बन्धित तत्व - ज्ञान। यही धर्म - धर्म मानव - मूल्यों का साध्य है, शेष सब साधन हैं। यही जीवन का उच्चतम अनुभव है और इसी के समुचित मूल्यांकन से संस्कृति सरीखे समष्टि - प्रतीकों में भी वैयक्तिकता के धर्म होते हैं। सर्वोच्च मूल्य के रूप में आध्यात्मिक मूल्य निम्न मूल्यों से ऊँचा होता है। इसी के कारण उनके विरोधाभास का विनाश होता है, उनमें पड़े अन्तर को धार्मिक - मूल्य ही पूरा करते हैं,

---

1:- डी० एस० सान्याल: "धर्म" ऐस इन्टीग्रेशन, पृ० 72

उन्हें सौपानिक - क्रम में रखते हैं, परन्तु कभी उन्हें नष्ट नहीं करते। धर्म अपने से निम्न मूल्यों को साधन और साध्य दोनों रूपों में पवित्र और सुरक्षित रखता है। यह उन्हें सौ पवित्रता और उन्हें सार्थक करता है।[1] अतः स्पष्ट है कि धर्म संस्कृति की मूल्योपलब्धियों में सर्वोच्च स्थान रखता है, और सामाजिक - जीवन में संतुलन लाने और बनाए रखने के लिए समस्त सांस्कृतिक मूल्यों में अग्रणी है।

टी० एस० इलियट धर्म और संस्कृति को एक वस्तु के ही दो पक्ष मानता है। उसके लिए समाज की धार्मिक - धारणा ही संस्कृति में अवतरित होती है।[2] क्योंकि इलियट सामान्यतः जीवन को जीने योग्य बनाने वाले उपकरणों को ही संस्कृति स्वीकार करता है।[3] अतः उसका कथन है कि " समाज का समूचा जीवन - पथ, जन्म से मृत्युपर्यन्त, सूर्योदय से सूर्यास्त और निद्रा की प्रगाढ़ता में भी, धर्म का ही एक पक्ष है और यही पक्ष संस्कृति भी है। साथ ही यहाँ ध्यान इस बात का रखने की आवश्यकता है, कि यदि इनमें तादात्म्य हो जाये तो यथार्थ समाज में अध्यात्म और संस्कृति दोनों निम्न स्तर पर पहुँच जाते हैं। निश्चय ही सार्वभौमिक धार्मिक धारणा किसी जाति या वर्ग विशेष की सीमाओं में बन्धे धर्म से श्रेष्ठ होगी, और वह संस्कृति जो अन्य संस्कृतियों द्वारा उपलब्ध धर्म को अपनाती है, निश्चय ही उस संस्कृति से उत्तम है, जो किसी धार्मिक धारणा को मात्र अपने तक ही सीमित रखना चाहती है। अतः धर्म और संस्कृति में एक पक्ष से तादात्म्य स्थापित करते हुए भी हमें दूसरे पक्ष में उनमें पृथकता स्थापित करनी होगी।[4] * वास्तव में ये दोनों अवधारणाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं, उनमें कोई तादात्म्यता नहीं। प्रत्येक धार्मिक - धारणा अपने स्तर - विशेष से जीवन को आदर्श रूप से सार्थक करती है, संस्कृति के लिए आधार प्रस्तुत करती है और मानव जीवन को शील और निरामयता से सुरक्षित रखती है।[5]

1:- डी० एस० सान्याल: "कल्चर" ऐज इन्टीग्रेशन, पृ० 8।
2:- टी० एस० इलियट : नोटस टुवार्डस द डिफिनेशन ऑफ कल्चर, पृ० 28
3:- वही पृ० 27
4:- वही पृ० 31
5:- वही पृ० 34

अंगीकारित संस्कृति प्राय: समाज के लिये बल संचय करती है। विश्वास और कर्तव्य बल बल के दो पक्ष हैं। ऐसे में प्रत्येक व्यक्ति से जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार विश्वास पूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करने की आशा की जाती है। इसी से व्यक्ति की उदार संस्कृति - निर्माण में सहायक होती है —— महाभारत में श्री कृष्ण ने धर्म को ही महान् और पोषक बताया है।[1] धर्म - पालन से ही व्यक्ति में दक्षता और कौशल पनपता है। यह प्रवीणता ही व्यक्ति का लक्ष्य है, समष्टि का लक्ष्य संस्कृति की उपलब्धि है। व्यक्तियों की प्रवीणता ही मिलकर संस्कृति की उपलब्धि का आधार बनती है और विश्वास तथा कर्तव्य का बल वैयक्तिक प्रवीणता में सहयोगी होने के कारण संस्कृति की पृष्ठभूमि बन जाता है। यह बल धर्म का ही दूसरा नाम है।

धर्म अनुभव का विषय है। यह किसी सुषुप्ति की जागृतावस्था नहीं, बल्कि व्यक्ति की उत्तरोत्तर उन्नति का परिचायक है। इसे मनुष्य की बौद्धिक परिधि की अभिवृद्धि नहीं कहा जा सकता। अबौद्धिक सर्वात्मक व्यक्तित्व के विकास का नाम धर्म है। इसे " ब्रह्मदर्शन" अर्थात् " यथार्थ" की अन्त: प्रेरणा कहते हैं, जो कि मूल्यों के विश्व के प्रति प्रत्यक्ष - चेतना का रूप होती है।[2]

संस्कृति और साहित्य :-

किसी जाति का साहित्य उसके शताब्दियों के चिन्तन का फल होता है। साहित्य पर भिन्न भिन्न कालों की संस्कृति का प्रभाव अनिवार्य है। इस लिये किसी भी जाति में के साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये उसकी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है। इसी तरह साहित्य की स्पष्ट समझ के लिये उसका सांस्कृतिक अध्ययन भी भी काफी मूल्यवान सिद्ध हो सकता है। " हर्ष चरित " और " कादम्बरी " के सांस्कृतिक अध्ययनों ने इस उपयोगिता को बड़ी सफलता से सिद्ध किया है। संस्कृति

1:- नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजा: ॥ उद्योग पर्व 137: 9 ॥

2:- डा० एस० राधाकृष्णन् : इन्डोजर्मन: दि कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया, खण्ड 1, पृ० 24

अपने जातीय साहित्य में अभिव्यक्त होती है क्योंकि साहित्यकार की व्यक्तित्व का निर्माण समाज की पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियों के बीच होता है, जिसका कि वह अभिन्न अंग है। उस समाज में ही विभिन्न प्रकार के संस्कारों से उसका बाह्य और अन्तर पुष्ट होता है। फिर व्यक्तित्व और कृतित्व का गहरा नाता है क्योंकि साहित्य का कर्ता यह व्यक्तित्व ही है। इसीलिये व्यक्तित्व की विशेषताएं साहित्य में अनिवार्य रूप से उजागर हो उठती हैं। इस प्रकार संस्कृति एक ओर तो कवि या कलाकार की अन्तर निधि बन जाती है और दूसरी ओर साहित्य को भी अमर बना देती है। महान् साहित्यकार अपने साहित्य में संस्कृति को यथातथ्य प्रस्तुत करता है। इस अर्थ में संस्कृति ही साहित्य की प्राणधारा है क्योंकि समूचा साहित्य मनुष्य के उन्नत एवं परिष्कृत संस्कारों द्वारा ही निर्मित होता है। साहित्यका सांस्कृतिक अध्ययन इस दृष्टि से बहुमूल्य सिद्ध होता है।

साहित्य मानव की सर्वोत्तम कृति है। मानव के व्यक्तित्व का निर्माण इस संस्कृति द्वारा ही होता है। मनुष्य जिस स्थान में भोजन - पोषण पाता है उसके वातावरण का उसके व्यक्तित्व पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है। समाज केवल कुछ व्यक्तियों का एकत्रीकरण मात्र नहीं, वरन् एक जीवन संघात है। इसीलिये साहित्यकार के व्यक्तित्व में संस्कृति की * विशेषताएं गुंथी रहती हैं। व्यक्तित्व की ये विशेषताएं ही उसके साहित्य में प्रतिफलित होती हैं। अतः साहित्य एवं संस्कृति का अनिवार्य एवं अटूट सम्बन्ध है। महान् साहित्यकार अपने साहित्य में संस्कृति को भव्य रूप में प्रस्तुत करता है। जिससे वह आगामी पीढ़ियों का मार्गदर्शन कर सके।[1]

1:- * हमारी प्राचीन संस्कृति महान थी और कालिदास जैसे महान् साहित्यकार ने उसे अपने साहित्य में पिरोया ही नहीं, अपनी लेखनी की कला और कौशल से उसे भव्य रूप देकर विश्वव्यापी भी बना दिया। *
डा० राजेन्द्र प्रसाद, पत्र, भारतीय संस्कृति, पृ० 2

गुरु नानक काव्य का साहित्यिक अध्ययन

तृतीय अध्याय :-

गुरु नानक - काव्य : तत्व दृष्टि

तृतीय अध्याय :-

गुरु मान्य काव्य लक्ष दृष्टि :-

चर्क्षि शब्द दृश्, धातु से करण अर्थ में क्त्रि प्रत्यय लगाकर बना है। दृश्यते अनेन इति चर्क्षिस् अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये वह चर्क्षि है। यहाँ अब यहाँ देखना है कि "देखा जाये" इस पद का साक्षात अर्थ "ज्ञान प्राप्त किया जाये" भी हो सकता है या नहीं। ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनेक उपाय हैं, परन्तु विवक्षनीय उपाय है, " प्रत्यक्ष अर्थात् आँख से देखना। प्रत्यक्ष के भी इन्द्रियों के भेद से पाँच भेद है, जिनमें चक्षुष इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही ज्ञान सब से बढ़कर प्रामाणिक होता है। इसलिये जहाँ ज्ञान की प्रामाणिकता और दृढ़ता के सम्बन्ध में विशेष बल देना है, वहाँ "चर्क्षि" शब्द का ही प्रयोग उचित है और जिसके द्वारा देखा जाये अर्थात् जो आँख से देखा जाये, वही उसका साक्षात अर्थ करना उचित है। देखना चक्षुओं के द्वारा ही हो सकता है, अन्य इन्द्रियों से नहीं।

कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृतिक या लौकिक या आध्यात्मिक जगत् के बहुत से तत्व अत्यन्त सूक्ष्म है। उन्हें चक्षु के द्वारा देखना संभव नहीं है। इसलिये चर्क्षि शब्द का "ज्ञान प्राप्त किया जाये" यही अर्थ करना उचित है, परन्तु स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थ चर्क्षि शब्द के विषय हैं और परमतत्व की प्राप्ति के लिये दोनों का साक्षात्कार आवश्यक है। इसलिये वार्त्तिक, न्याय- सैद्धान्तिक आदि स्थूल दृष्टि

1:- वेदिक उपाध्याय, भारतीय चर्क्षि, पृ० 3

वाले दर्शनों में सूक्ष्म पदार्थों के देखने के उपाय कहे गये हैं। किन्तु यहाँ यह कह देना उचित होगा कि सूक्ष्म पदार्थों को देखने के लिये प्रत्येक मनुष्य में एक विशेष चक्षु होता है, जिसे साधारणतया "प्रज्ञा चक्षु" कहा जाता है। गीता में बताया गया है कि विराट रूप को देखने के लिये श्री कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य चक्षु भी दिया था। दर्शन के लिये हमें दोनों प्रकार के चक्षुओं की आवश्यकता होती है। स्थूल तत्वों को स्थूल नेत्र से तथा सूक्ष्म तत्वों को सूक्ष्म नेत्रों से देखते हैं। यही कारण है कि उपनिषदों में "दृश" धातु का ही प्रयोग किया गया है, और यही भाव "भारतीय दर्शन" के "दर्शन" शब्द में भी है। बिना चक्षु (चाक्षुष) प्रत्यक्ष के किसी भी तत्व का ज्ञान निरिक्षण रूप से नहीं हो सकता।

दर्शन के सम्मुख अनेक प्रश्न होते हैं, यथा हम कौन हैं? यह विश्व क्या है? यह कैसे बना? इसे किसने बनाया? क्या सबके मूल में एक ही तत्व या अनेक? उस तत्व से मनुष्य तथा अन्य प्राणी का क्या सम्बन्ध है? जीवन का क्या उद्देश्य है आदि प्रश्न दर्शन की समस्याएं हैं। दर्शन इन सब का उत्तर देता है और विवेचन करता है।

दर्शन भारतीय लोक जीवन का प्राण रहा है। प्राचीन काल ही से सहस्त्रों वर्षों तक यहाँ के साधकों, विचारकों एवं आचार्यों ने घोर - तपश्चर्या का अनुसरण करके दार्शनिक तथ्यों का उद्घाटन किया तथा धर्म एवं तत्व ज्ञान को जीवन के लिये अत्यावश्यक बताया।

कर्मानुसार सुख - दुःख का भोग करने के लिये जीव इस को संसार में आना पड़ता है। दुःख से सर्वथा अदृष्ट होने के कारण शुद्ध सुख इस संसार में नहीं है। अतः यह संसार दुःख मय है और जितने जीव यहाँ आते हैं, सभी किसी न किसी प्रकार के दुःख से आजीवन चिन्तित रहते हैं। दुःख से छुटकारा पाने के लिये सभी प्रयत्नशील रहते हैं। जब तक दुःख से छुटकारा नहीं मिल जाता, तब तक ये प्रयत्न भी चलते ही रहते हैं तथा जब जीव को दुःख से छुटकारा मिल जायेगा उसी क्षण जीव की समस्त क्रियाएं स्थगित हो जायेंगी और वह सदा के लिये जन्म और मरण से मुक्त हो जायेगा। जीवन का यही परम लक्ष्य है और यही दर्शन शास्त्र का परम तत्व है जिसके प्रतिपादन के लिये तथा जिस पद की साक्षात अनुभूति के लिये भारतीय दर्शनों का प्रतिपादन किया गया है।

परम तत्व का साक्षात्कार भारतीय दर्शन का प्रमुख उद्देश्य बन गया। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य,[1] अर्थात् आत्मा ही को जानो तथा इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,[2] अर्थात् उस आत्मा को जान में जानना ही परम लाभ है, आदि वाक्य दार्शनिकों के मे उद्घोषित किये।

इस प्रकार जीवन और दर्शन का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जीवन तथा दर्शन दोनों का अस्तित्व एक ही कारण और एक ही आधार पर आधारित है।

परमतत्व का सैद्धान्तिक रूप तो दर्शन ग्रन्थों में मिलता है, किन्तु उसका व्यावहारिक रूप तो जीवन ही में मिलता है और ये दोनों ही रूप मिलकर हमें उस परमतत्व के पूर्णरूप का अनुभव कराते हैं और इस भाँति जीवन और दर्शन एक ही हो जाते हैं।

भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक दो विभागों में विभक्त किया गया है। वेद को प्रमाण मानकर अपने मत का प्रतिपादन करने वाले तथा ईश्वर में विश्वास रखने वाले दर्शनों को आस्तिक कहा जाता है और वेदों को प्रमाण न मानकर उनका विरोध करने वाले को नास्तिक कहा जाता है। माधवाचार्य के अनुसार ये नास्तिक इसलिये कहलाते हैं कि ये वेदों को नहीं मानते।[3]

भारतीय दर्शन शास्त्र विभिन्न दार्शनिक मतों का प्रतिपादन करते हुए तथा विचारों एवं सिद्धान्तों में परस्पर विरोधी विचारधारा देते हुए भी साधना - साधन तथा आचरण में एक ही हैं। व्यावहारिकता के क्षेत्र में परस्पर वे समान भाव वाले हैं।

भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म का, तत्व ज्ञान तथा भारतीय जीवन का गहरा सम्बन्ध रहा है। क्रियात्मक रूप से सन्तप्त जनता की शान्ति के लिये, अज्ञान - अन्धकार से आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति के लिये, ही भारत में दर्शन - शास्त्र का

1:- बृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4/5

2:- केनोपनिषद् 2/5

3:- नास्तिको वेदनिन्दकः। भारतीय दर्शन के पृ० 3 पर उद्धृत।

आविर्भाव हुआ है। इस प्रकार विचार शास्त्र सुधी जनों की कमनीय कल्पना ही नहीं, अपितु उसका व्यावहारिक महत्व भी रहा है। अन्य क्षेत्रों में विचार-शास्त्र तथा धर्म में पारस्परिक सम्बन्ध का अभाव ही लक्षित होता है, परन्तु भारत में दोनों का सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ है। धर्म - शास्त्र के द्वारा सुविनिश्चित आध्यात्मिक तथ्य ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है। बिना तार्किक आधार के द्वारा कार्यान्वित हुए धर्म की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता असंतिष्ठित है। इन दोनों का जितना सामंजस्य भारतवर्ष में दिखायी देता है, उतना अन्य क्षेत्रों में नहीं।

गुरु नानक भारतीय संस्कारों में जन्मे और पोषित हुए थे। भारतीय चिन्तना की अटूट धारा के पालन - हेतु में उन्होंने भी मज्जन और पान किया था। भले ही वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित, विचारक या शास्त्रज्ञ न रहे हों, परन्तु उनमें भारतीय संस्कार अक्षय विद्यमान थे। भारतीय विचारों से उनका परिचय अनुभवजन्य था, इसीलिये वे पंडिताऊ शास्त्रार्थ की सीधे चर्चा न करते हुए जीवन - जगत की समस्याओं का निराकरण करने के लिये अपनी वाणी का प्रतिपादन किया करते थे। फिर भी इस प्रकार उनकी विचारधारा की पृष्ठभूमि में भारतीय दार्शनिक तथ्य से विद्यमान रहता था। ऐसी स्थिति में गुरु वाणी में विद्यमान दार्शनिक अध्ययन के अभाव में भी दार्शनिक सम्बन्धी तथ्यों की व्यवस्था एवं मूल्यांकन होना स्वाभाविक ही है।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है कि गुरु नानक की दार्शनिक विचारधारा के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। ग्रेलिफ पिन्काट[1] जैसे कुछ विद्वानों का मत है कि गुरु नानक के ऊपर इस्लाम का प्रभाव अधिक है। किन्तु ट्रम्प[2] जैसे कुछ विद्वानों का मत है कि गुरु नानक पूर्णतः हिन्दू थे।

1:- ग्रेलिफ पिन्काट - डिक्शनरी ऑफ इस्लाम। परशुराम चतुर्वेदी द्वारा उत्तरी भारत की सन्त परम्परा में उद्धृत पृ० 340।

2:- डॉ० ट्रम्प - दि आदि ग्रन्थ - इन्ट्रोडक्शन, पृ० 91-118

332551

PANJAB UNIVERSITY LIBRARY

उन्हें और इस्लाम का जो थोड़ा सा प्रभाव दिखाई देता है, वह उस सूफी मत के कारण है जो वस्तुतः वेदान्त के एकात्मवाद से ही अनुप्राणित है। डबर की मेकालिफ[1] का मत है कि ये इस्लाम तथा हिन्दुत्व दोनों से परे एक नितान्त नये मत के प्रचारक थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन सभी विद्वानों की धारणाओं में सत्यांश है, किन्तु एक विशिष्ट धर्मांश और उसके विशिष्ट प्रभाव के क्षेत्र में बन्द रहने के कारण वे गुरु नानक के साथ पूरा पूरा न्याय नहीं कर सके हैं। इस सम्बन्ध में सन्त साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य परशुराम चतुर्वेदी[2] के विचार उल्लेखनीय हैं। उनका कथन है कि उक्त तीनों लेखकों ने सिख धर्म का अध्ययन अपने ढंग से किया था और उसके रहस्यों को समझने के प्रयत्न भी किये थे। किन्तु प्रचलित प्रथा का अनुसरण करने के लिये सिखों को छोड़कर नानक देव तथा उनके अनुयायियों को किसी धर्म विशेष के क्षेत्र में डाल रखना उचित समझा। फलतः उन से भी वैसी भूल हो गई जैसी कि इनके कबीर साहब के सम्बन्ध में लिखने वाले कई विद्वानों की रचनाओं में देखी है।*

गुरु नानक की वाणी में व्यक्त दार्शनिक तत्वों का अध्ययन करने से पूर्व हमें स्पष्टतया इस बात को समझ लेना चाहिये कि वे न तो कोई ऋषि थे और न ही उन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना की थी। उनके जीवन - चरित और वाणियों का अध्ययन बताता है कि वे अपने समय की धार्मिक स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्हें धारणा थी कि धार्मिक दृष्टि से समाज सत्य से दूर जा रहा है। अपने व्यक्तिगत चिन्तन और साधना के द्वारा वे इस निश्चय पर पहुँचे कि जब तक हम किसी विशिष्ट आध्यात्मिक जीवन के आदर्श को अपने सामने नहीं रख लेते और उसके अनुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न नहीं करते, तब तक कल्याण की धारा नहीं की जा सकती। चिन्तन और साधना के मार्ग पर चलते - चलते अनुभव द्वारा उन्हें आध्यात्मिक जीवन के उस विशिष्ट आदर्श की झाँकी मिल गयी जिसके लिये वे प्रयत्नशील थे। इस क्षेत्र में उन्हें किसी अनुश्रुतियों ही उनकी मार्ग दर्शिका थी। अनुश्रुति की इस महत्ता को स्वीकार करते हुए परशुराम जी चतुर्वेदी[3] ने लिखा है:-

---

1:- एम० ए० मेकालिफ - दि सिख रिलीजन, भाग 2 पृ० 10

2:- उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० 34

3:- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी- श्री गुरु ग्रन्थ साहिब -बलराम सिंह भूमिका पृ० 7

उन्होंने अपने मन्तव्य को स्वयं निजी अनुभूतियों द्वारा सिद्ध किया था। ये उन पर अपनी गहरी आस्था रखते थे तथा उनके अनुसार चलने के लिये सब को परामर्श देते रहते थे। " गुरु नानक ने अनुभव किया था कि जगत के सौन्दर्य - मण्डन, दार्शनिक ऊहापोह और विचार के जगत को छोड़कर सिक्ख धर्म के सम्मुख जैसा मार्ग प्रस्तुत किया जाये जिसमें आचरण की पवित्रता तथा कर्म व भावना की पवित्रता को सब से अधिक महत्व प्राप्त हो। इस प्रकार हम आगे चलकर देखेंगे कि गुरु नानक की दार्शनिक मान्यताएँ पूर्ण व्यावहारिक धरातल पर व्यक्त की गयी हैं। सामान्यतः दार्शनिक चिन्तन विशिष्टता से सम्बद्ध होता है। जीव - जगत् सम्बन्धी जिज्ञासायें, ब्रह्म - जीव सम्बन्धी परम और सूक्ष्म के कार्य - कारण की छान-बीन व्यक्तिगत चिन्तन - मनन के अन्तर्गत आती हैं। इसी कारण दार्शनिक चिन्तन शैलियों का सम्बन्ध युग- विशेष की सांस्कृतिक चेष्टाओं से रहता है। इस प्रकार सांस्कृतिक अध्ययन के अन्तर्गत हम नानक वाणी के दार्शनिक तत्वों को स्पष्ट करने में लिये, ब्रह्म, जीव, जगत, माया इन चार तत्वों का विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे।

ब्रह्म :-

पारमार्थिक सत्य, परमतत्व, अन्तिम सत् एवं परम अस्तित्व को ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। मनुष्य में विचार - शक्ति के उदय के साथ ही एक पार - मार्थिक सत्य की भी कल्पना की गयी है। अपने चारों ओर प्राकृतिक उपकरणों से आश्चर्यान्वित होकर, रोग, पीड़ा और मृत्यु की विवश स्थितियों से क्षोभाकुल होकर तथा मलीन प्रवृत्ति के जन्मादि से खिन्नोन्मत होकर मानव ने यह अनुमान किया होगा कि इन समस्त दृष्ट - अदृष्ट पदार्थों के पीछे कोई अज्ञात रहस्यात्मक शक्ति अवश्य है जो सबका संचालन, नियन्त्रण तथा विनाश करती है। यही भावना ब्रह्म की कारण के रूप में निहित है। यही कारण है कि विश्व के उपलब्ध प्राचीनतम साहित्य में ब्रह्म विषयक कल्पनाओं का विपुल भंडार विद्यमान है। ऋग्वेद[1] के ऋषि का कथन है कि

1:- ऋग्वेद :- 8/7/17/3

उस रस के मध्य में और उसके परे केवल एक शान्त स्वरूप स्वयंभू भगवान् विराजमान थे और उन्होंने उस अन्धकार में सर्ग को प्रकट किया और अपने तप से अर्थात् अपनी ज्ञानमयी शक्ति के संचालन से सृष्टि की रचना की । यही नहीं, वेदों में हम किसी अन्य सत्ता या वस्तु की सार्वत्रिक सत्ता की उपस्थिति में ईश्वर को कर्ता मानने से लेकर उसको ही सृष्टि का निमित्तोपादान कारण तथा केवल एक ही सत्य की स्थिति में पहुँचा हुआ तक देखते हैं ।[1]

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में निर्गुण ब्रह्म का सर्वोत्तम चित्रण है जिस मूल सत्ता से सब कुछ उत्पन्न हुआ है, जो सर्वथा अव्यय है जिसे न सत् कहा जा सकता है, न असत् ।[2]

उपनिषदों में "आत्मैवा इदमेक एवाग्र आसीत्" अथवा "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"[3] आदि ईश्वर-विषयक उद्गारों की सर्वत्र प्रचुरता है । तैत्तिरीयोपनिषद् में उस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और विकास तथा उस सम्पूर्ण जगत् के लय के कारण को ब्रह्म कहा गया है ।[4] ब्रह्म ही पूर्ण है, सब कुछ वही है, वह सब प्रकार से पूर्ण है ।[5] यही एक ब्रह्म है अजर, अविनाशी, अमर और अजन्मा ।[6] ब्रह्म एक ही है दूसरा नहीं है ।[7] ~~उसका ब्रह्म की है~~ वह अरूप, अव्रण, अक्षत, अकाय और अदोष है ।[8] यह विश्व उसी की छाया है ।[9] इस प्रकार ब्रह्म का व्यक्त, अव्यक्त, निर्गुण, निराकार, अजन्मा, अकर्ता आदि स्वरूप में उपनिषदों ने वर्णन किया है ।

1:- ऋग्वेद 8/7/3/1, 8/7/16/1, 8/3/18/3, 10/3/17/3
2:- ऋग्वेद 10·129·1·
3:- केनोपनिषद् . 1·1·1
4:- तैत्तिरीयोप निषद् . 3·1·
5:- ईशोपनिषद् शान्ति पाठ
6:- बृहदारण्यक उपनिषद् 2·3·19
7:- छान्दोग्य उप० 6·2·1·
8:- बृहदारण्यक उप० 3·8·8
9:- वही 4·4·19

भगवद् गीता में भगवान कृष्ण का कथन है कि ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर अपनी माया से प्राणिमात्र को यन्त्र पर आरूढ़ की भाँति घुमा रहा है।[1] इस ग्रन्थ में ब्रह्म के व्यक्त, अव्यक्त तथा व्यक्ताव्यक्त आदि स्वरूपों का वर्णन किया गया है। भागवत महापुराण में ब्रह्म का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि वह एक ही आत्मा पुराण पुरुष, सर्व प्रकार स्वरूप, अनन्त, सबका आदि कारण, नित्य, अविनाशी, निरन्तर, सुखी, माया से निर्लिप्त, अखण्ड, अद्वितीय, निरपेक्षिक तथा अमर है।[2]

वर्तमान के धार्मिक विकास में ब्रह्म के ज्ञान के विषय में पर्याप्त विवेचन हुआ है। ब्रह्म के अस्तित्व, उसके स्वरूप, उसके कार्य और उसकी आवश्यकता आदि को लेकर भारतीय दर्शनों में पर्याप्त मतभेद रहा है। भारतीय दर्शनों की आस्तिकता तथा नास्तिकता का मापदण्ड ब्रह्म की सत्ता में विश्वास तथा अविश्वास नहीं रहा है। यहाँ पर दर्शनों सब का अस्तित्व या नास्तिक होना वर्तमान विश्लेष वेदों को प्रामाण्य मानने या न मानने पर निर्भर रहा है। वेदों की प्रामाणिकता तथा अलौकेयत्व स्वीकार कर लेने के पश्चात् , ईश्वर का न मानना एक आत्मविरोधी विश्वास मात्र रह जाता है।[3]

मध्यकालीन भक्ति के सन्दर्भ में ईश्वर सम्बन्धी धारणा पर वेदान्ती विचारधाराओं ने अत्यधिक प्रभाव डाला है। अतः वेदान्ती शंकर ने ब्रह्म ही को पारमार्थिक सत्ता कहा है। उनका कथन है - "जिसका स्वरूप सदा सर्वदा, अखण्ड रूप में एक ही सा बना रहे वही पारमार्थिक सत्ता हो सकती है।[4] वह अनन्त, निर्गुण, निरपेक्ष, निर्विशेष एवं शाश्वत है।[5] ब्रह्म सत्य और अनन्त ज्ञान स्वरूप है।

1:- गीता : 18•61

2:- भागवत पुराण : 10•14•23•

3:- तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् ।। पातंजल योगसूत्र : 1•25•

4:- शांकर भाष्य : 2•1•14

5:- तैत्तिरीयोपनिषद् : 2•1•

विशिष्टाद्वैत दर्शन में ब्रह्म चित् और अचित् दोनों तत्वों से युक्त है। वह एक मात्र तत्व है, उसके पृथक् किसी वस्तु की सत्ता नहीं। ब्रह्म में जो जीवन और प्रकृति हैं, वे भी वास्तविक हैं। यही रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत है क्योंकि उनके अनुसार चित् एवं अचित् अंगों से विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्म एक ही है। ब्रह्म सजातीय तथा विजातीय भेदों से परे है, परन्तु उसमें स्वगत भेद है। वह अनन्त गुणों का भंडार है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, कृपालु तथा दयालु है।

द्वैताद्वैत दर्शन में, परमात्मा, क्षेत्रज्ञवर, ब्रह्म, पुरुषोत्तम एवं भगवान आदि नाम ब्रह्म के पर्याय हैं। यह तत्व अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश इन पांचों दोषों से भिन्न है। यह अन्य पदार्थों से भिन्न तथा अभिन्न दोनों ही रूपों से द्वैत भी और अद्वैत दोनों ही कहा जाता है।

वल्लभाचार्य के मत से ब्रह्म की महिमा अकथनीय है। जो अणु से भी अणुतर है, वही महान् से भी महत्तर है।[1] ब्रह्म अनेक रूप होकर भी एक है, परम स्वतन्त्र होने पर भी वह भक्तों के अधीन है। यह संसार लीला-निकेतन ब्रह्म की विविध लीलाओं का विलास मात्र है और साथ ही वास्तविक भी है।

गुरु नानक मूलतः एक भक्त-कवि थे। वे युगान्तरकारी महापुरुष थे। लोक चिन्तन में प्रचलित ब्रह्म की विभिन्न धारणाओं का स्वरूप उनके सम्मुख स्पष्ट था लेकिन निर्गुण - परम्परा में पड़ने के कारण वे ब्रह्म के उसी रूप को स्वीकार कर सके जो उनकी लोक मंगल साधना तथा उनकी भक्ति के लिये अभीष्ट था। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उन्होंने ब्रह्म के विभिन्न नामों के भेदों के विवाद पर प्रहार किया। उनका कथन था - " हमें परमात्मा के किसी मुख्य नाम की खोज करते अथवा उसे निर्धारित करते समय सबसे पहले यह समझ लेना चाहिए कि संसार में अथवा उसके बाहर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसका सम्बन्ध उसके साथ न हो और जिस कारण वह उसका परिचय अपने आप न दे रही हो। जहाँ कहीं भी हम देखने का प्रयत्न करें वहीं उसका नाम विद्यमान है। जितनी भी सृष्टि है, वह सब कुछ उसका नाम है।

1:- अणोरणीयान् महतो महीयानु कठोपनिषद : 1•2•20•

बिना उसके नाम के कोई भी जाह खाली नहीं।"[1] यही कारण था कि उन्होंने केवल "सत्तिनाम" द्वारा अपने ब्रह्म को सम्बोधित किया - जिसका भावार्थ है: सर्व - व्यापी सत्ता। वह घट - घट व्यापी है। उसे सम्बोधन करने के लिये किसी भाषा की आवश्यकता नहीं। उन्होंने हिन्दू मुसलमान दोनों धर्मों में प्रयुक्त होने वाले तथा निर्गुण सगुण दोनों उपासनाओं में व्यवहृत नामों को स्वीकार कर लिया। गुरु नानक उन अनुभवी साधकों में से थे, जिन्होंने परमात्मा का साक्षात् अनुभव प्राप्त कर लिया था और जो यह भी समझ चुके थे कि परमात्मा केवल अनुभव की वस्तु है। शब्दों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति असंभव है। गुरु नानक के मतानुसार जिन्होंने परमात्मा के ब्रह्म का रसास्वादन किया है, वही उस स्वाद को जानते हैं। परन्तु जैसे गूंगे के लिये मिठाई के स्वाद का वर्णन करना असंभव है, वैसे ही परमात्म - रस के स्वाद का वर्णन कठिन है।[2] अनेक मनुष्य उस परमात्मा के सम्बन्ध में सुन सुनकर कई प्रकार के वर्णन करते हैं, परन्तु सुनने और कहने से परमात्मा का अन्त नहीं पाया जा सकता। अलक्ष्य परमात्मा जिसको स्वयं अपना - आप लक्षित करा देता है, उसे ही अकथनीय का कथन करने की बुद्धि प्राप्त हो सकती है।[3]

इस प्रकार परमात्मा को अनिर्वचनीय ही कहा जा सकता है। वह मन और वाणी का विषय नहीं है। उसकी केवल अनुभूति की जा सकती है। जब भी उसका वर्णन किया जाता है असफलता ही हाथ आती है। वह इन्द्रियातीत है, अकथ और अवर्णनीय है।" चाहे कोई कितना ही सोचता रहे, लाखों बार सोचने पर भी वह विचार में नहीं आ सकता। उधर मौन रहने से भी समस्या हल नहीं होती। क्योंकि चाहे कोई कितनी ही एकाग्रता से ध्यान करें, मौनावस्था में भी मन में कोई न कोई प्रश्न उठता ही रहता है।[4] किन्तु अकथ होने पर भी लोग

1:- जपुजी पउड़ी 19 आदि ग्रन्थ पृ0 4

2:- जिनि चाखिआ सेई सादु जाणनि जिउ गूंगै मिठिआई।
अकथे का किआ कथीऐ भाई पालै सदा रजाई।। सोरठे, अष्टपदी 1/6 पृ0636

3:- सुणि अखे केती वाणी। सुणि कहिऐ को अलख न जाणी।
जा कउ अलख लखाए आपे अकथ-कथा बुधि ताका है। |माझ,सोलहे।2/6|पृ0।020

4:- सोचै सोचि न होवई,जे सोची लख वार।
चुपै चुपि न होवई,जे लाइ रहा लिवतार।। जपुजी,पउड़ी 1,पृ0 1

उसके सम्बन्ध में कुछ न कुछ कहते ही रहते हैं।" कोई उसकी शक्ति के गीत गाता है तो कोई गुणों का। कोई उसे दूर बहुत दूर बताता है तो कोई निकट। उसके सम्बन्ध में करोड़ों व्यक्तियों ने कहा और बारम्बार कहा किन्तु उसकी कथनी का कोई पार नहीं मिलता।" [1] गुरु नानक का कथन है कि उस परमात्मा के नाम और धाम अनन्त हैं। उसके लोक भी अनन्त हैं और वे सभी अगम्य हैं। जो उसका वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं वे मानों सिर पर पत्थर ढोते हैं। यह उनका अहंकार ही है जो उस वर्णनातीत का वर्णन करने का दंभ करते हैं। ग्रन्थों के सहारे हम उसका नाम लेते हैं और स्तुति करते हैं। ग्रन्थों के द्वारा हम सत्य का विचार करते हैं तथा उसका गुणगान करते हैं। ग्रन्थों से हम सच्ची को लिखते और बोलते हैं। और उन्हीं के सहारे हम उसके तथा अपने सम्बन्धों का वर्णन करते हैं।" भाग्य पर जो अंक लिख दिये गये हैं उन्हीं से भाग्य का हिसाब लगाया जाता है। किन्तु लिखे- जिसने उन अंकों को लिखा है वह सीमा से परे है।" [2] वह अमोल है। उसका वर्णन करते नहीं बनता। वर्णन कर - कर भी अन्त में चुप हो जाना पड़ता है। वेदों और पुराणों का पाठ करने वाले उसका वर्णन करते हैं और बड़े बड़े पण्डित उसकी व्याख्या करके समझाते हैं। ब्रह्मा और रुद्र उसका वर्णन करते हैं। गोपियां, कृष्ण और शिव भी उसका वर्णन करते हैं। इसी प्रकार गोरखनाथ और सिद्ध भी उसका वर्णन करते हैं। जिन अनेक बुद्धों को उसने रचा है वे भी उसका वर्णन करते हैं देव्य, देवता, सुर, नर, मुनि और भक्त जन सभी उसके विषय में कहते हैं। अनेक कह रहे हैं और अनेक कहने का प्रयत्न करते हैं। तथा जितने ही कहते कहते उठ जाते हैं। जितने व्यक्ति उसने रचे हैं उतने ही यदि वह और रच डाले तो भी कोई उसका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकेगा। वह जितना चाहे बड़ा

1:- गावै को ताणु होवै किसै ताणु, गावै को दाति जाणै नीसाणु।
गावै को गुण वडिआईआ चार, गावै को विदिआ विखमु वीचार ॥
जपुजी पउड़ी ३, पृ० २

2:- असंख नाव असंख थाव।
अगम अगम असंख लोअ, असंख कहहि सिरि भारु होइ।
जपुजी पउड़ी १०, पृ० ४

हो सकता है। एक मात्र वह स्वयं ही जानता है कि वह कितना बड़ा है, किन्तु यदि कोई बकवादी कहने लगे कि वह इतना बड़ा है तो उसे गँवार से भी गँवार समझना चाहिए।[1] दूसरों से सुन सुन कर सब कोई कहते हैं कि वह बड़ा है किन्तु क्या किसी ने देखा भी है कि वह कितना बड़ा है। उसका मोल न तो आँका जा सकता है, न कहा जा सकता है। जिन्होंने कहने का यत्न किया वे भी उसी में लीन हो गये। कोई नहीं जानता कि उस महान गंभीर की स्पर्शेखा का कितना बड़ा विस्तार है। यदि सारे ध्यानी मिलकर उसका ध्यान करें, "सारे मोल आँकने वाले मिलकर उसका मोल आँकें और सारे तत्वज्ञानी, सिद्ध- सिद्धा पुरुष, गुरु और बड़े बड़े गुरु मिलकर उसका वर्णन करने लगें तब भी वे उसकी बड़ाई के एक अणु का वर्णन नहीं कर सकेंगे।"[2] समुद्र में यदि बूँद है और बूँद के भीतर समुद्र है तो उसे कौन जान भी कैसे सकता है? वह तो आप को ही आप स्वयं पहचानता है। यदि इस प्रकार का आत्म-ज्ञान किसी को हो सके तो निस्सन्देह परमार्थ की प्राप्ति तथा मुक्ति की उपलब्धि हो सकती है।[3]

गुरु नानक देव के अनुसार वह मन, इन्द्रिय अथवा वाणी का विषय नहीं है। उसका न कोई नाम है, न रूप। वह बाह्य मनस से परे है। क्योंकि अमूर्त एवं अनुपम होने कारण न तो बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है न वाणी उसका वर्णन कर पाती है। उसकी इस अनिर्वचनीयता को उन्होंने ज्ञानमार्गियों की निषेधात्मक शैली में व्यक्त करते हुए कहा है "वह अलख है, अपार है, अगम है, इन्द्रियों से परे है। न उसका काल है न कर्म न जाति न अजाति। वह अयोनि है, स्वयंभू है।

1:- अमुलो अमुल आखिआ न जाई, आखि आखि रहे लिव लाई।
आखहि वेद पाठ पुराण, आखहि पढ़े करहि वखिआण। जपुजी, पउड़ी 26, पृ 05-6

2:- सुणि वडा आखे सब कोई, केवडु वडा डीठा होई।
कीमति पाइ न कहिआ जाइ, कहणै वाले तेरे रहे समाइ।।
रागु आसा महला 1, पृ0 349

3:- सागर महि बूँद बूँद महि सागरु अकथु कथे विधि जाणै।
उलभु चलत आपि करि चीने आपे तत पछाणै।। रागु रामकली पृ0 878

उसमें न किसी प्रकार के भास हैं न भ्रम , न रंग है न रेखा । उसके न माता है न पिता, न पुत्र न भाई । न उसकी कोई स्त्री है, न उसमें काम ही है । वह अकुल है, निरंजन है, अपार है । चारों ओर उसका प्रकाश व्याप्त है ।[1] गुरु नानक का कथन है — "उसके सहस्त्र नेत्र हैं फिर भी वह नेत्रहीन है । उसके सहस्त्र रूप हैं फिर भी वह रूप विहीन है । उसके सहस्त्र निर्मल चरण हैं फिर भी वह चरणा विहीन है । उसके सहस्त्र नासिकाएँ हैं फिर भी वह घ्राण विहीन है ।[2] इस प्रकार गुरु नानक को ब्रह्म का यह अरूप या अनिर्वचनीय स्वरूप ही मान्य था । इस स्थापना की पुष्टि गुरु जी के एक अन्य कथन से भी हो जाती है, जिसमें वह उल्लेख करते हैं कि मैं उस सत्य स्वरूप परमात्मा पर अपने - आप को न्योछावर करता हूँ जिसका कोई रूप, रंग, चिन्ह, माता, पिता, पुत्र, बन्धु, काम भोगना अथवा नारी नहीं है ।[3] उसका अन्त पाने के लिये वेद थक गए और अन्ततः उन्होंने एक स्वर होकर कहा,[4] जो बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार "नेति नेति" है ।[5] ब्रह्म की इस अनिर्वचनीयता को गुरु जी ने अपनी वाणी के अनेकों प्रकरणों में स्पष्ट किया है ।

1:- अलख अपार अगम अगोचर ना तिसु कालु न जमा ।
जाति अजाति अजोनी संभउ ना तिसु भाउ न भरमा ।।
सोरठ महला । पृ0 599

2:- जपजी महला । आरती आदि ग्रन्थ , पृ0 663

3:- साचे साहिब तिसु कुर साणु ।
ना तिसु रूप वरनु नहीं रेखिआ साचे सचदि नीसाणु ।
न तिसु मात पिता सुत बंधप न तिसु कामु न नारी ।
सोरठ पदे 6/2 पृ0 599

4:- ओहु अोड़कु भालि थके वेद कहनि इक बात ।।
जपु पउड़ी 22 , पृ0 5

5:- बृहदारण्यक कोपनिषद — 2/3/6

नानक वाणी में "ओंकार", शब्द के माध्यम से भी परमसत्ता ब्रह्म की अभिव्यक्ति की गयी है। गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित सिख पंथ के मूल मन्त्र का यह पहला शब्द है।[1] उपनिषदों में भी अनेक स्थलों पर ओंकार को ब्रह्म का वाचक मानते हुए ओंकार से ही सारी सृष्टि का विकास माना गया है।[2] गुरु कवि का भी कथन है कि ओंकार से ब्रह्म की उत्पत्ति हुई है, ओंकार का ही उसने अपने मन में चिन्तन किया है। ओंकार से ही पर्वतों, पुरों और वेदों की रचना हुई। ओंकार शब्द के द्वारा ही व्यक्ति का उद्धार होता है। अजर ही तीनों लोकों का सार तत्व है।[3] यह ओंकार रूप से निराला और विलक्षण तत्व है, अगर और अयोनि है। न उसकी कोई जाति है और न ही सांसारिक पुरुष का जाल उसको अपने वश में कर सकता है। यह अजन्म और अगोचर है। न उसका कोई रूप है और न ही उसकी कोई रेखा है। खोजने पर यह घट - घट में विद्यमान मिलता है।[4]

नानक वाणी में "शब्द" का अत्यधिक महत्व बताया गया है। "ओंकार" की भांति "शब्द" के भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गुरु नानक ने भारत की समस्त पौराणिक साधना को हृदयंगम कर लिया था। दार्शनिक सम्बन्धी धारणाओं को उनके परम्परागत रूप में ग्रहण करते हुए उन्होंने उनमें मौलिक- नवीन तथा मौलिक उद्भावनाओं का समावेश किया। "शब्द" भी समस्त भारतीय वाङ्मय में अनेक मनीषियों द्वारा ब्रह्म के पर्याय के रूप में वर्णित किया गया है। कठोपनिषद में बताया गया है कि

1:- ੧ ओंकार आः गु. ग्रं.।

2:- छान्दोग्योपनिषद् 2/23/3

3:- ओ ओंकारि ब्रह्मा उत्पति। ओ ओंकार कीआ जिनि चिति।
ओ ओंकारि सेल जुग भए। ओ ओंकारि वेद निरमाए।
ओ ओंकारि सबदि उधरे। ओ ओंकारि गुरमुखि तरे।
उत्तम अजर सुथानु बीचारु। उतम अजरु जिसरणि तारु।
रामकली ॥ ओंकार। पृ० 929

4:- एकम एकंकार निराला। अमर अजोनी जाति न जाला।
अगम अगोचर रूपु न रेखिआ। खोजत खोजत घटि घटि देखिआ। जिनाक्षर चिनी। पृ०838

शब्द ब्रह्म के ज्ञान से मनुष्य मनोवांछित कामनाएं, पूर्ण कर सकता है।[1] मां डूक्योपनिषद में शब्द को ओंकार रूप में अभिव्यक्त किया गया।[2] शंकर के ब्रह्म सूत्र भाष्य में ओंकार की उपासना के सन्दर्भ में शब्द का वर्णन किया गया।[3] गोरखनाथ ने तो शब्द की अपार महिमा का वर्णन किया है। उनका कथन है कि शब्द ही सर्वस्व है, यही तागा है, यही कुंजी है और इसी से ज्ञान की प्राप्ति होती है। शब्द से ही शब्द का परिचय मिलता है और शब्द का अन्त भी शब्द में ही होता है।[4] इसी प्रकार नानक वाणी में भी शब्द की महिमा का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है। उनका कथन है शब्द ही गुरु है, पीर है, गहर और गंभीर है। शब्द के बिना सारा संसार अंधेरा घुप्पा दिखता है।[5] इसके बिना और सब मोह का गुबार है।[6] शब्द में पर विचार करने से व्यक्ति निराकार के समान हो जाता है।[7] जो व्यक्ति शब्द द्वारा अपने अहंकार को मार देता है उसका अपने वास्तविक रूप में निवास हो जाता है और आवागमन समाप्त हो जाता है।[8] इस जगत में शब्द में लीन होना ही उत्तम और श्रेष्ठ करनी है।[9] समस्त कर्म - धर्म, शुचिता-संयम, जप-तप, तीर्थ स्नान आदि शब्द में आते हैं।[10]

1:- कौषीतकि : 1/2/16

2:- माण्डूक्योपनिषद : मंत्र।

3:- ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य : 1•3•28

4:- सबदहिं तागा सबदहिं कूंची, सबदहिं सबद जगाया।
सबदहिं सबद सूं परदा घुला, सबदहिं सबद समाया। गोरखबानी, पृ0 8

5:- सबदु गुर पीरा गहिर गंभीरा बिनु सबदे जगु अंधेरा। सोरठ, अष्टपदी 1/8 पृ0 635

6:- परभाती, पदे 1/7 पृ0 1327

7:- रामकली अष्टपदी : 3/4 पृ0 903

8:- सबदि मरै बिनु भिन्न करि जाना।
आवै न जावै घुचै आपा।। गउड़ी, अष्टपदी 1/7 पृ0 223

9:- परभाती, पदे : 1/7 पृ0 1327

10:- परभाती, पदे : 16/4 पृ0 1328

गुरु नानक ने निर्गुण ब्रह्म का शून्य के रूप में भी चित्रण किया है। उन्होंने शून्य को ब्रह्म का पर्यायवाची मानते हुए लिखा है कि शून्य सबके अन्दर और सबके बाहर व्याप्त और निर्गुण में छा रहा हुआ है। इस शून्य को जो व्यक्ति सोचे पद अर्थात् सत्संगत्व के द्वारा जानता है, वह पाप-पुण्य के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। समस्त शरीरों में निर्गुण और व्यापक ब्रह्म का भेद जो व्यक्ति जानता है, वह आदि पुरुष निरंजन का ही रूप है।[1] मारुराग में गुरु नानक ने ब्रह्म को शून्य का रूप मानते हुए उल्लेख किया है कि वह सृष्टि के पूर्व निश्चिंतिय अवस्था वाला था और उस ब्रह्म ने पवन, सृष्टि आदि की उत्पत्ति की, ब्रह्मा, विष्णु और महेश को उत्पन्न किया। जिसे ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि जैसे सात सरोवरों की स्थापना हुई, पृथ्वी और आकाश की रचना हुई, रात और दिन का निर्माण हुआ, सुखों और दुःखों की व्यवस्था हुई, आदि। इस शून्य का भेद गुरु द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जो इस भेद को जान जाता है उसको किसी प्रकार का सांसारिक रोग व्याप्त नहीं होता। परन्तु गुरु के द्वारा कोई विरला व्यक्ति ही इस सीढ़ी पर चढ़ना जानता है और जो इस सीढ़ी पर चढ़ना जान लेता है, वह पुनः-पुनर्जन्मों से मुक्ति की भावना में पूर्णतया लीन होकर मुक्त हो जाता है।[2] गुरु नानक ने इस अवस्था को "सुंन समाधि" की अवस्था कहा है।* सुंन समाधि का स्पष्टीकरण करते हुए गुरु -कवि ने उल्लेख किया है कि यह वह अवस्था है जिसमें कतिपय भाग्यशाली लोग ही अपनी "लिव" लगाते हैं। ये केवल नाम रूप शब्द का ही विचार करते हैं। उस अवस्था में धरा, धन, धरती, आकाश, आदि कुछ भी नहीं हुआ होता, वह स्वाभाव की अवस्था है।

1:- अलखि सुंनु बाहरि सुंनं त्रिभवण सुंनसुंनं।
घटे घटे जो नर जाणे ता का पापु पुणं।
घट घटि सुंनु का जाणै भेउ। आदि पुरखु निरंजन देउ।
जो जनु नाम निरंजन राता। नानक सोई पुरखु बिधाता। आसकी,
सिंघ गोसटि ,5। पृ0 943

2:- मारु, सोलहे 17/1-13 पृ0 1022

उसमें केवल स्वयं अलख ही होता है और अन्य सब कुछ उसी का उत्पन्न किया हुआ है।[1]

नानक वाणी में ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिये निरंजन शब्द का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर किया गया है। प्राचीन समय से ही निरंजन शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिये किया जाता रहा है।[2] उपनिषदों में यह शब्द सामान्य रूप और प्रभु के विशेष अर्थों में हुआ है।[3] "हठयोग प्रदीपिका" में यह निर्गुण चैतन्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।[4] सिद्धों और नाथों की परम्परा में पहले वाले सन्तों ने अपनी वाणी में निरंजन को परमाराध्य के रूप में स्वीकार किया है।[5] गुरुवाणी में निरंजन शब्द का प्रयोग सामान्य तथा विशिष्ट दोनों अर्थों में हुआ है। यहाँ निरंजन ब्रह्म का वाचक भी है तथा निर्लिप्त माया का अर्थ भी देता है। गुरु नानक ने निरंजन शब्द का प्रयोग अपनी वाणी में निर्गुण, निराकार, अलख, परात्पर ब्रह्म के लिये किया है क्योंकि वह अपरम्पार निरंजन कुलरहित है, उसकी ज्योति स्वतंत्र दिव्यमान है।[6] उसका न कोई रूप है न कोई जाति है, न मुख आदि अंग है और न ही माँस का शरीर है। उस निरंजन ब्रह्म की प्राप्ति सद्गुरु के मिलने पर होती है।[7] गुरु के वचन द्वारा साधक अव्यक्त ब्रह्म में समा जाता है और तत्पश्चात निरंजन सहज रूप से प्राप्त हो जाता है।[8] भयरहित योगी उस निरंजन

1:- सुनि समाधि रहहि लिव लागे एका एकी सबदु वीचार।
जपु थपु अरपि गणतु तह नाही आपे आपु कीआ करतारा। गूजरी, अष्टपदी 2/2 पृ0 505

2:- मुण्डकोपनिषद : 1/1/3

3:- निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।[श्वेताश्वतरोपनिषद 6/19]

4:- हठयोग प्रदीपिका, 4*105, पृ0 180

5:- कबीर, डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 54

6:- अकुल निरंजन अपरंपर पर सबली जोति तुमारी।[सोरठ, पदे 6/2 पृ0 597]

7:- जा के रूपु माही जाति माही मुहु माला।
अलिपुरि जिले निरंजनु पाइआ तेरे नामि है निराला। [परभाती, पदा4/1 पृ0132 8]

8:- रामकली सिद्ध गोसटि 23 पृ0 940

का ध्यान करता है जो ऊपर नीचे, अर्थात् सर्वत्र समाया हुआ है।[1] एक अन्य स्थल पर गुरु नानक ने योगियों को सम्बोधित करते हुए निरंजन शब्द का बड़े अनासक्त, निर्लिप्त आदि रूपों में प्रयुक्त किया है।[2]

सिख पंथ के प्रवर्तक गुरु नानक देव ने अपनी वाणी में ब्रह्म की एकता पर विशेष रूप से बल दिया है। उनका कथन है कि वह अज, अगोचर, अनाथ और अयोनि एक ही है।[3] वे बड़ी स्पष्टता से कहते हैं, "मेरा आराध्य एक ही है, कोई अन्य नहीं।"[4] उनका प्रभु एक ही है, केवल एक ही है।[5] इस के साथ ही साथ वे ब्रह्म की अभेदता पर भी विश्वास रखते थे। उनकी दृष्टि में," वह स्वयं रस - रूप है और उसका अनुभव करने वाला भी वही है। वह अपने रंग में रंगा हुआ सर्वत्र व्याप्त है। वही मछली है वही मछुआ है, वही पानी है, वही जाल। वही जाल का शिकारा है वही धारा। वही कमल है वही कमलिनी और वही उन्हें देखकर आनन्दित होने वाला है।[6] वह स्वयं गुण है, स्वयं ही उसका कथन करता है और उसे सुनकर स्वयं ही विचार करता है। वह स्वयं ही रत्न है, स्वयं ही जौहरी और स्वयं ही उसका मूल्य भी है - उसे कितना भी ऊँचे से ऊँचा समझा जाये और कहा जाये न तो उसे कहा जा सकता है न देखा ही जा सकता है। जहाँ

1:- ब्रह्मा कवण कहा नहीं कोई।
सभ महि एकु निरंजनु सोई। [गउड़ी, अष्टपदी 5। रहाउ पृ0 223]
2:- जोगुन न सिंघा जोगु न डंडै जोगु न भसम चढ़ाईऐ।
जोगु न मुंदी मुंडि मुंडाईऐ जोगु न सिंगी वाईऐ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोग जुगति इव पाईऐ [सूही पदे 8। पृ0 730]
3:- अज अगोचर अनाथु अजोनि गुरमति एको जानिआ। राग सारंग अष्टपदीआ पृ0 1233
4:- साचिउ मेरा एकु है अवरु नहीं भाई।। राग आसा आ०ग्र० पृ0 420
5:- साचिउ मेरा एको है। एको है भाई एको है आ०ग्र० पृ0 350 राग आसा।
6:- आपे रसिआ आपि रस आपे रावणहारु।
रंगिरता मेरा साचिउ रचि रहिआ भरपूरि।। सिरी रागु आदि ग्र0 पृ0 23

भी देखते हैं वहीं वह दृष्टि गोचर होता है। उस ज्योति को सदा सहज स्वभाव से ही जाना जा सकता है।[1] आत्मा की सार में उनका कथन है, "उसने स्वयं ही अपने को सृष्टि रूप में निर्मित किया है और स्वयं ही अपने को अनेक नामों और रूपों से सुसज्जित किया है।[2] ब्रह्म की अद्वैतता का प्रतिपादन उन्होंने जीव और ब्रह्म तथा जगत और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हुए किया है। उनकी मान्यता है कि आत्मा और परमात्मा में अद्वैत भाव स्थापित हो जाने पर ही आत्यन्तिक द्वैतभाव की निवृत्ति होती है। यह स्थिति गुरु की कृपा से प्राप्त होती है। जब जीवात्मा अपने को परमात्मा में मिला लेता है तो काल भी उसका स्पर्श नहीं कर पाता।[3]

गुरु नानक मूलतः एक भक्त कवि थे। अपने आराध्य प्रभु के निर्गुण, निराकार निरंजन स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने अपने इष्ट के प्रति अनेक स्थलों पर भावनात्मक सम्बन्ध भी स्थापित किए हैं। इस प्रकार के मानवोचित सम्बन्धों की स्थापना करते समय उन्होंने सदैव अपने - आप को तुच्छ अथवा हीन रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। तात्त्विक दृष्टि से परमात्मा और जीवात्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु फिर भी रहस्यवादी सन्त अपनी तुच्छता, अक्षमता और भक्ति-भावना के फलस्वरूप स्वयं को परमात्मा से भिन्न रूप में चित्रित करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते।[4] गुरु नानक ने अनेक स्थलों पर अपने आराध्य ब्रह्म का

1:- आपे गुण आपे कथे आपे सुणि वीचारु। आपे रतन परखिदु, आपे भोलु अपारु।
आदि ग्रन्थ पृ० 54

2:- आपीन्है आप साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ। आदि ग्रन्थ, पृ० 463

3:- आतमा परमातमा एको करै। अंतरि दुरिदा अन्तरि मरै।
गुर परसादी पाइआ जाइ। हरि सिउ चितु लागै फिर कालु न खाइ। आ०ग्र० 66।

4:- फिरि घर नहीं आवै छंन फिरि सुखु पावै विरही सिरोधनु होइ।
कोकिल अंबि सुहावी बोलै तिउ प्रभु अंकि सहीजै।
भवर भवंता फुली डाली तिउ जीवा मक मायफ।
नानक रैनि सहजि सुखु पावै जे हरि इक घरि छंन पाए।

तुखारी, बारहमाहा 5, आ० ग्र० पृ० 1107

मानवोचित अत्यन्त भव्य चित्र प्रस्तुत किया है। वे उल्लेख करते है," परमात्मा के नेत्र बड़े बाँके और दान्त बड़े आकर्षक हैं, उसका नाम सुन्दर और केश लम्बे हैं, उसके स्वर्णिमि शरीर में वैजन्यतीमाला शोभायमान है। उसकी चाल बड़ी सुहावनी है। उसके वचन बड़े मधुर और कोकिल के सदृश अच्छे लगने वाले हैं। वह बड़ी चतुर और शोख जवानी वाला है और उसकी तलवार नायिका के मन की इच्छा पूर्ति करने वाली है। वह अपने - आप में मस्त हाथी के समान ठुमक - ठुमक कर पैर रखता है और उसके प्रेम में लीन हुई जीवात्मा रूपी नायिका सौभाग्य में अभिषिक्त हुई स्त्री के समान है।[1]

गुरु नानक ने परमात्मा के विराट् स्वरूप का वर्णन भी अत्यन्त अनुभूति जन्य किया है। परमात्मा के विराट् स्वरूप का अनुमान कानड़ी राग में संकलित आरती" के रूपक से ही लगाया जा सकता है।[2]

1:- तेरे बंके लोचण दंत रसाला। सोहणे नक पिंजल लंबे वाला।
बंकन काहवा सुहने की ढाला। सोहनि ढाला विसन माला जपु तुसी सहेली हो।
तेरी चाल सुहावी मधुराड़ी बाणी। कुहकनि को किला तरल जुवाणी।
तरला जुवाणी आदि भाणी हउ मन की पूरीए।
नानक जिउ पगु धरे तिमि तिमि अपि आपु सवूरए
स्त्रीरंग राती फिरे माती उदकु गंगा वाणी
बिनवति नानकु दासु हरिका तेरी चाल सुहाणी मधुराड़ी बाणी।
रूपक्रम, छंत 2 7-8 आ0 पृ0 567

2:- कानड़ी, पदे 9/1 - रहाउ आदि ग्रन्थ, पृ0 663

इस प्रकार गुरु नानक वाणी में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप का अध्ययन करते हुए यह बात स्पष्ट प्रतीत हो जाती है कि वे ब्रह्म के निर्गुण, निराकार, अयोनि, स्वयंभू आदि रूपों को ही स्वीकार करते थे। वे निश्चित रूप से निर्गुण उपासक थे। परमात्मा के अवतारवाद में उनकी आस्था नहीं थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गुरु नानक ने अपनी वाणी में अनेक स्थलों पर परमात्मा के वाचक रूप में कुछ ऐसे नामों का भी प्रयोग किया है जो परमात्मा के सगुण रूप, अवतारी रूप के प्रतीक हैं। मधुसूदन, वासुदेव, माधो, मरहरि, ठाकुर, मुरारि, गोपालु राम आदि शब्द अनेक स्थलों पर ब्रह्म के प्रतीक रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। इनका सम्बन्ध सगुण एवं अवतारवादी भक्ति पद्धति से है। यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए। कि गुरु नानक एक महान क्रान्तिकारी एवं क्रान्तदर्शी महापुरुष थे। वे समन्वय साधक थे। उनकी समन्वय साधना अपने सिद्धान्तों, मान्यताओं के प्रति दृढ़ होकर सब को साथ लेकर चलने में थी। इसलिये उन्होंने सभी सम्प्रदायों में प्रचलित परमात्मा के नामों का प्रयोग किया लेकिन, हम आगे चलकर देखेंगे कि उनका ब्रह्म मूलतः , तत्वतः निर्गुण ही रहा। उन्होंने वेदान्ती नामों के अतिरिक्त सिद्धों नाथों, योगियों में प्रचलित परमात्मा के नामों का वर्णन भी बड़े मनोयोग से किया है। मुसलमानी नामों का प्रयोग तो वे बड़ी सटीकता से किया करते थे। परन्तु अपने तात्विक ब्रह्म की व्याख्या करते हुए वे स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश को परम सत्ता के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि ये तीनों माया के द्वारा उत्पन्न हुए हैं।[2] और ये सभी माया के अधीनस्थ हैं।[3] उन्होंने केवल एक निर्भय , निराकार को ही परमसत्ता का अधिकारी माना

1:- तृसीआ ब्रह्मा बिसनु महेसा। देवी देव उपाए वेसा।
जोती जाती गणत न आवै। जिनि साजी सो जीवति पावै। सिरीराग, घिती4 आ0ग्रं0 पृ0 838

2:- एका माई जुगति विआई तिनि चेले परवाणु।
इकु संसारी इकु भंडारी इकु लाए दीबाणु।।जपुजी पउड़ी 10 आ0ग्रं0 पृ0 1

3:- माइआ मोहे देवी सभि देवा। गउड़ी अलपदी 1।4।2 आ0ग्रं0 पृ0 221

है और राम - सरीखे ब्रह्म - रूप को कृषि के समान तुच्छ बताया है।[1] उनके अनुसार रावण को मारने में रामचन्द्र निमित्त मात्र थे। वे अपनी भाग्य रेखा को न मिटा सके और सीता और लक्ष्मण के लिये दुःखी हुए फिरते रहे।[2]

नानक वाणी में वर्णित ब्रह्म के भिन्न 2 रूपों का गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गुरु नानक वस्तुतः एक भक्त कवि - गुरु थे। उनका मुख्य लक्ष्य तत्व चिन्तन नहीं था। वे अपनी वाणी द्वारा समाज में, लोक जीवन में कुछ नवीन मूल्यों की स्थापना करना चाहते थे। पौराणिक ब्रह्म का स्वरूप लोक जीवन के लिये निष्क्रिय हो चुका था। परमात्मा के विभिन्न अवतारों की मूर्तियाँ अहल्याकारियों के पापों से रोयी जा रही थीं। मन्दिर अशक्त किये जा रहे थे। तीर्थों की पवित्रता समाप्त प्रायः कर दी गयी थी। धर्म पर आरोपित मिथ्या कर्मकाण्डों तथा अन्धविश्वासों के कारण धर्म की जीवन्तता अन्तिम साँसें गिन रही थी। ऐसे समय उस क्षेत्र के लोक जीवन के सम्मुख एक प्रकार का सांस्कृतिक संकट उपस्थित हो रहा था, गुरु नानक जैसे मनीषी के लिये यह अनिवार्य था, कि वे ब्रह्म के, परमात्मा के, आराध्य के ऐसे स्वरूप को स्वप्रस्तुत करें जिससे कि निरीह प्राणियों को एक प्रकार का सांस्कृतिक सम्बल प्राप्त हो सके। यही कारण है जैसा कि हम देख चुके हैं, कि गुरु नानक ने परमात्मा के ऐसे निर्गुण स्वरूप का उपदेश दिया, जो अजेय था, अनासक्त था, सम्प्रदायों की परिधि से बाहर था, कर्मकाण्डों, आडम्बरों तथा मिथ्या अन्धविश्वासों के घेरे में नहीं आ सकता था। उनकी उपासना मन पर, हृदय पर अवलम्बित थी। उनकी उपासना के लिये किन्हीं बाहरी साधनों की आवश्यकता न थी जिसके आधार पर उनके ब्रह्म उनके तत्वचिन्तन द्वारा किसी सम्प्रदाय की सीमित स्वयोजना की परिकल्पना की जा सकती।

1:- नानक निरभउ निरंकारु होरि केते राम खलाम। [आसा की वार, श्लोक सं0464]

2:- मन मति झूठे रामचन्दु सीता लखमणु जोगु। लवणु आराधिआ भाखिआ करि भगता भोगु। भगा देहु न समझई तिनि प्रभ कीए काम। नानक हेवरताहु सो किउ मिटै राम। संजोगु।
श्लोक वारां ते वधीक 27 आदि ग्रंथ, पृ0 1412

गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कर्ता पुरुष भी है। इसके साथ ही साथ उन्होंने निर्गुण ब्रह्म के, भक्ति भावना, प्रेम मूलक, कृपालु, स्वरूप का भी वर्णन किया। उन्होंने परमात्मा के प्रति अपने विश्वास और निष्ठा को पूरी तरह दृढ़ कर फिर अनेक ढंग से अपने कई प्रकार के भावनात्मक सम्बन्धों की स्थापना द्वारा इस निर्गुण ब्रह्म को भक्तिमय बना दिया। गुरु नानक एवं अन्य सन्तों की भक्ति साधना में ब्रह्म के इस निर्गुण स्वरूप की भक्ति मूलक, प्रेम मूलक अभिव्यक्ति एक मीठा परवर है।

जीव :-

ब्रह्म की परिभाषा और ही जीव है। भौतिक शरीर के भीतर जो चित् है, वही परम सत्य का चेतन अंश है। श्रीमद्भागवत् में क्षर, अक्षर तथा पुरुषोत्तम, जिन तीन प्राकृतिक तत्वों [जड़ एवं चेतन] का वर्णन उपलब्ध है, उनमें अक्षर तत्व [अविनाशी] को ही जीव या ब्रह्म की परा - प्रकृति कहा जाता है।[1] शरीर की समूची चेतना यही है - यह जगत् को धारण करता है, भगवान का अंश है[2] और यही भगवान की वह प्रकृति है जो मरने पर एक शरीर को त्याग दूसरे में प्रवेश करती और विषय - भोग का आधार बनती है। अंशांशी सम्बन्ध होते हुए भी भगवान से इसकी भिन्नता का कारण बताते हुए, शंकराचार्य ने बताया है कि अविद्या के कारण जीवात्म भगवान् से भिन्न दीख पड़ता है और भगवान् के सभी गुणों की उपलब्धि उसमें संभव होने पर भी अविद्या ही के कारण जीवित दशा में इन गुणों की अभिव्यक्ति जीव में नहीं होती। समस्त ब्रह्माण्ड और पिंडांड में ब्रह्म की सर्वगत, स्वयंभू चेतना परिव्याप्त है। स्वजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों में से किसी प्रकार का भेद आत्मा परमात्मा में नहीं। सर्वगत चैतन्य प्रवाह

1:- श्रीमद्भागवद् गीता : 7/5

2:- वही 15/7

व्यष्टि के रूप में जब अन्तःकरण द्वारा अविच्छिन्न होता है, तब जीवन कहलाता है।[1] इस प्रकार जीव परमात्मा का अंश[2] और चैतन्य स्वरूप है। जड़ देह से यह भिन्न है, अजड़ है। अजड़ से भाव है स्वयं प्रकाशवान्।[3] इसका जन्म - मरण उसके देह - सम्बन्ध और देह वियोग का ही सूचक है।[4] जैसे जीव अविनाशी है और शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता[5] पूर्व देह को त्याग कर ही जीव अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग अथवा नर्क में पहुँचता है।[6]

जरायुज, अंडज, स्वेदज तथा उद्भिज - इन चार विधियों से जीव की उत्पत्ति होती है। जलचारी, थलचारी तथा नभचारी ये तीन सभी जीवों के भोग - भूमि तथा निवास स्थान की दृष्टि से किये जा सकते हैं। जीव की चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं - जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया।

गुरु नानक ने अपनी वाणी में जीव सम्बन्धि- सम्बन्धी चर्चा बड़ी गंभीरता से की है। उन्हें सदैव ये प्रश्न उद्वेलित करते रहे हैं कि जन्म - मरणशील जीव कहाँ से आता है? यह किस प्रकार उत्पन्न होता है और किस में जाकर समा जाता है? यह किस प्रकार सांसारिक बन्धनों में बाँधा जाता है? और किस प्रकार उसको मोक्ष प्राप्त होता है।[7] नानक वाणी में जीव सम्बन्धी चर्चा के सन्दर्भ में अनेक स्थलों पर गुरु नानक इन प्रश्नों से रूबरू हुए हैं और उन्होंने इनका समाधान भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। एक स्थल पर वे उल्लेख करते हैं, "जीव सहज ही आता है और सहज ही जाता है। यह मन के संकल्प - विकल्प से उत्पन्न होता है और अन्त में आत्म स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर मन में ही समा जाता है।

1:- शांकर गीता-भाष्य 15/7

2:- ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः गीता 15/7

3:- अजत्वं नाम शश्वेन विना स्वयंप्रकाशमानत्वम्। (तत्त्वार्थ, पृ0 9)

4:- तत्त्वार्थ पृ0 10

5:- न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। (गीता 2/20)

6:- देवी भागवत पुराण, 4/21/22-23

7:- जाती जाइ कहीते आवै। कह उपजै कह जाइ समावै।
किउ बिधिओ किउ मुली पावै। किउ अबिनासी सहजि समावै। गउड़ी, बावन अखरी।
पृ0 152

अर्थात् अन्धकारमय मन को प्रकाशमय मन के द्वारा वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर वह सत्यस्वरूप परमात्मा में समाहित हो जाता है। गुरु के उपदेश द्वारा जीव मुक्त हो जाता है और शब्द के विचार द्वारा बन्धन से पुनः बन्धन में नहीं पड़ता, इस प्रकार वह जन्म-मरण के सांसारिक प्रपंच से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[1]

गुरु नानक जीव को अमर मानते हैं। यहाँ जीव से उनका अभिप्राय अन्तरात्मा से है। गुरु नानक का कथन है कि जीव सत्यस्वरूप अविनाशी परमात्मा से सम्बन्ध होता है, इसलिये वह अमर है। शरीर में नाशवान परमात्मा का निवास है, अविनाशी परमात्मा स्वयं जीव का रक्षिता है, इसलिये न वह मरता है और नहीं मारा जा सकता है।[2] आत्म स्वरूप जीव का स्पष्टीकरण करते हुए वे संकेत करते हैं कि जो ब्रह्माण्ड में है, वही खंड (जीव) में है। दोनों में कोई भेद नहीं है।[3] इसी सिद्धान्त के अनुरूप नानक वाणी में जीवों में एक परमात्मा को ही रमण करता हुआ माना गया है।[4] प्रत्येक प्राणी के भीतर जगत् को जीवन प्रदान करने वाले परमात्मा की ज्योति भी प्रकार व्याप्त है। परमात्मा ही सभी शरीरों को भोगता और रस पीता है। वही प्राण लेता है और देता है। वही तीन लोकों की सृष्टि का जन्म एवं दाता है।[5] परमात्मा ने माता के रज (रज) और पिता के वीर्य द्वारा शरीर को निर्मित करके और पवन, जल, अग्नि

1:- सहजे आवे सहजे जाइ। मन ते उपजे मन माहि समाइ।
गुरमुखि मुकतो बंधु न पाइ। सबदु बीचारि छुटे हरि नाइ॥ गउड़ी पदे 6/2
2:- ना जीउ मैरे न हुछे लहे। गउड़ी, पदे 2/2 आदि ग्रन्थ पृ० 152
3:- जो ब्रह्मण्डि खंडि सो जाणहु। मारु, सोलहे 20/14 पृ० 1040
4:- घटि घटि रवि रहिआ अलख अपारे रहम। बिलावल, छन्त 1/4 पृ० 843
5:- अंतरि जोति भखी जग जीवन। सभि घट भोगे हरि रसु पीवन।
आपे लेवे आपे देवे तिसु तोहे जग पित दाता है।
मारु, सोलहे 11/3 आदि ग्रन्थ, पृ० 1038

आदि पाँच तत्वों को मिलाकर जीव का ढाँचा तैयार किया है। परमात्मा स्वयं ही शरीर के रंगमंच में अपनी लीला रचाता है। इससे भिन्न अन्य सब कुछ माया और मोह का प्रसार - मात्र है।[1] गुरु नानक ने जीव की उत्पत्ति परमात्मा के हुक्म[2] से मानी है। परमात्मा के हुक्म से ही जीव को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। हुक्म से ही वह इस संसार में आता है और हुक्म के अनुसार ही जाता है। आगे - पीछे अर्थात् सभी ओर से वह हुक्म में समाहित है।[3] जीवों का स्वामी परमात्मा[4] ही है।

प्रबोधात्मिक परम्परा के आधार पर गुरु नानक ने अनेक स्थलों पर जीवों की योनियों[5] का अनेक प्रकार से वर्णन किया है परन्तु इन सभी जीवों को हुक्म रूप माना है और सर्वत्र तथा सभी जीवों में वही परमात्मा ही व्याप्त और रमण करता , बताया है।[6] हुक्म और जीव की अभेदता के सन्दर्भ में यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से गुरु नानक ने जीव को एक परतन्त्र स्वीकार किया है। उसकी यह परतन्त्रता परमात्मा के प्रति है[7] और यह स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब- जब वह अपने आप को स्वतन्त्र समझने लगता है। परतन्त्रता की समाप्ति परमात्मा की कृपा पर निर्भर है।

प्रसंगवश जीव में दृष्टि गोचर जीवों का वर्णन करते हुए गुरु नानक का दृष्टिकोण सभी योनियों में केवल[8] मनुष्य स्वरूपी जीव की श्रेष्ठ साधना थी। गुरु नानक

1:- बिन्दु रजु मिलि पिंडु सरीरा। पवणु आणी मिलि जीवा।
आपे खेल करे सभ वेखै विचि माइआ मोह पसारा है। मारू, सोलहे 7/4 पृ0 1026

2:- हुकमी होवनि जीव हुकमि मिलै वडिआई। जपु पउड़ी 2 पृ0।

3:- हुकमे आवै हुकमे जाइ। आगै पाछै हुकमि समाइ। गउड़ी, पदे 2/2 पृ0 151

4:- तू अंतरजामी जीअ सभेरा। तू दाता हम सेवक तेरे। मारू,सोलहे 18/6 पृ0 1038

5:- मारू, सोलहे 14/4 पृ0 1038

6:- अंजन जेरव उतभुज सेतज तेरे कीते जंता।
एकु दुरंतु मै तेरा देखिआ तू समना माहि रवंता। सोरठे, पदे 4/3 पृ0 596

7:- आसा की वार, पउड़ी 11, पृ0 469

8:- गुरु नानक स्मृति व्याख्यान, डा0 भाई जोधसिंह, पृ0 7

ने स्वयं इस बात को अनुभव कर लिया था कि सभी जीवों में से मनुष्य जन्म श्रेष्ठ है और दुर्लभ भी है।[1] यही कारण है कि उनकी समस्त वाणी जीव के सन्दर्भ में मनुष्य की स्थिति, मनुष्य की मोक्ष साधना के प्रति समर्पित है। गुरु नानक ने बड़े विस्तार से जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन अपनी वाणी में किया है। उन्होंने मनुष्य की छः अवस्थाओं का बड़े विस्तार सहित वर्णन किया है। गुरु नानक ने पहली अवस्था को गर्भावस्था मानते हुए उल्लेख किया है कि मनुष्य परमात्मा के आदेश से ही गर्भ में स्थित होता है। गर्भ के कष्टों से दुःखी होकर वह उनसे विमुक्ति प्राप्त करने के लिये बारम्बार जन्म प्रार्थना करता है। वह नग्न रूप में जन्मता है और मृत्यु के समय भी वह नंगा ही जाता है। उसको संसार में वही कुछ प्राप्त होता है, जो परमात्मा उसके भाग्य में लिख देता है।[2] दूसरी स्थिति बाल्यावस्था में वह गर्भावस्था से छुटकारा पा लेता है। वह दूध पीता, खेलता और खिलाया जाता है। मोह के वशीभूत माता - पिता उसको अपना समझते हैं।[3] तरुणावस्था में मनुष्य धन और लालच तथा कामवासना में लीन हो जाता है। न वह राम - नाम का स्मरण करता है और न ही धर्म कर्म में प्रवृत्त होता है। परन्तु ज्ञान, ध्यान संयम आदि के बिना वह मुक्त नहीं हो सकता, व्यर्थ में अपना जन्म नष्ट कर देता है।[4] प्रौढ़ावस्था में मनुष्य के केश श्वेत होने लग जाते हैं। आयु व्यतीत होती जाती है और अनेक वस्तुएँ पराधी बनने प्रारम्भ हो जाती हैं। बुद्धि और चालाकी साथ छोड़ देती हैं। मनुष्य अपने अवगुणों के कारण पश्चाताप करने लगता है। इस अवस्था में परमात्मा में चित्त लगाना परमावश्यक है।[5] वृद्धावस्था में मनुष्य का शरीर निर्बल हो जाता है। आँखों की ज्योति

1:- मानस जनमु दुलंभु (JT) सुरमुखि पाइआ। (सूही, अष्टपदी 3/1 पृ0 73।)
2:- सिरी, पहरे 1/1 पृ0 75
3:- सिरी, पहरे 1/2, 2/1 पृ0 75
4:- सिरी, पहरे 1/3, 2/2 पृ0 75
5:- सिरी, पहरे 2/3 पृ0 75

ज्योति चली जाती है। कानों से सुनना बन्द हो जाता है, जिह्वा रसास्वादन में असमर्थ हो जाती है, बल तथा पराक्रम नष्ट हो जाते हैं और शरीर टूटे हुए तृण सदृश टूटने योग्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को गुरु के उपदेश के द्वारा शब्द की पहचान करना ही चितकर है।[1] मरणावस्था में जीवन रूपी पके हुए खेत को काटने वाला यमराज आ पहुँचता है और बिना किसी को बताये वह मनुष्य को पकड़ कर ले जाता है। उसके आस पास लोग मिथ्या व रुदन करते हैं। उसको कर्मों के अनुसार फल प्राप्त होता है।[2] एक अन्य स्थल पर गुरु नानक ने मनुष्य की जीवनावधि को दस अवस्थाओं में भी विभक्त किया है।[3] "माझ की वार" में उन्होंने मनुष्य को सौ वर्ष का स्वीकार करते हुए उसके प्रत्येक दशक की स्थिति और कर्तव्य का चित्रण भी किया है।[4]

गुरु वाणी में मनुष्य की दो कोटियाँ स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की गयी हैं। गुरमुख और मनमुख के अन्तर्गत गुरु - कवि ने बड़े विस्तार से मनुष्य के स्वभाव का चित्रण किया है। गुरु नानक ने गुरमुख की वृत्ति कमल के समान स्वीकार की है तथा मनमुख की भेंडक के समान। ये दोनों संसार सागर के ही निर्मल जल में रहते हैं। इस जल में विषयवासनाओं रूपी सिवार भी है। कमल सदा सिवार से घिरा रहता है, परन्तु उसके सौ - दोष से दूषित नहीं होता। वह सदैव निर्लिप्त रहता है। इसके विपरीत भेंडक सिवार का भक्षण करता है और अद्भुत सदृश जल की विशेषता तथा महत्ता को नहीं जानता।[5] इस प्रकार कमल के समान माया

1:- सिरी. पहरे 2/4 पृ0 76

2:- सिरी. पहरे 1/4. 2/5 पृ0 76

3:- माझ की वार. श्लोक 2 पृ0 137

4:- वही श्लोक 3 पृ0 137

5:- बिमल मझारि बासि निरमल जल पदमनि जावल रे।
पदमनि जावल जल रस संगति संगि दोख नहीं रे।
दादर तू कुबधि न जानसि रे।
भखसि सिवालु बासि निरमल जल अम्रितु न लखसि रे। मारू. पदे 4। -
रहाउ पृ0 989

से अतीत रहना गुरमुख व्यक्ति का सब से बड़ा गुण है । [1] गुरमुख व्यक्ति सत्य-स्वरूप परमात्मा से डरता है, उसकी वाणी असाध्य को साध्य बना देती है । वह निर्मल हरि का गुणगान करता है, पवित्र पद परमपद को प्राप्त करता है । रोम रोम से हरि का ध्यान करता है और सत्यस्वरूप हरि में ही समाहित हो जाता है । [2] वह अष्ट सिद्धियों और समस्त बुद्धियों का स्वामी है, सच्ची सूझवाला होने के कारण भवसागर से तर जाता है, अच्छे बुरे की बात को समझता है, प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों को भली भाँति जानता है, दूसरों को भवसागर से पार उतारता है और शब्द के द्वारा सबय मुक्ति प्राप्त करता है । [3] वह निरंजन के नाम को प्राप्त कर अहंकार को शब्द द्वारा नष्ट कर देता है, सत्यस्वरूप परमात्मा के गुणों को गाता हुआ उसी में अंतर्हित रहता है । उसके '' सतिनाम '' से प्रतिष्ठा बढ़ती है और उसे सभी लोकों की सूझ प्राप्त होती है । [4] दुःख सुख से बचने के लिये गुरमुख के पास सदैव शील का कवच रहता है [5] जिसको धारण करने से वह अमर होकर सांसारिक दुःख सुख से निर्लिप्त हो जाता है और अपना वास्तविक घर प्राप्त कर लेता है । [6] वह गुरु की शिक्षा में विश्वास कर संसार में अपने - आप को अतिथि के समान समझता है । वह हरि रस में मग्न हुआ परमात्मा के द्वार पर स्वीकृत होता है । [7] गुरमुख के बुद्धि माता है, सन्तोष पिता है, पवित्रता या संयम भाई है, लज्जा और सुरति सास ससुर है, शुभ करनी स्त्री है, सत्संग की भेंत ब्याह का लग्न है, सांसारिक विषय - वासनाओं का वियोग अथवा त्याग विवाह है और सत्य उस विवाह से उत्पन्न हुई सन्तान है । [8] गुरमुख प्रत्येक व्यक्ति नहीं बन सकता । वे ही पुरुष इस सौभाग्य

1:- अंजन माहि निरंजन रहीऐ जोग जुगति इव पाईऐ । (सूही, पदे 8/1 पृ0

2:- गुरबुधि साचे का मंडपा वै । गुरबुधि वाणी अखंड धड़ावे । .....

रामकली, सिध गोसटि, 27 पृ0 941

3:- रामकलीसिध गोष्टी, 3/1 पृ0 941

4:- वही 42, पृ0 942

5:- मारू, सोलहे 12/8 पृ0 1022

6:- मारू, सोलहे 17/8 पृ0 1023

7:- वसंत, असटपदी 8/7पृ0 1188

8:- गउड़ी, पदे 3 आदि ग्रंथ, पृ0 152

को प्राप्त कर सकते हैं, जिन पर परमात्मा की कृपा - दृष्टि होती है। ऐसे पुरुष निर्मल, अपरम्पार और परिपूर्ण होते हैं और वस्तुतः वे संसार में गुरु और गोविन्द का ही रूप होते हैं।[1] वस्तुतः जिस परमात्मा को वे जान और पहचान लेते हैं, अन्ततोगत्वा वे उसी के समान हो जाते हैं।[2]

इसी प्रकार गुरमुख के विपरीत मनमुख का भी नानक वाणी में बड़ा विस्तृत वर्णन किया गया है। अपने मन [संकल्प] को ही मुख्य रूप से स्वीकार करने वाले को, विद्वानों ने गुरु शिक्षा द्वारा वर्णित मनमुख का अर्थ दिया है।[3] क्योंकि मनमुख वास्तविकता को न समझने के कारण पशुओं जैसा व्यवहार करने लगता है।[4] उसमें पाशविक वृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं, पत्थर एवं शिला के समान उसका हृदय कठोर हो जाता है, उसका स्वरूप गंदा, घृणित एवं विकराल बन जाता है।[5] मनमुख का मन संसार जागतिक प्रीति में अनुरक्त रहता है और वह हरिदासों से कलह करता है। वह माया - मग्न होकर उसी की आराधना करता है, नाम - स्मरण नहीं करता, और उसकी अपेक्षा विष - विष खाकर मरता है। वह गंदे वचन बोलता और उन्हीं में रुचि रखता है। उसको शब्द का ध्यान तक नहीं होता। उसने साधु संगति में कभी रस नहीं लिया होता, इसलिये दूषित कर्मों के परिणाम स्वरूप उसे यमराज के द्वार पर बाँधा जाता है जहाँ उसकी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं होता।[6] इस प्रकार मनमुख व्यक्ति यमराज की परवशता में झूला रहता है। वह दूसरों के धन

1:- गुरमुखि राम नाम गुण गावहि जा कउ हरि प्रभु नदरि करे।
ते निरमल पुरख अपरम्पर पूरे ते जग महि गुर गोविंद हरे॥
मारू, अलाहणी 8/1। आदि ग्रन्थ, पृ० 1014

2:- जिनि जाता सो तिस ही जेहा।
अति निसाखु सीउ सिदेहा। रामकली, ओंकार 10, आदि ग्रन्थ पृ० 93।

3:- भाई काहन सिंह, महान् कोश, पृ० 711

4:- मारू, अलाहणी 1/3 आदि ग्रन्थ पृ० 1008

5:- गउड़ी, अलाहणी 4/6 आदि ग्रन्थ पृ० 222

6:- सोरठ, पदे 3/2-3 आदि ग्रन्थ पृ० 596

पर नज़र रखता है, जिससे उसे हानि - ही - हानि होती है। मनमुखी मूर्तिशाला व्यक्ति प्रत्यक्ष दुकान और निर्जन स्थानों पर भटकता हुआ रास्तागानों में मन्त्र आदि पढ़कर कुमार्ग पर पड़ा लूटता रहता है।[1] गुरु मनमुख संयोग वश प्राप्त हुई सन्तान को अपना समझ लेता है और अपनी स्त्री को देखकर यह जाने बिना प्रसन्न होता है कि इस प्रसन्नता के साथ शोक और सन्ताप भी होते रहते हैं।[2] मनमुख व्यक्ति की बुद्धावस्था का चित्रण करते हुए गुरु नानक ने कहा है कि उसकी खाल झूल जाती है, हाथ पैर ढीले पड़ जाते हैं, रूपा और देह कुम्हला जाती है, आँखों में धुंध छा जाती है और कान बहरे हो जाते हैं, फिर भी वह परमात्मा के नाम को जानने तथा जपने का यत्न नहीं करता।[3] ऐसे मनुष्य विषयों का जहाज़ लाद कर संसार - सागर में ठेल देते हैं परन्तु अपने कुकर्मों के कारण उन्हें भवसागर का कोई किनारा अथवा आर - पार दिखायी नहीं पड़ता। भवसागर से तरने के लिये उनके पास न कोई बेड़ी होता है न पतवार और न मल्लाह, जबकि संसार सागर का जल बड़ा भयानक एवं गंभीर है।[4] मनमुख व्यक्ति विषयों के पीछे में अपना सम्पूर्ण रात्रि सोकर काट देता है और दिन को जंजालों और प्रपंचों में नष्ट कर देता है। जिस परमात्मा ने इस संसार की सर्जना की है, उस को वह एक क्षण, पल अथवा घड़ी भर भी जानने अथवा विचारने का यत्न नहीं करता। उसका कृत्य सभी कर्म उलटा है, जिसमें कोई अच्छी बात लगा नहीं सकती। उसकी बुद्धि औंधी है। अहंकार भरा मन वाला होने के कारण उसके सिर पर सांसारिक कष्टों का भार पड़ा रहता है। मन की अस्थिरता के कारण उसकी गति आन्दोलित होती है और अज्ञानता के कारण उसके नेत्र ज्ञान- ज्योति से रहित रहते हैं। उसको शब्द की सुरति नहीं है। अमूल्य जीवन रूपी मूलधन को व्यर्थ में खो देने के फलस्वरूप उसे हरि - भक्ति रूपी लाभ प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार वह दुर्मुख व्यक्ति ज्ञान से रहित रहता है।[5]

1:- रामकली सिद्ध गोसटि 26 आदि ग्रन्थ पृ० 941

2:- मारू, अलहनी आदि ग्रन्थ पृ० 1008

3:- भैरउ, पदे 4/1-2 वही पृ० 1125

4:- मारू, अलपदी, 2/1 वही पृ०1008

5:- भैरउ, पदे 5 वही पृ० 1126

नानक वाणी में "मनमुख" के अर्थों की अभिव्यक्ति के अनुरूप "साकत" व्यक्ति का भी उल्लेख किया गया है। "साकत" संभवतः शाक्त के उपासक तामसमार्गी तथा तान्त्रिक साधकों का "शाक्त" ही है। मध्यकालीन साधना में शाक्त को संकीर्ण दृष्टि से देखा गया है।[1] गुरु नानक का कथन है कि साकत व्यक्ति झूठ और कपट में विश्वास रखता है, अहर्निश अनेक प्रकार की निन्दा कर्म करता है, हरि-स्मरण के बिना बार - बार गर्भ - योनि और नरक में आता जाता है। उसके लिए यम का भय कभी समाप्त नहीं होता और न ही यमराज के दंड का अंत होता है। उसको धर्मराज की बाकी भी जाती है। जैसे सिर-पिटों के सिर पर बहुत अधिक भार है।[2] वह अकेला ही यमराज के पाश में पड़ता है। उस अज्ञानी को यमराज अपने घर में करके दुःख देता है। उसके लिए हरि - नाम के बिना मुक्ति की कोई अन्य विधि नहीं है, जिसके अभाव में वह शरीर ही समाप्त हो जाता है।[3]

गुरु नानक ने मानव के सम्बन्ध में भी बड़े विस्तार से चर्चा किया है। गुरु नानक अत्यन्त यथार्थवादी आध्यात्मिक महापुरुष थे। शांकर अद्वैतवादियों की भांति से मानव-देह को मिथ्या नहीं मानते थे। उनके लिये मानव शरीर परमकल्याण को पाने, लक्ष्यसिद्धि को ग्रहण करने का एक अपूर्व साधन था। वे किसी भी प्रकार से शरीर को क्षुधित, मलिन दुखित नहीं कर

१:- कबीर, डा० श्यामसुन्दर त्रिवेदी, पृ० २१

२:- साकत बाँधिआ मति मिले, जेम्नो मिले बताल।

३:- जेम्नो की छरी भली, ना साकत का वडगाँउ। कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४।

४:- साकत झूठ कपट मति टेका। अहिनिसि निंदा करहि अनेका।
हरि सिमरन जातहि फुनि जातहि गर्भ-जोनी नरक मझारा है।
साकत जम की काणि न चूके। जम का डंडु न कबहु मूके।
बाकी धरमराइ की लीजे बिरिथाकरिजो भरक अपारा है।
मारू, सोलहे १०/१-१०, पृ० १०३०

५:- साकतु फासी पड़े डोलना। जारसि कीआ अपणा दुखेना।
राम नाम बिनु मुकति न पाये अगनु काणि पवि जाला है। मारू, सोलहे ११/११, पृ० १०३।

सकते है। गुरु नानक ने स्पष्ट शब्दों में मनुष्य के शरीर को हरि का घर, महल और मन्दिर माना है, क्योंकि हरि ने उसमें अपार ब्रह्म-ज्योति स्थित की है।[1] सत्य स्वरूप परमात्मा ने शरीर रूपी गढ़ और फिर उस गढ़ के भीतर भवन की रचना की है और स्वयं ही उस भवन का स्वामी है। उस भवन में अपने खेलने के लिये परमात्मा ने दशम-द्वार रूपी सुन्दर खेल की रचना भी की है।[2] परमात्मा को शरीर के बाहर ढूंढने से व्यर्थ का दुःख प्राप्त होता है, क्योंकि वह अमृत पदार्थ भीतर ही बसता है।[3] परन्तु शरीर के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस शरीर का महत्व तभी तक है जब तक उसमें जीवात्मा विद्यमान है।[4]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गुरु नानक ने अपनी वाणी में अन्य सन्तों की भाँति स्वानुभूति के आधार पर ही जीव का चित्रण किया है। गुरु नानक की समस्त वाणी में सहजमूलक अद्वैतभाव की एक सुदृढ़ विद्यापी देती है। जीव के सम्बन्ध में उनकी उद्भावनाएँ इस सन्दर्भ में अत्यन्त उपयोगी हैं। विशेष के प्रवर्तक गुरु नानक ने ब्रह्म और जीव की अभेदता का प्रतिपादन करते हुए अनेक सूक्ष्म एवं मौलिक भावों को व्यक्त किया है। उनका दृष्टिकोण सदैव व्यावहारिक रहा है। यही कारण है कि उनके लिये मानव का शरीर हरि मन्दिर के समान है, अन्तिम लक्ष्य को उपलब्ध करने का साधन है।

गुरु नानक ने समयानुकूल तत्कालीन मानव समाज के सम्मुख प्रस्तुत आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान हेतु ही अपनी वाणी की रचना की थी। यही कारण है कि उनका जीव सम्बन्धी दृष्टिकोण क्रियात्मक है। इस प्रकार वे गुरमुख व्यक्ति के माध्यम से, गुरमुख के चरित्र के आदर्श को अभिव्यक्त करते हुए, पतनोन्मुख समाज को सांस्कृतिक अभ्युत्थान का सन्देश देने के प्रति प्रयत्नशील रहे हैं।

1:- काइआ महलु मंदरु घरु हरि का तिसु महि राखी जोति अपार।
मानक गुरमुखि महलि मिलाई कुलाही हरि मेले मेलणहार। मलार पदे 5/4, पृ0 1256

2:- एक द्वार मंदर जाने सोई। जिस पूरे गुर ते सोझी होई।
काइआ गढ़ महल महली प्रभु साचा सचु साचा तखतु रचाइआ। माझ, सोलहे 18/12 पृ0 1038

3:- जासहि दूरत बहुतु सुखु पावहि हरि अंमृतु सद साखी जीउ। सोरठि, पदे 9/रहाउ, पृ0598

4:- सुंञी देह उदासणी जा जीउ विचहु जाइ। भाठि कढी विञी थए न मिलनिउ काइ
पवै स्मै दुखिभरे चिन्मे दुबे भाइ। ।। सिरी, पदे 14/1 पृ0 19

सृष्टि :-

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि गुरु नानक ने अपने सहजावस्थावादी दृष्टि कोण से अपने आराध्य के प्रति अपने प्रेममयी भावों को समर्पित करने के सन्दर्भ में प्राय: समस्त दार्शनिक प्रश्नों पर दृष्टिपात किया है। भौतिक जगत् के प्रति भी उनकी मौलिक उद्भावनाएँ उल्लेखनीय हैं। जिनका विश्लेषण हम आगे चलकर करेंगे। मनुष्य ने अपने चेतना के विकास के साथ साथ जगत सम्बन्धी रहस्यों के विषय में सोचना प्रारम्भ कर दिया था। उसको निरन्तर ये प्रश्न उद्वेलित करते रहे होंगे कि जगत का उद्भव किस प्रकार हुआ ? उसका रचयिता कौन है ? इस जगत की रचना का उद्देश्य क्या है ? उसकी कितना विस्तार है ? उसका स्वरूप कैसा है ? आदि। समय समय पर मानव चिन्तन के विकास क्रम में जगत सम्बन्धी इन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता रहा है। भारत के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद में सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न प्रकार के विचार पाये गये हैं। कहीं अग्नि से जगत की उत्पत्ति का विवेचन किया गया है और कहीं सोम से पृथ्वी, अन्तरिक्ष, जल, ओषधियों आदि की उत्पत्ति का विवेचन किया गया है। कहीं पर मिलता है कि इन्द्र ने समस्त पृथ्वी और अन्तरिक्ष को उत्पन्न किया और कहीं विश्वकर्मा तथा ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पन्न की, जैसा वर्णन है।[1] इन विचारों का थोड़ा सा आभास ऋग्वेद के नासदीय सूक्त तथा यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में मिलता है।[2]

उपनिषदों में सृष्टि - रचना की प्रक्रिया का भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है। उपनिषदकार का कथन है कि सब से पहले उसने प्राण की रचना की, प्राण के बाद श्रद्धा को उत्पन्न किया। उसके बाद क्रमश: आकाश, वायु, तेज,

---

1:- उमेश मिश्र - "भारतीय दर्शन" - पृ० 34-35

2:- ऋग्वेद 10*126* । तथा यजुर्वेद अध्याय 40

जल से पृथ्वी - पांच महाभूत प्रकट हुए . फिर मन और इन्द्रिय-समुदाय की उत्पत्ति हुई । उसके बाद अन्न, अन्नसे वीर्य , तप तथा अनेक मन्त्र, कर्म, भिन्न भिन्न लोक और उनके नाम की रचना की ।[1] एक अन्य उपनिषद में बताया गया है कि जैसे प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूप वाली सहस्त्रों चिनगारियाँ प्रकट होती हैं, उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से नाना प्रकार के भाव उत्पन्न और विलय होते हैं ।[2] इसी प्रकार जैसे एक ही अग्नि अनेक रूपों वाली हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्म एक होते हुए भी सभी रूपों वाला हो जाता है ।[3]

इसी प्रकार प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय एवं दार्शनिक मतवाद ने अपने दृष्टिकोण से जगत सम्बन्धी धारणा पर अपने विचार व्यक्त किये हैं । वेदान्त में जगत सत्ता को स्वतन्त्र माना गया है । जगत परिवर्तनशील है । सांख्यवाद के अनुसार जगत विकासशील है । जड़ प्रकृति से जीव का शरीर बनता है तथा चेतना से मन और मानसिक वृत्तियों का निर्माण होता है ।[4] जैन मतानुसार विभिन्न परिवर्तनशील नहीं होते हैं , अतः इस दृष्टि से संसार नित्य है । किन्तु उनके पर्याय बदलते रहते हैं । अतः इस दृष्टि से संसार नित्य परिवर्तनशील है । इस तरह जैनी संसार को एक दृष्टि से नित्य तथा दूसरी दृष्टि से अनित्य मानते हैं ।[5]

अद्वैतवेदान्त के अनुसार, ब्रह्म चैतन्य, सत्य, निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्द है । माया से सम्बद्ध ब्रह्म ईश्वर कहलाता है । इन दोनों में तात्त्विक रूप में कोई अन्तर नहीं है । ईश्वर केवल लीला के लिए सृष्टि की रचना करता है । इस लिए वह उपादान कारण है । गुणों की असमान अवस्था के परिणामस्वरूप माया में कुछ क्रिया होती है । तमोगुण की प्रधानता के कारण पंच सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति

1:- प्रश्नोपनिषद् 6•4•

2:- मुण्डकोपनिषद् 2•1•1

3:- कठोपनिषद् 2•2•9•

4:- भारतीय दर्शन, डा0 सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय, पृ0 20

5:- वही पृ0 97

हुई है। सर्वप्रथम आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी का विकास होता है।[1] इन पांचों का फिर पांच प्रकार का संयोग होता है, जिससे पांच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। इस क्रिया का पंचीकरण कहते हैं। मनुष्य का सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म भूतों से बना है और स्थूल शरीर स्थूल भूतों से। जो पांच सूक्ष्म तत्वों के संयोग से बनते हैं।[2] रामानुजाचार्य के अनुसार[3] सृष्टि वास्तविक है और यह जगत उतना ही सत्य है, जितना ब्रह्म है।

गोरखनाथ के अनुसार सृष्टि एक ऐसी लता है जिस की जड़ तो है ही नहीं और यह सर्वत्र, पृथ्वी, व्योम आदि में फैली हुई है, हरी भरी है और विशाल विस्तार वाली है। उसके रहस्य को सब अपने विचारों के अनुकूल बताने की चेष्टा करते हैं।[4] उसका रहस्य कहा नहीं जा सकता।

सृष्टि की इस रहस्य मूलकता पर गुरु मानक कभी आश्चर्य - चकित एवं मुग्ध है। इसलिए से कहते हैं वह प्रभु स्वयं ही इस रहस्य को जान सकता है क्योंकि वह स्वयं ही उसका कारण है तथा कर्ता है। उसने स्वयं ही जगत की उत्पत्ति करके स्वयं ही उसके अंशों में जीवों को नियुक्त किया है।[5] वे यही स्पष्ट करना चाहते हैं कि परमात्मा के इस सांसारिक खेल अथवा उसकी रहस्यमयी अनन्त क्रीड़ा को[6] आप, अपार परमात्मा के बिना अन्य कोई भी बता नहीं सकता। परमात्मा स्वयं सृष्टि का रचयिता है और स्वयं ही उसका नियन्ता भी है। वह बिना किसी से पूछे उसकी रचना करता है और बिना किसी से पूछे उसका विनाश भी करता है। परमात्मा ने जीवों को उत्पन्न करके उनके कर्मों का लेखा - जोखा रखने के लिए उसने

1:- तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1

2:- भारतीय दर्शन, डा० बलदेवचन्द्र पट्टयोपाध्याय, पृ० 233

3:- भारतीय दर्शन, डा० उमेश उपाध्याय, पृ० 312

4:- "सृष्टि उत्पनी जेती प्रकार, मूल न की पढ़ी अकार।
उरध गोड़ जियो विस्तार, जांण मे जोगी को विचार।। गोरखबानी, पृ०।।9

5:- तुधु आपे जगतु उपाइके तुधु आपे अंसु लाइआ। माझी वार पउड़ी 2 पृ०137

6:- सचु खेलु तुम्हारा अगम अपारा तुधु बिनु कउणु बुझाए। सूही छन्त 2/4
पृ० 763

ओंकार की निर्युक्ति भी की है।[1] आसा राग में गुरु नानक ने कहा है कि परमात्मा स्वयं ही समस्त सृष्टि का संचालन कर रहा है। मनुष्यों, वृक्षों, स्त्रीयों, स्टों, मेघों, खेतों, औषधों, लोकों, मंडलों, खण्डों, ब्रह्माण्डों, खानियों, समुद्रों, पर्वतों, जीव-जन्तुओं आदि का अनुमान भी वह परमात्मा ही लगा सकता है। सभी जीवों को उत्पन्न कर स्वयं ही उनकी देख - रेख करता है। इस जगत का कारण स्वरूप परमात्मा ही इसके विधान की भी चिन्ता करता है।[2] इस प्रकार गुरु नानक ने परमात्मा के बिना सृष्टि का और कोई कारण स्वीकार नहीं किया।[3] परमात्मा ने स्वयं अपनी लीला को देखने के लिए पंच तत्वों के जगत का निर्माण किया है, अतः अपना नया वेश धारण किया है। वह परमात्मा ही सब कुछ देखता है, समझता है और जानता है और वही जड़ चेतन के अन्दर - बाहर रमण कर रहा है।[4] उसने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवता पैदा किए हैं।[5] परमात्मा स्वयं अपने - आप को सृष्टि रूप में निर्मित करता है और स्वयं उसे पहचानता है। आकाश और पृथ्वी को पृथक्- पृथक् करके आकाश की चांदनी भी उसीने तनी है। अपने हुक्म के द्वारा स्तंभों के बिना आकाश को स्थिर किया है। सूर्य और चन्द्रमा को उत्पन्न कर उनमें अपनी ज्योति समाविष्ट की है। रात्रि और दिन के समान विरोधी तत्वों का निर्माण भी किया है।[6]

गुरु नानक ने एक स्थान पर सृष्टि रचना के आदि समय पर भी दृष्टिपात किया है। गुरु नानक इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन समझते हैं। इस विषय में कोई नहीं जानता कि सृष्टि रचना का समय क्या था, तब कौन सी घड़ी थी,

---

1:- नानक जीअ आखे सिरि नाथै अमु चलाइआ। आसा की वार पउड़ी पृ0463

2:- आसा की वार, श्लोक 14 पृ0 47।

3:- आपीन्हे आपु साजिओ आपीन्हे रचिओ नाउ ।। आसा की वार, पउड़ी। पृ0 463

4:- एपे पातिसाहु परमेसरु वेखणा कउ परपंचु कीआ।
सेवे सुणे सभ किछु जाणे ओतपि ओतरि रविआ। आसा, पट्टी 24 पृ0 433

5:- आपीन्हे आपु साजि, आपु पछाणिआ
आसा की वार, पउड़ी। आदि ग्रन्थ, पृ0 1279

यदि
वस्तु अथवा गुरुवर कोन साथा । यदि पण्डितों को सृष्टि रचना के समय का ज्ञान होता तो पुराणों में उसका उल्लेख कर दिया जाता । काजियों को भी उस तथ्य का ज्ञान नहीं था अन्य अन्यथा उनके कुरान में भी उसका वर्णन किया गया होता । योगी भी नहीं जानते वे कि सृष्टि रचना का आदि क्या है ? यदि उसका सही ज्ञान किसी को हो सकता है तो वह केवल उसके सृष्टि स्रष्टा को ही, जिसने उसकी रचना की है ।[1] उस जाल की " रचना से पूर्व केवल निश्चिंत अन्धकार ही था । न उस समय पृथ्वी थी, न ही आकाश । न तब दिन था न तब रात्रि । न चन्द्रमा था, न सूर्य आदि ।[2] सृष्टि के प्रारम्भ में केवल परमात्मा स्वयं ही प्रतिष्ठित था । वह स्वयं ही निर्लिप्त भाव से बैठा था । तब किसी प्रकार के दृश्यमान जगत का विस्तार नहीं था ।[3] जो अन्य किसी की अपेक्षा नहीं की । सृष्टि के आरम्भ से पूर्वावस्था को गुरु नानक ने "सुन्न" (शून्य) नाम से भी विभूषित किया है । उस शून्य से ही पवन, पानी, अग्नि, त्रि देव आदि समस्त सृष्टि की रचना मानी है ।[4]

1:- [illegible] सुखेका वस्तु [illegible] [illegible] विधि [illegible] सार ।
[illegible] कि स्ती मानु [illegible] जिनु होवा आकास ।
देव न पाईआ पंडती कि होवै लेखु पुराणु ।
[illegible] न पाइओ कादीआ कि लिखनि लेखु कुराणु ।
विधि [illegible] न जोगी जाणै रति मानु न कोई ।
जा करता सिरठी कउ साजे आपे जाणै सोई ।।जपु, पउड़ी 21, आ:ग्र: पृ0 5

2:- अखद नखद सुहेला । [illegible] न गला कुलु अपारा ।
ना दिनु रैनि न चंदु न सूरजु सुनी समाधि लगाइदा ।। मारू सोलहे 15 पृ0 1035

3:- जैसे जुग महले गुबारे । ताड़ी लाई अपर अपारे ।
सुखकादि निरालमु बैठा न तदि सुधु पसारा है । मारू, सोलहे 7/1 पृ0 1026

4:- सुनि वला अपरंपरि धारी । आपि निरालमु अपर अपारी ।
आपे कुदरति करि करि देखै सुनहु सुंनु उपाइदा ।
पवनु पाणी सुनि ते साजे । सृसटि उपाइ कायआ गढ़ राजे ।
अगनि पाणी जीउ जोति तुमारी सुनि वला रचाइदा । मारू, सोलहे,17 आ:ग्र:
पृ0 1037

यहां "शून्य" का अभिप्राय उस स्थिति से है जब संसार की सर्जना से पूर्व समस्त शक्तियां एक-मात्र परमात्मा में समाहित थी, जब रूप, रंग, रेखा, आकार, प्रकार कुछ भी नहीं था।[1]

गुरु नानक देव सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं - हुक्म के द्वारा सृष्टि रचना, ओंकार के द्वारा सृष्टि रचना, ओंकार के द्वारा सृष्टि रचना। हुक्म के द्वारा सृष्टि रचना का समर्थन करते हुए गुरु नानक देव का कथन है कि सृष्टि से पूर्व जब न धरती थी और न ही आकाश, उस समय केवल प्रभु का आदेश हुक्म ही विद्यमान था।[2] इस हुक्म से ही सृष्टि के समस्त आकार अस्तित्व में आये। हुक्म से ही समस्त जीव उत्पन्न होते हैं और हुक्म के द्वारा ही उन्हें बड़ाई मिलती है।[3] सिद्ध गोसटि में योगियों से परस्पर वार्तालाप में गुरु नानक ने हुक्म द्वारा सृष्टि के उद्भव का समर्थन किया है।[4] परमात्मा के हुक्म द्वारा समस्त संसार अस्तित्व धारण करता है और हुक्म में ही अन्ततः विलीन हो जाता है। हुक्म के द्वारा यह जगत उत्पन्न होता है और इसके द्वारा स्वर्गलोक, मर्त्यलोक तथा पाताल लोक अस्तित्व में आए हैं। इसी से ही सभी लोक स्थिति धारण करते हैं। हुक्म द्वारा धर्म के रूप पर धरती का सम्पूर्ण भार स्थित है, हुक्म द्वारा आत्मा का निवास माया निर्मित शरीर में होता है और जीव अनेक प्रकार की लीलाएं करता है। हुक्म के द्वारा आकार का विस्तार हुआ है और इसके द्वारा जल - थल और तीन लोकों में प्राणियों का निवास हुआ है।[5]

1:- रामकली, सिद्ध गोसटि 32 आदि ग्रन्थ, पृ0 943

2:- अरधि न धरणा हुकमु अपारा। मारू, सोलहे 15/1, आदि ग्रन्थ, पृ0 1021

3:- हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिया जाई।
हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिले वडिआई। जपु, पउड़ी 2, पृ0 1

4:- हुकमे आवै हुकमे जावै हुकमे रहै समाई। रामकली, सिद्ध गोसटि 22, पृ0 943

5:- मारू, सोलहे 16/10-14, पृ0 1022

मनुष्य परमात्मा के हुक्म के जरा माता के गर्भ में स्थित होता है और उसके जरा पेट में अधोमुख जन्मता है। मनुष्य हुक्म के अनुसार इस संसार में आता और जाता है और उसी के अनुसार कर्मों के परिणाम स्वरूप मनुष्य बंधा हुआ यमपुरी को जाता है तथा यमपुर स्थित दंड सहन करता है।[1] निष्कर्षतः हुक्म के जरा ही समस्त जीवन उत्पन्न होते हैं और हुक्म के जरा ही सभी अपना अपना कार्य सम्पन्न करने के उपरान्त कालवश होते हैं। हुक्म के जरा ही वे सत्यस्वरूप में समा जाते हैं।[2] जो कुछ परमात्मा को अच्छा लगता है, वह हुक्म के जरा ही वैसा करवा रहा है।[3] एक मात्र हुक्म ही सभी लोकों में परिव्याप्त है।[4]

गुरु नानक ने अनेक स्थलों पर ओंकार से भी सृष्टि रचना का स्वरूप स्वीकार किया है। उनका कथन है कि ओंकार से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है, ओंकार से ही पर्वतों और वेदों का निर्माण हुआ है। ओंकार जरा ही लोकों का उद्धार हुआ है। वस्तुतः "ओंनेम" अर्थात तीन लोकों का सार है।[5] इसी प्रकार गुरु नानक ने "हउमै" जरा भी सृष्टि के उद्भव का विचार प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि हउमै से जगत उत्पन्न होता है और नाम के विस्मरण से दुःख सहन करना पड़ता है।[6] हउमैं जरा जगत की उत्पत्ति के तथ्य का उद्घाटन मारु राग में भी किया गया है।[7]

1:- सोरठ असर पदी, 3/4-6 पृ0 634

2:- सिरी, असटपदी 4/8 पृ0 55

3:- हुकमो बरते जो तिस भावे। ‖ आसा, असटपदी 6/5 पृ0 414

4:- एको हुकमु बरते सभ लोई। एकु से सभ ओपति होई। गउड़ी असटपदी 5/7 पृ0 223

5:- रामकली, ओंकार। आदि ग्रन्थ, पृ0 929

6:- हउमै विचि जगु उपजै पुरखा नामि विसारिए दुखु पाई।
गुरमुखि होवै सु गिआनु लहु बीचारै हउमै सबदि जलाए॥
रामकली, सिध गोसटि 68 आदि ग्रन्थ, पृ0 946

7:- हउमै बिखु पाइ जगतु उपाइआ ... ‖मारु, असटपदी 2/6 पृ0 1008

नानक वाणी में जगत को नश्वर कहा गया है।[1] साँसारिक राज्य, माल, योबन आदि छाया के समान है।[2] ये जुआरी के जल के समान अनाश्रित हैं[3 a] गुरु जी का दृढ़ विश्वास है कि इस सृष्टि का किसी भी वस्तु में स्थायित्व नहीं है। सुलतान, खान, बादशाह, चौधरी, राजा, प्रजा, मुखिया, सरदार आदि सभी का किनारा अवश्यंभावी है।[3 b] गाज की वार में भी उसी प्रकार के विचारों का प्रतिपादन किया गया है।[4] आसा राम में गुरु नानक ने संसार को मदारी का खेल बताया है।[5] "पट्टी" नामक रचना में गुरु कवि ने संसार के चार युगों की प्रक्रिया को चौपड़ का खेल बताया है। समस्त जीव-जन्तु इस खेल के मोहरे है। जिनको परमात्मा स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार फेंकता है।[6] यह जगत[जगत] जल का बुलबुला है और इसका रूप रंग और स्वरूप साँसारिक समारंभ है। पानी की छोटी सी बूंद अथवा वायु के झोंके से इस बुलबुले की शोभा नष्ट हो जाती है।[7]

1:- बुलबुला मुकामे पानी ? ? - - - -[जिसका], पदे 1/ रहाउ पृ0 721 ।

2:- राजु मालु जोबनु छलु छाँह । सलोक, पदे 2/2 आदि ग्रन्थ पृ0 1254

3 a:- गाज, अष्टपदी 11/4 आदि ग्रन्थ , पृ0 1009

3 b:- गउड़ी, अष्टपदी 14/3-7 आदि ग्रन्थ, पृ0 225

4:- राजे रथति सिकदार कीट न रखीजो । घर पटण बाजार कुमी ढखीजो।
पैके ऊँट दुआर मुखु जाती आपणो । लाजी रथ तुखार हाथी पालखे ।
गउड़ी 8, आदि ग्रन्थ, पृ0 226

5:- खेलु मालु जगतिआ बाजी संसारा ।
किसु पहु बाजी खेलीऐ उबरत नहीं बारा । आसा, अष्टपदी 22/4, पृ0 422

6:- खेले बाजी खेलणा लागा चउपड़ि कीते चारि जुगा ।
जीअ जंत सभ मारी कीते पासा ढालणि आपि लगा । आसा,पट्टी26 पृ0 434

7:- कागद कोटु रतु मासु है अखरी रूपि चितवत चतुराई ।
पानी की बूंद पवनु परसि खोटे जनमि गये किसु लाई ।
मलार, अष्टपदी 2/4 आदि ग्रन्थ, पृ0 1274

नानक वाणी में गुरु नानक ने अनेक स्थलों पर सृष्टि विकास के क्रम का प्रतिपादन भी किया है। उनका कथन है कि सर्वप्रथम सत्य स्वरूप परमात्मा ने पवन उत्पन्न हुआ, पवन से जल की उत्पत्ति हुई। उनसे तीन लोकों - आकाश, पाताल और मर्त्य लोक का निर्माण हुआ।[1] परमात्मा ने तीनों - पुनः जल, अग्नि और पवन नाम के तीन तत्वों को उत्पन्न कर, फिर इनके संयोग से पंच-भौतिक जगत् की रचना की। इन तत्वों को संसार - निर्माण की शक्ति देकर परमात्मा ने उन्हें एक सीमा के अन्तर्गत ही रखा।[2] एक अन्य स्थल पर गुरु नानक ने सृष्टि से पूर्वावस्था का चित्रण करते हुए सृष्टि - विकास का भी उल्लेख किया है। उनका विचार है कि शून्य समाधि की निर्विकल्प अवस्था में जल, थल, आकाश आदि कुछ भी नहीं था। किसी जीव के, उस अवस्था में न माया का विस्तार था और न ही अज्ञान का अन्धकार। न सूर्य था, न चन्द्रमा और न ही अपार ज्योति थी। ऐसी शून्यावस्था में से परमात्मा ने पवन, जल, अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु और महेश के आकारों की रचना की।[3] इस प्रकार गुरु नानक ने सृष्टि से पूर्व की स्थिति का भी बड़ा ही विशद् वर्णन किया है। उनका मत है कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व यह एक प्रकार का अंड था। इस अंड को तोड़ कर परमात्मा ने उसके संयुक्त भागों को अलग - अलग कर दिया और इस प्रकार धरती और आकाश को अपना निवास स्थान बनाया। पुनः उसने रात्रि और दिन, भय और प्रेम, नि क्षेत्र और अन्य क्षेत्री-क्षेत्रता उत्पन्न किए और क्रमशः ज्योतिर्मय जातियों की रचना की। उसके पश्चात् चार वेदों, चार खानियों, अनेक लोकियों, अठारह पुराणों, छः शास्त्रों और तीन गुणों को उत्पन्न किया।[4] इन सबमें धरती को कर्मभूमि के रूप में स्थापित किया।[5]

1:- पाचे ते पवना भइआ पवने ते जलु होइ।
जल से त्रिभवणु साजिआ घटि जोति समोइ। सिरी, पउ 19/3 आ:ग्र: पृ0 19

2:- जलु तेरा आनी पवणै पुनि ओ मिलि जानु उपाइआ।
ऐसा जलु जलु तिस का दीआ सुआमी ताकि रहाइआ। परभाती, आसपदी 7/6 आ:ग्र: पृ0 1349

3:- गूजरी, आसपदी 2/2-4 आदि ग्रन्थ, पृ0 504

4:- खिलावल, थिति, 3-5 , पृ0 838

5:- जपु, पउड़ी 34, पृ0 7

गुरु नानक ने न केवल सृष्टि की उत्पत्ति और संचालन को परमात्मा द्वारा माना है, अपितु उसका लय भी परमात्मा के द्वारा[1] और परमात्मा में[2] माना है। वस्तुतः परमात्मा स्वयं इस सृष्टि का निर्माण करता है और स्वयं ही विनाश। जैसा उसको अच्छा लगता है, वह उसी प्रकार करता है।[3] सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश सम्बन्धी गुरु नानक का दृष्टिकोण उपनिषदों के साथ पर्याप्त साम्य रखता है। मुण्डकोपनिषद के अनुसार जैसे अत्यन्त प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूप वाली हजारों चिनगारियाँ निकलती है, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से अनेकशः भाव (जीव) उत्पन्न होते हैं और उसी में समाहित हो जाते हैं।[4] जैसे मकड़ी अपने जाले को बनाती और निगल जाती है, उसी तरह अक्षर ब्रह्म से विश्व प्रकट होता है।[5] गीता में भी इस से कुछ मिलते - जुलते विचार प्रकट किए गए हैं कि सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थ दिन के आरम्भ में होने पर अव्यक्त से प्रकट होते हैं और रात्रि के समय उसी में पुनः समाहित हो जाते हैं।[6] इसके अतिरिक्त, सृष्टि के स्वरूप सम्बन्धी उपमान - विधान में भी गुरु नानक की भावनाओं की वेदान्त ग्रन्थों में अभिव्यक्त स्थापनाओं से पर्याप्त समानता है।[7] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा अपनी इच्छा से सृष्टि की रचना करता है और उसे पुनः अपने में ही विलीन कर लेता है।[8]

1:- (क) जिसे से उपजे तिस से जिए से। सिरी, पदे 16/2 आदि ग्रन्थ, पृ 20
(ख) जिनि सिरि साजी तिनि सुणि गोई। आसा, पदे 21/1 वही पृ0 16

2:- तुझ से उपजहि तुझ माहि समाहि। माझ, सोलहे 14/16 आदि ग्रन्थ पृ0 1029

3:- ठटे ठाहि उसारे आपे जिउ तिसु भाणे तिवे करे। आसा, पट्टी 17
आदि ग्रन्थ, पृ0 434

4:- मुण्डकोपनिषद, 2/1/1

5:- मुण्डकोपनिषद, 1/1/7

6:- अव्यक्तादव्यक्तयः सर्गाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।
गीता, 8/18

7:- आसा, असटपदी 22/4, आ:ग्र: पृ0 415
आसा, पट्टी 26, वही पृ0 435

8:- जा करता सिरठी को करु साजे आपे जाणे सोई। जपु, पउड़ी 21 आ:ग्र: पृ0 5

गुरु नानक ने सृष्टि तथा जगत की रचना का विस्तार सहित वर्णन करते हुए युगों के परम्परागत विभाजन का भी प्रतिपादन किया है। पुराणों में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि - इन चार युगों में जगत की अवधि के एक चक्र को विभाजित किया हुआ है। सत्य युग के विषय में नानक वाणी में बताया गया है कि इस युग में मनुष्यों के शरीर में सत्य और सन्तोष की प्रमुखता थी। सत्य स्वरूप परमात्मा उनकी सच्चाई को परखकर उनपर अपना कृपा हस्त फैलाता था। उस समय सच्चा, सन्तोषी और सर्वगुण सम्पन्न होता था। इस युग में सभी सत्यवादी थे।[1] त्रेता युग के विषय में गुरु नानक का कथन है कि इस युग में धर्म की एक कला नष्ट हो जाती है और धर्म वृक्ष के तीन चरण शेष रह जाते हैं। सत्य रूपी चौथे चरण का स्थान दुविधा ले लेती है। इस युग में गुरमुख व्यक्ति ही सत्य स्वरूप परमात्मा का ज्ञान करता है, मनमुख व्यक्ति तो स्वार्थ की बातों में नष्ट होता है, अतः उसको सच्चे दरबार का ज्ञान प्राप्त नहीं होता।[2] द्वापर युग में धर्म की कला "दया" के नष्ट होने से धर्म की शक्ति आधी हो जाती है। इस प्रकार धरती को धारण करने वाले वृक्षके केवल दो चरण शेष रह जाते हैं। इस युग में राजा लोग स्वार्थ पूर्ति के लिए धर्म-कर्म करते हैं। महाराजों के सम्मान में सजे हुए ही दान करते हैं। परन्तु सच तो यह है कि वे बिना राम - नाम के मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है। कर्मकाण्डों के द्वारा जो मुक्ति की अभिलाषा करते हैं वे ऐसे कर्म जितने चाहें कर लें, किन्तु शब्द के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती।[3] कलियुग में धर्म की केवल एक कला शेष रह जाती है। इस युग में पूर्ण गुरु के बिना परमात्मा का सम्मान करना अथवा उसका संयोग प्राप्त करना सम्भव नहीं है। मनमुख व्यक्ति सदैव बुरे कार्य - व्यवहारों में लीन रहते हैं। परन्तु जो सृष्टा की आराधना में लीन रहता है, वह उसी का रूप हो जाता है और पुनः उसको काल सम्प्राप्त नहीं कर सकता।[4]

1:- मारू, सोलहे 4/3-5 आदि ग्रन्थ, पृ0 1023
2:- मारू, सोलहे 4/6-7 वही पृ0 1024
3:- मारू, सोलहे 4/8-12 वही पृ0 1025
4:- मारू, सोलहे 4/13-14 वही पृ0 1025

गुरु नानक ने इन युगों के लक्षणों को एक अन्य रूपक द्वारा भी प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि सत्ययुग में सन्तोष का रथ था और धर्म उसका रथी था। त्रेता युग में संयम का रथ था और जोर (पराक्रम) रथी था। द्वापर युग में तप का रथ था और सत्य उसका रथी था। कलियुग में तृष्णा की अग्नि का रथ है और झूठ उसका रथी है।[1] इसी प्रकार गुरु नानक ने कलियुग को कसाइन, माया को मक्खी और मतवाले मन को मद्य बताया है।[2]

गुरु नानक ने अपने जीवन - काल के वातावरण की साम्यता कलियुग से प्रकट की थी। उन्हें लगा था कि पतनोन्मुख उस समाज की प्रवृत्ति निश्चित रूप से कलियुग की सी रही होगी। यही कारण है कि उन्होंने अपने समय के समाज को कलियुग से अभिहित किया है। कलियुग की व्याख्या के अन्तर्गत गुरु नानक के इन विचारों का अध्ययन निस्सन्देह समीचीन है। तत्कालीन समाज को कलियुग के रूप में चित्रित करते हुए गुरु नानक के क्षेत्र ने बताया है कि कलियुग में लोगों के मुख कुत्तों के समान हैं अर्थात् कुत्तों के स्वभाव वाले हो गए हैं और मुरदार उनकी खाद्य वस्तु बन गई है, क्योंकि उन्होंने धर्मानुशासित कर्म करने छोड़ दिए हैं और झूठ बोलने लगे हैं। इस प्रकार धर्म सम्बन्धी सभी विचार समाप्त हो चुके हैं।[3] मनुष्यों के कर्म कुत्तों जैसे ही गए हैं जो लोभवश द्वार पर बैठे आशा का पालन करते हैं।[4] स्त्रियाँ मूर्ख और पुरुष ज्ञानिन हो गए हैं। रमीलुरुपम और पवित्रता को त्यागकर लोग खाद्याखाद्य पदार्थ खाने में व्यस्त हैं। शर्म - हया, मान-मर्यादा आदि सद्वृत्तियाँ भी लुप्त हो गई हैं।[5] कलियुग छुरी के समान है। इस युग के राजा लोग कसाई का रूप धारण कर चुके हैं और धर्म पंख लगाकर, न जाने कहाँ उड़ गया है। झूठ की अमावस्या सर्वत्र व्याप्त है, सत्य का वह चन्द्रमा कहीं चढ़ा दिखाई

1:- आसा की वार, श्लोक 23 आदि ग्रन्थ, पृ0 473

2:- कलि कसवाली माइआ मदु मीठा मनु मतवाला पीवतु रहै। आसा, पदे 5/4 आ:ग्रं: पृ0 350

3:- सारंग, श्लोक 21 वही पृ0 1242

4:- आसा, पदे, 4/4 आदि ग्रन्थ, पृ0 350

5:- सारंग, श्लोक 22 वही पृ0 1243

नहीं देता।[1] कलियुग में दानी लोग पाप की कमाई लाकर पाप करते हैं और गुरु अपने शिष्यों के घर दीक्षा देने के लिए जाते हैं। इस युग में कोई वेद शास्त्र नहीं पढ़ता, प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ के अनुकूल पूजा करता है।[2]

माया :-

"माया" शब्द भारतीय चिन्तन परम्परा में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। माया शब्द से लेकर मायावाद तक का अध्ययन भारतीय दर्शन का एक विशिष्ट विकासक्रम प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद से लेकर बीसवीं शताब्दी तक इस शब्द तथा इस शब्द से अभिव्यंजित होने वाले विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करने के लिये अनेक मनीषियों द्वारा गंभीर प्रयत्न किये गये हैं। विमर्श ने इसे "मा" धातु से व्युत्पन्न मान कर इसका अर्थ "तैयार करना, रच देना या बनाना" स्वीकार किया है।[3] प्रज्ञामान ने "माया" शब्द की व्युत्पत्ति "मि" धातु से स्वीकार की है, जिससे इस शब्द का अर्थ मान, विज्ञान, कल्पना और अनुमान हो जाता है।[4] कतिपय विद्वानों ने माया को "मि" धातु से भी व्युत्पन्न माना है।[5] माया शब्द का अर्थ "भ्रम जनक शक्ति"[6] भी किया गया है। मैकडोनल ने अपने "वैदिक शब्दकोष" में माया को "जादू - टोना" के अर्थों में प्रतिपादित किया है।[7] डा० राधाकृष्णन ने माया को निर्माणिका शक्ति के अर्थ में लेने का

1:- मारु की वार, श्लोक 22, आदि ग्रन्थ, 145
2:- राम कली, श्लोक 1, वही पृ० 955
3:- एच० जिमर, फिलासफीज आफ इण्डिया, पृ० 339
4:- जे० गौड़ा, फोर स्टडीज इन दे कंसेप्ट आफ मेहा 1959, पृ० 119
5:- वही पृ० 109- 119
6:- एम० मोनियर विलियम्स, "हिन्दु - इज्म" लण्डन पृ० 105
7:- मैकडोनल्ड, वैदिक मैथोलोजी, पृ० 156

प्रयत्न करते हैं।[1] इसी प्रकार कहीं कहीं माया को "जादुई अलौकिक शक्ति" भी कहा गया है।[2]

इस प्रकार माया शब्द के अध्ययन के इन अलग-अलग प्रयत्नों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि माया का प्रयोग भारतीय वाङ्मय में कितने अधिक सन्दर्भों में किया गया होगा और इसमें एक वर्तमान विद्वान का स्वतन्त्र प्रयत्न करने की कितनी अधिक संभावनाएँ रही होंगी - यह एक अलग अध्ययन का विषय है। माया शब्द को अधिक स्पष्ट करने के लिये वाङ्मय में प्रयुक्त कतिपय सन्दर्भों का उल्लेख समीचीन होगा।

वेदों में रुद्र को सब देवों से बड़ा देवता माना गया है। वहाँ रुद्र का कहीं अग्नि, कहीं मारुत तथा कहीं सूर्य आदि के रूप में वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में उल्लेख है - रुद्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते,[3] अर्थात् रुद्र अपनी शक्ति से अनेक रूप धारण कर लेता है। यहाँ रूप बदलने की क्रिया को माया कहा गया है। प्रो० दास गुप्ता के अनुसार माया शब्द ऋग्वेद में अलौकिक शक्ति और अद्भुत कौशल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को माया तथा परमेश्वर को महान् मायावी कहा गया है।[5] उपनिषद् के मनीषी का कथन है कि इसी माया की शक्ति के द्वारा परमात्मा संसार का सृजन करता है तथा आत्मा इसी माया से आवृत रहती है।[6] इस प्रकार कठोपनिषद् में बताया गया है कि आत्मास्वरूप परमपुरुष सब प्राणियों में रहता हुआ भी माया के पर्दे में छिपा हुआ रहने के कारण

1:- एस० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलोसफी वाल्यूम, ।। पृ० 565 एस

2:- एस० सिंगर, फिलोसफी आफ इण्डिया, पृ० 19 एस

3:- ऋग्वेद , 6/47/18

4:- सुरेन्द्र नाथ दास गुप्ता, हिस्टरी आफ इण्डियन फिलोसफी वा० । पृ० 469

5:- मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।। श्वेताश्वतर 340 , 4*10

6:- अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् । तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्ध: वही, 4*9

सब को प्रत्यक्ष नहीं दीखता केवल सूक्ष्म तत्वों को समझने वाले पुरुषों द्वारा ही सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण बुद्धि से देखा जाता है।[1] उपनिषदों के कुछ अंशों का अध्ययन करने पर यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि यद्यपि उपनिषदों में कहीं कहीं प्रत्यक्षतः से माया शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है परन्तु कुछ अंश स्पष्टतया माया की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। शंकराचार्य ने अपने मायावाद को वैदिक सिद्ध करने के लिये इन अंशों में प्रतिपादित भावों को ग्रहण करने का प्रयत्न करते हुए इन का उद्धरण प्रस्तुत किया है। हिरण्मय पात्र से सत्य का पिहित मुख,[2] अज्ञान में रहते हुए भी स्वयं को बुद्धिमान मानकर अन्धे द्वारा अन्धे का नेतृत्व,[3] अविद्या की ग्रन्थि की भाँति प्रतीति,[4] ज्ञान को पोषक तथा अज्ञान को उसके विरोधी की मान्यता,[5] परमात्मा के द्वारा जाल बिछाकर संसार के समस्त जीवों को उसमें फँसाकर उन पर शासन,[6] आदि विचार जो उपनिषदों में देखे जा सकते हैं, अप्रत्यक्ष रूप से माया सिद्धान्त द्वारा के अभिव्यंजक हैं। कुछ तो बिल्कुल भ्रम के ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार उपनिषदों में नामरूपात्मक जगत् को, अविद्या को, भ्रम को तथा प्रकृति को माया कहा गया है।

1:- "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥" कठोपनिषद् 1·3·12

2:- हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। ईशोपनिषद् 1·5·

3:- दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना
यथान्धाः॥ कठोपनिषद् 1·2·4;5

4:- मुण्डकोपनिषद्, 2,1,10

5:- नाना तु विद्या च अविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव
वीर्यवत्तरं भवतीति छान्दोग्य उ, 1,1,10

6:- श्वेताश्वतर उप० 5·3·

गीता में माया को कृष्ण की शक्ति कहा गया है। गीता का कथन है - "मेरी यह गुणमयी और दिव्य माया दुस्तर है। जो माया को ही पार कर पाते हैं, जो मेरी शरण में आते हैं।[1] गीता में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि ईश्वर अपनी माया के द्वारा कठपुतली रूपी सम्पूर्ण प्राणियों को सूत्रधार की भाँति नचाता है।[2] इस प्रकार गीता में माया को भ्रम, अविद्या तथा प्रकृति - रूप में प्रतिभाषित किया गया है।

कोडदर्शन पर भी उपनिषदों में वर्णित इस मायावाद का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। महायानियों के शून्यवाद तथा अनात्मवाद मायावाद से स्पष्टतया प्रभावित हैं।[3]

जैन दर्शन में कषायों का वर्णन करते हुए माया को भी एक कषाय कहा है तथा उसे एक और व्यापक वृत्ति कहा है। जैनियों के चार कषाय क्रोध, अभिमान, माया तथा लोभ हैं।[4] सांख्य दर्शन के अनुसार ही परवर्ती वेदान्तियों ने माया को सत्व, रज तथा तम गुणों से युक्त माना है।[5] माया अनिर्वाचनीय, अनिश्चित तथा अज्ञानमय है।[6]

शांकरवेदान्त में माया शब्द के महत्वपूर्ण विकास के कारण इस सिद्धान्त को मायावाद की संज्ञा से ही अभिहित किया गया है। यहाँ माया शब्द पूर्णतया एक दार्शनिक विशेष का पर्याय बनकर मायावाद का रूप धारण कर लेता है।

माया की प्रतिभासिक सत्ता का स्पष्टीकरण अध्यास के द्वारा किया जाता रहा है। अध्यास की कल्पना की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि शांकराचार्य अद्वैतवेदान्त में कार्यकारण भेद स्वीकार नहीं कर सकते थे। अध्यास के स्वरूप को

1:- गीता , 7*14

2:- ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ।। गीता , 18*61

3:- भरत सिंह उपाध्याय - "बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन ।। पृ0 1036

4:- सुरेन्द्र नाथ दास गुप्ता, इण्डियन फिलोसफी, वा0 । पृ0 201

5:- वही पृ0 492

6:- वही पृ0 493

स्पष्ट करते हुए वेदान्त सूत्र में लिखा है कि अध्यास का अर्थ तद में अतद बुद्धि का होना है। [1] इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य शांकर ने बताया है कि स्मृति के रूप जैसा रूपवाला तत्प्रकारताविशिष्ट से भिन्नाधिकरण में पूर्वदृष्ट पदार्थ का अवभास जो भास प्रतीति है वही अध्यास है। इस अध्यास के भी अर्थाध्यास, ज्ञानाध्यास आदि कई भेद निरूपित किए गए हैं। अध्यास के इस सिद्धान्त को श्री मद्भगवत् गीता में स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि जो वस्तु न होने पर भी प्रतीत होती है जैसे शुक्ति में रजत [2] और जो आत्मा को प्रतीत नहीं होती उसको आत्मा की माया जानना चाहिये।

शांकर के मायावाद के बिल्कुल विपरीत तान्त्रिकों का मायावाद है। तान्त्रिक और उनके अनुकरण पर विकसित हुए सम्प्रदायों में माया को मिथ्या न मानकर सद्रूप माना गया है। उनका सिद्धान्त है कि जिस प्रकार शक्तिमान सद्रूप होता है उसी प्रकार शक्ति भी सद्रूप है। माया शक्ति का ही एक भेद है अतः वह सद्रूप है। [3]

इस प्रकार माया शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न सम्प्रदायों, दार्शनिकों द्वारा भिन्न भिन्न अर्थों में होता रहा है। कभी वह अलौकिक शक्ति, बहुभुज कोयाल, कभी छल - कपट तथा भ्रम के अर्थ में का द्योतक रहा है। कहीं कहीं तो कपटपूर्ण आचरण के अर्थ से और कहीं मिथ्या ज्ञान के अर्थ से माया की धारणा समन्वित रही है। शांकर अनुयायियों द्वारा अविद्या तथा माया में भी अन्तर मानते हुए ब्रह्म को आवरित करने वाली माया, सृष्टि का कारण मानी गयी है। आगे चलकर मध्यकालीन साधना में लगभग उपर्युक्त सभी अर्थों में माया का प्रयोग किया गया है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1:- बृहदारण्यकोपनिषद - 1·2·1·

2:- भगवत् गीता - 2·9·33

3:- डा० गोविन्द त्रिगुणायत: हिन्दी निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० 434

गुरु नानक ने माया को प्रभु का दिया हुआ नारी का गोला कहा है, जिसकी मादकता के परिणाम स्वरूप प्राणियों की बुद्धि मृत्यु को भूल जाती है और चार दिन की खुशियाँ मनाने में लीन रहती है।[1] यह अनेक प्रकार के मनमोहक रूप धारण कर के जीव को छलती रहती है। पुत्र, भाई, पत्नी, धन-दौलत, लोभ और अहंकार के कारण सारे संसार में माया के मोह की छाया व्याप्त है।[2] मायावी सर्पिणी के वशीभूत जीव मूढ़ता में ईर्ष्याभाव और अहंकार की भावना के कारण इस प्रकार भटकता रहता है जिस प्रकार रात्रि को सोया हुआ प्राणी स्वप्नों में भटकता रहता है।[3] माया की रचना धोखा ही धोखा है।[4] अहंकारी राजा लोग माया का ही मोह करते रहते हैं परन्तु यह माया किसी के साथ नहीं जाती।[5] इस प्रकार माया के क्षेत्रों में भाग - दौड़ करना बुद्धि का विकार - युक्त कर्म है। मूर्ख व्यक्ति अपनी मनमाना विधानों में करता है परन्तु वह वास्तविक कर्म को समझ नहीं सकता। उसके मन की इच्छाएं माया द्वारा मोहित हो जाती हैं और उस मनमुख के सब क्रियाकलाप झूठे हो जाते हैं। ऐसे पाखंडों का स्नान करना व्यर्थ है तथा उसके सुन्दर शृंगार भी झूठे हैं।[6]

1:- अम्रु गलोला कूड़ का दिता वैरण सारि।
मती मरणु विसारिआ खुसी कीती दिन चारि। सिरी, पटे 5/1, पृ0 15

2:- तुधना माइआ मोहणी सुत - धीअ कल नारि।
धनि जोबनि जगु ठगिआ सबदि लोभ अहंकारि।
दोख लगन ते छुट मुई सा सचहे सीगारि। सिरी, असपदी 13/1 पृ0 61

3:- जिउ सुपने निसि भूलीऐ अजगरि गरिआ दोइ।
तउ सरपनि के वसि जीअड़ा अैसे हउमै दोइ।। सिरी, असपदी 15/7 पृ063

4:- झूठा माइआ रचना जोइ। सिरी, पटे 5/ रहाउ पृ0 14

5:- परभाती, असपदी 1/2, पृ0 1342

6:- माइआ धोखा धारणी दुरमति कार विकार। मूरख आपु गणाइदा बुधि न सचे कार।
मनमुखा माइआ मोहणी मनमुख जोम जुआर। मनमुख हुआ पखाल का फोकट चार
सिंगार।।
परभाती, असपदी 3/2, पृ0 1343

गुरु नानक ने माया को केवल मोह ममता अथवा जन - सम्पत्ति के रूप में ही चित्रित नहीं किया, अपितु उसके त्रिगुणात्मक स्वरूप का प्रतिपादन भी किया है। उनका विचार है कि माया ने तीन गुणों के समन्वय के द्वारा सृष्टि को बाँधा हुआ है। जीव - इन गुणों के अधीन्न सब प्रकार की क्रियाएँ करता है।[1] सत्व, रज और तम तीन गुणों से निर्मित प्रकृति की सृष्टि को सांख्य में हेतुमत् कहा गया है। सांख्य कारिका 10 एवं 11 में अव्यक्त [मूल प्रकृति] मे और व्यक्त [प्रकृति] को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि व्यक्त [अर्थात् प्रकृति] हेतु वाला अतः अनित्य है, व्यापक नहीं है, सक्रिय है, अनेक है, प्रधान का अनुमान कराने वाला है, सावयव है और अव्यक्त पर निर्भर होने के कारण परतन्त्र है। अव्यक्त और व्यक्त अर्थात् प्रकृति मात्र के सामान्य गुण हैं - कि वह सत्, रज और तम गुणवाली, विवेक हीन, ज्ञेय या विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी है।[2] जहाँ तक तीन गुणों का प्रश्न है सतोगुण प्रकाशक, रजोगुण प्रवर्तक और तमोगुण वास्तव्योत्पादक अतः प्रतिरोधक होता है। बत्ती, तेल और दीपक की भाँति भिन्न भिन्न होकर भी तीनों गुण एक स्थान में रहकर कार्य सम्पादन करते हैं।[3] इस प्रकार गुरु नानक का भी कथन है कि शरीर तीन गुणों से बँधा हुआ है और इसी माया के अन्तर्गत यह अपनी भौतिक क्रीड़ा सम्पन्न करता है।

1:- तेरे तीनि गुणा संसारि समावहि इकु न लखणा जाई रे।
सकर खंडु माइआ तनि मीठी इस तारु पवै उधाई रे।
राति अंधेरी मुजसि नाही सचु दुकसि मूआ भाई रे। गउड़ी, पदे 16/रहाउ-2 पृ0156

2:- हेतुमदनित्यम व्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥10॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥11॥

3:- सांख्य कारिका 12,13 तथा 22

4:- त्रिगुण की देहरी जो आज्ञा जनि सो लेहु ॥
सिरि, पदे 18/4 आदि ग्रन्थ, पृ021

गुरु वाणी में ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं, जिन में माया का वर्णन विभिन्न रूपों द्वारा किया गया है। साप, जाल, दीवार आदि को माया का प्रतीक माना गया है। माया को सर्पिणी कहा गया है। माया को साप के रूप द्वारा चित्रित करते हुए बताया गया है कि माया ऐसी कुलटा नारी के समान है जो अपनी बहू को घर में घुसने नहीं देती और उसे अपने प्रियतम से मिलने से भी रोकती है।[1] माया को रंगने के लिये पाप और लोभ को मजीठी रंग कहा गया है।[2] जिसका रंगा हुआ शरीर रूपी चोला परमात्मा रूपी पति को अच्छा नहीं लगता। यह ठगनी के समान अनर्थकारी है, जो सांसारिक प्राणियों को वास्तविक मार्ग से हटाकर और लोभ के अधीन कर नष्ट कर रही है।[3] माया को संसार - सागर में मन को फांसने का जाल बताया गया है। माया रूपी जाल प्रत्येक प्राणी को फैलाये हुए है।[4] माया छाया के समान है जो अतीत से झूठी और व्यर्थ है, परन्तु फिर भी समस्त संसार उसके आकर्षण द्वारा भ्रमित है।[5] एक स्थान पर गुरु अर्जुन ने छोटी, कटु, फूहड़ एवं लड़ाकू स्त्री की भांति माया का स्वरूप चित्रित किया है।[6] माया को गुरु नानक ने रात्रि का सपना भी कहा है।[7]

माया का मोह अत्यन्त प्रबल है। इसके द्वारा मोह में सब जड़ - चेतन फंसे हुए हैं। इससे बचना बड़ा कठिन है। इसीलिए गुरु नानक ने माया के मोह को शिकारी कुत्ते, भोली और जादू - टोना करने वाली स्त्री के समान बताया है।

1:- सासु बुरी घरि सासु न देवै पिर सिउ मिलणु न देइ बुरी। आसा.पड़ताल/2 पृ0 355

2:- तिलंग, पदे 3/1

3:- माइआ के खेलाणे प्राणिआ छुटि खुआरी पाई।
लबि लोभि मुलताजि विगूते दह दिसि फिरि पचाई। रामकली ओअंकार 16 पृ0 930

4:- माये त्रिकुटी बिखमि करि। बोले कड़ा जिहवा की फुड़ि।.....
माइआ मोहि सभो जगु बाधा। इहै पंचे मनमुख मुराधा।
गुरनानक वाह पकरि का राखा। 4:2:96 आसा, 5, पृ0 394

5:- जिउ सुपने निसि भुलिऐ जब लगि निद्रा होइ। 7:15, अष्टपदी।पृ0 63
जगु सुपना बाजी बनी बिन बूझे खेलाइ।। सिरी। पृ0 18

सांसारिक राज्याधिकार और रूप रंग सब मिथ्या हैं, अनाशुद्ध हैं।[1] माया के मोह की मिठास गुरु नानक ने ईख के समान बताते हुए कहा है कि ईख को काटकर, छील - छाल कर रसली से पीसा जाता है, फिर उसको कैलन में रखकर पेरा जाता है। रस को मिठास कर उबलने में डाला जाता है तो आँच से वह रस तपता है और खिलता है। गन्ने की यह अवस्था मिठास के फलस्वरूप है। इसी प्रकार माया के मोह की मिठास के कारण प्राणियों की भी बड़ी दुर्दशा होती है।[2]

गुरु नानक ने माया को "बेरी" और परमात्मा को ठाकुर बता कर दोनों के मध्य स्वामी और सेविका का सम्बन्ध स्थापित किया है। माया की सेवा करने वाला, वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता, क्योंकि पानी के बिलोड़न से मक्खन के निकलने की आशा नहीं की जा सकती।[3] गुरु नानक ने माया रूपी नारी के तीन बेटों अथवा पुत्रों की भी कल्पना की है। इन तीनों में से एक संसार का निर्माता संसारी [ब्रह्मा] है, दूसरा संसार का पालक भंडारी [विष्णु] है, और तीसरा संहार करने वाला संहारक [शिव] है। परमात्मा, त्रिगुणात्मक माया और उसके तीन पुत्रों को अपने आदेश के अनुसार ही चलाता है।[4]

गुरु नानक का कथन है कि इस सृष्टि का समस्त जड़-चेतन माया के संकेत पर ही नृत्य कर रहा है। तीनों देवता भी माया के फंदे में फंसे हुए हैं। उससे बच निकलने का कोई उपाय नहीं है।[5] जब माया के प्रभावाधीन सभी देव-देवियाँ ही विवश हैं,[6] तब साधारण जीवों की तो गणना ही कहाँ हो सकती है। प्रेमभाव के कारण माया ने जगत के चित्त में वास किया हुआ है और काम,क्रोध, अहंकार

1:- शिवराज, पदे 3•2 पृ0 796

2:- माझ की वार, श्लोक 21 पृ0 147

3:- बेरी की सेवा करहि ठाकुर नहीं दीसे। पोकर मीरु बिरोलीऐ माखनु नहीं रीसे।
गउड़ी, अलपदी 18/1 पृ0 229

4:- जपु, पउड़ी 30 पृ0 7

5:- माइ, सोलहे 15/14 पृ0 1042

6:- माखा मोहे देवी सभि देवा। गउड़ी, अलपदी 14/2 पृ0 227

आदि के सूक्ष्म स्तरों में विकार का कारण बनी हुई सर्वत्र व्याप्त है।[1] माया के प्रभाव को नष्ट करने में कोई भी समर्थ नहीं है। यदि माया की शक्ति नीच के वर्ग में होती तो उसको छोड़कर सभी और निम्न दोनों ही सुधार करते हैं। माया के कारण दुर्ग भी सुरक्षित समझे जाते हैं।[2] पुत्र, स्त्री, जगत् के प्रति प्रेम-यह सब कुछ माया के मोह का ही प्रसार और विस्तार है।[3]

गुरु नानक माया और संसार में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते हैं। संसार जो कुछ भी है वह सब माया का मीठा मोह है।[4] इस माया ने सम्पूर्ण जगत् को मोहित किया हुआ है। इस तथ्य को कोई ब्रह्मज्ञानी ही जान सकता है।[5] इस जगमोहिनी माया के अधीन किये हुए सभी कर्म व्यर्थ हैं।[6] वस्तुतः नामरूपात्मक जगत् माया का साकार रूप है, छाया-मात्र है।[7] इस प्रकार माया ने मन को संसार रूपी तालाब में पड़े जाल में बांध रखा है। प्रत्येक प्राणी के हृदय में यह जाल बिछा हुआ है और यह जाल माया - विष से युक्त है। ऐसी स्थिति में जो जन्म लेता है वह काल के वशीभूत हो जाता है।[8] प्राणी के मन में संशय व्याप्त है और बाहर आँखों में माया के बाण लगते हैं। ऐसी अवस्था में प्राणी बहुत दुःखी होता है।[8] अतः मन माया के मोह-जाल नष्ट प्राय है।[9] मन माया के विषयों

1:- गउड़ी, अलपदी 5/1 पृ0 223

2:- रामकली, ओअंकार 14 पृ0 931

3:- पुत्र कलत्र जगि हेतु पिआरा। माइआ मोहु पसरिआ पसारा।
मारू, सोलहे 9/9 पृ0 1041

4:- संसार माइआ मोहु मीठा • • • •[आसा, छंत 5/3 पृ0 439]

5:- इहि माइआ जगु मोहिआ विरला बूझै कोइ। सोरठ, पदे 2/रहाउ पृ0 595

6:- सोरठ, अलपदी 2/1 पृ0 634

7:- सभु जगु देखिआ माइआ छाइआ। आसा, पदे 17/4 पृ0 354

8:- अंतरि सलला बाहरि माइआ मेरी लगसि बाणी।
प्रणवति नानक दासनिदासा परतापड़िआ प्राणी॥ रामकली, पदे 2/4 पृ0877

9:- परभाती, अलपदी 5/2 पृ0 1345

में भूलकर सांसारिक चक्कर में आता - जाता और भ्रमता रहता है। यह माया के आकर्षण में लिप्त - लोलुप हो जाता है। यह किसी एक भाव में स्थिर नहीं रहता और मक्खी के समान विषयों के कीचड़ में फंसा हुआ तड़पता है।[1] मन स्वयं सर्व माया की छिप से युक्त है और उसकी दुविधा वाली स्थिति ने अनेक वह भ्रष्ट किए हैं।[2] उसकी दुविधा ने मन को बावला बना दिया है। उसके छूने मात्र से ही हर प्राणी ने अपना जन्म भ्रष्ट कर लिया है। दुविधा प्राणी से अवश्य लिपट गई है, परन्तु उसको ऐसा करने से कोई रोक नहीं सकता। इस प्रकार की अवस्था में सद्गुरु ही नाम को दृढ़ करा कर साधक की रक्षा कर सकता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि जब तक मन नहीं भ्रमता तब तक माया नहीं भ्रमती।[3] किन्तु मन की स्थिति बड़ी विलक्षणता की है। वह माया मग्न है, उसको कुछ करना और सुनना व्यर्थ है। जो परमात्मा का एक - निष्ठ ध्यान करते हैं, वही उसको प्रत्यक्ष से पसन्द हैं और उन्हीं पर उस की कृपा होती है।[4]

इस प्रकार नानक वाणी में वर्णित माया का स्वरूप दो रूपों में वर्णित किया गया है। माया का एक रूप निषेधात्मक है जो जीव के आवागमन का कारण बनता है, जिसका पिछले पृष्ठों में बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। माया का दूसरा स्वरूप माया की उस शक्ति का द्योतक है जो सृष्टि रचना करती है। गुरु नानक ने माया की इस शक्ति को कुदरत कहा है। इसे माया का समष्टि रूप भी कहा जा सकता है। "कुदरत" शब्द अरबी भाषा का है, जिसका अर्थ है - शक्ति

1:- सारंग, अष्टपदी 2/1 पृ0 1188

2:- मारू, सोलहे 9/13 पृ0 1029

3:- मन मत भए न मावला भए ॥
परभाती, अष्टपदी 1/1- रहाउ पृ0 1342

4:- आखणु सुनणा पालण की बाणी सचु मनु रता मावला।
काम की सदरि चिलहि पवित्रे जिनी करि सचु पिछाणिआ।
सिरी, पदे 27/3 पृ0 24

अथवा ताकत्र/कुदरत के स्वामी को अरबी भाषा में "कादिर" कहा जाता है। "कादिर" शब्द गुरु नानक ने परमात्मा के लिए तथा "कुदरत" शब्द उसकी शक्ति माया के लिये प्रयुक्त किया है।[1]

"कुदरत" का स्वरूप स्पष्ट करते हुए गुरु नानक ने बताया है कि कुदरत की परिधि में "कादिर" को छोड़कर शेष सब कुछ समा जाता है। जो कुछ दिखाई पड़ता है, जो कुछ सुनाई पड़ता है, सब परमात्मा की कुदरत है। परमात्मा का भय, जो सुखों का सार है, वह भी कुदरत है। पाताल से लेकर आकाश तक सब कादिर की ही कुदरत है और सभी दृष्टिगोचर आकार कुदरत है। वेद, पुराण, सभी धर्म पुस्तकें और उनमें लिखे समस्त विचार कुदरत के ही स्वरूप हैं। खाने, पीने और पहनने के सभी साधन भी कुदरत का ही रूप हैं। जगत के सभी प्रेम भी कुदरत पर आधारित हैं। जातियाँ, वस्तुएँ, रंग, जंगम जीव सब परमात्मा की कुदरत ~~का ही रूप हैं। संसार की सभी बुराईयाँ - अच्छाईयाँ~~, मान-अपमान सबमें कुदरत दृष्टिगोचर हो रही है। पवन, पानी, अग्नि, धरती और मिट्टी सब परमात्मा की कुदरत के ही परिणाम हैं।[2] गुरु नानक देव का कथन है कि परमात्मा ने सर्व प्रथम अपने आपमें निर्गुण से सगुण अवस्था में प्रवृत्त किया और

1:- सभ तेरी कुदरति हूं का(दिर) करता पाकी नाई पाउ।
आसा की वार, श्लोक 6, पृ० 464

2:- कुदरति तिल्ले कुदरती कुरीऐ कुदरति मैंड सुख सार।
कुदरति पाताली आकाशी कुदरति सरब आकार।
कुदरति वेद पुराण कतेबा कुदरति सब वीचार।
कुदरति खाणा पीणा पैन्हणु कुदरति सब पिआर।
कुदरति जाती जिन्सी रंगी कुदरति जीअ जहान।
कुदरति भेखीआ कुदरति भखीआ कुदरति मानु अभिमानु।
कुदरति पवणु पाणी बैसंतरु कुदरति धरती खाकु।
सभ तेरी कुदरति हूं कादिरु करता पाकी नाई पाकु।
नानक हुकमे अंदरि वेखै वरते ताको ताकु॥
आसा की वार, श्लोक 6 पृ० 464

फिर कुदरत की रचना की है। उसमें अपना आसन लगाकर अर्थात् उसमें सर्वव्यापक होकर, स्वयं ही उसका तमाशा देख रहा है।[1] समस्त जड़ चेतन परमात्मा की कुल की कुदरत है। परमात्मा ही सब जीवों का दाता है और सारी सृष्टि भी परात्मा द्वारा निर्मित है।[2] परमात्मा के जानने का माध्यम भी कुदरत है क्योंकि[3] सब सत्यस्वरूप प्रभु शब्द के द्वारा घट - घट में बसा हुआ पहचाना जा सकता है।[4] गुरु नानक ने सत्यस्वरूप परमात्मा से सम्बन्धित इस "कुदरत" को सच्ची कहा है।

गुरु नानक देव ने अपनी वाणी में कुदरत की चर्चा करते हुए बताया है कि परमात्मा कुदरत की केवल रचना और स्थिति का ही कारण नहीं अपितु उसके विनाश का भी कारण है। साथ ही कुदरत की रचना तथा विनाश के लिए परमात्मा को किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कुदरत उसकी है, वह स्वयं ही उसको जानता है और स्वयं उसका कारण तथा कार्य है।[5]

1:- आपीन्हे आपु साजिओ आपीन्हे रचिओ नाउ।
दुयी कुदरति साजीऐ करिआ सभु तिलो वाउ। आसा की वार, पउड़ी 19 पृ0 463

2:- सभी तेरी कुदरति तू सिरि सिरि दाता सभु तेरो कारणु कीना है।
मारू, सोलहे 8/15 पृ0 1041

3:- क:- जिमि जपु सिरजि समाइआ सो साचिउ कुदरति जाणीऐ।
सबदु धुरि ही भालीऐ घटि घटि सबदु पछाणीऐ॥
सलोक, आसा की 4/1 पृ0 581

4 क:- कुदरति कवण कहा वीचारु। जपु पउड़ी 16 पृ0 3
ग:- कहणा है किछु कहणु न जाइ।
सचा कुदरति कीमति नही पाइ। पउड़ी पदे 3/ रहाउ पृ0 151
घ:- आपे कुदरति साजि के आपे करे वीचारु॥ माझ की वार, पउड़ी 12पृ0 143

4:- सभी तेरी कुदरति सचे पारसि सारु।
आसा की वार, सलोक 3 पृ0 463

5:- पुछि न साजे पुछि न दाढे पुछि न देवै नेहु।
आपणी कुदरति आपे जाणै आपे करणु करेहु॥
सिरी, अष्टपदी 1/4 पृ0 53

परमात्मा की यह कुदरत अभिवर्णनीय है। गुरु नानक का कथन है कि ऐसी अपार कुदरत के सम्बन्ध में जानने के लिए समर्थ है तो केवल परमात्मा स्वयं ही।[1] मनुष्य कुदरत के भेद को नहीं पा सकता, वह तो इसके समस्त प्रसार को देखकर आश्चर्य चकित हो जाता है।[2] इस प्रकार परमात्मा की यह कुदरत परमात्मा की सेवा साधना में लीन रहती है। विस्तृत नभ नीला आकाश प्रभु की आरती का बादु चन्दमा और सूर्य दीपक, तारागण मोती हैं। मलयाचल आरती की धूप के समान है और सारी पुष्प राशि आरती के लिए फूल हैं।[3] इस प्रकार अनेक दृष्टान्तों द्वारा गुरु नानक ने परमात्मा की इस अभिवर्णनीय शक्ति कुदरत का विस्तृत वर्णन किया है जो गुरु व कवि की अपनी मौलिक उद्भावना है। स्पष्टतया गुरु नानक की वाणी में वर्णित माया का स्वरूप अद्वैत - वेदान्ती भाषित होते हुए भी वास्तव में शांकराद्वैत से भिन्न है। गुरु नानक की समस्त उद्भावनाएँ मूलतः दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रतिपादित नहीं की गयी थी, जैसा पहले भी उल्लेख किया जा चुका है। ये लोक मंगल साधना के पुनीत कार्य के प्रति समर्पित थे। प्रकटतः माया के समस्त परम्परागत प्रयोगों को आत्मसात करते हुए उन्होंने अत्यन्त आत्मीय रूपों, वर्णन के इन जटिल शब्द कौं, सैद्धान्तिक प्रतिपादन किया है।

1:- सो मिल जाणै नानका सरां मेरा जोड़ु।
आसा की वार, श्लोक 31, पृ0 470
2:- आसा की वार, श्लोक 5 , पृ0 463
3:- आसादी, पदे 9/1, पृ0 663

गुरु नानक काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन

चतुर्थ अध्याय :-

गुरु नानक - काव्य : भाषा - शैली

चतुर्थ अध्याय :-

गुरुनानक - काव्य: भक्तिसाधना :-

भारतीय दर्शनों एवं धर्मों में परमार्थ - लाभ के तीन मार्ग बताये गये हैं - योग मार्ग, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग। योग, इनमें सबसे प्राचीन है। ईसवी सन् के आरम्भ के आस-पास, किसी समय, पंतजलि द्वारा व्यवस्थित दर्शन का रूप धरने से बहुत पहले, संभवत: ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व इस देश में योग प्रचलित था। ईसा की तेरहवीं - चौदहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में भक्ति के विकास और संतमत से योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिन दिनों उत्तर भारत में भक्ति का व्यापक प्रसार और संतमत का उद्भव हुआ उन दिनों हिन्दी - भाषा प्रदेश योग मार्गी साधना का अनुसरण करने वाले शैवादि सम्प्रदायों की क्रीड़ा भूमि था। सन्तों ने अपनी वाणियों में, इस योग मार्ग का उल्लेख बार-बार किया है। ज्ञान-मार्ग की परम्परा भी इस देश में कम-पुरानी नहीं है। निगम के समस्त उपनिषद - साहित्य तथा उन पर आधृत वेदान्त - दर्शनों में इस परम्परा का उज्ज्वलतम् रूप उपलब्ध होता है। योग की ही तरह ज्ञान एवं मार्गमें भी चिन्तन और आचार का प्रभाव भी कम व्यापक नहीं है। लेकिन संत ज्ञान को ही सब कुछ नहीं मानते। उनके मत से उनका राम ज्ञान से भी ऊपर है अत: ज्ञान अधूरा है। संतों के विचार से योग-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों अधूरे हैं। जिनमें कोई त्रुटियां अधूरापन

नहीं है वह अकेला भक्ति मार्ग ही है। प्रेमभक्ति के बिना जो योग और ज्ञान की साधना की जाती है वह योगी, अध्वर्यु और सिद्धान्त है।[1]

भक्ति शब्द "भज्" सेवायाम् धातु से "क्तिन्" प्रत्यय लगाकर बनाया गया है, जिसका अर्थ है - "सेवा करना"। सेवा का आलम्बन कोई भी हो सकता है किन्तु भक्ति का अपरिहार्य रूप "ईश्वरोन्मुखता" और "अनन्यता" में निहित है। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में बताया गया है कि ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है।[2] नारदभक्ति सूत्र में भक्ति की परिभाषा करते हुए इस बात का उल्लेख किया गया है कि जिस परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा भक्ति को पाकर मनुष्य तृप्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है और अमर हो जाता है, जिस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है और न किसी वस्तु में आसक्त होता है, विषय भोगों के प्रति उसका कोई उत्साह नहीं रहता और आत्मानन्द के साक्षात्कार से वह संसार के विषयों से निरपेक्ष होकर मस्त रहता है।[3] भागवतकार ने भी इसी प्रकार से ही भक्ति की परिभाषा प्रस्तुत की है। उनका कथन है कि मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिसके द्वारा भगवान् में भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द स्वरूप भगवान की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।[4]

1:- प्रेम बराबर जोग ना। प्रेम बराबर ज्ञान।
प्रेमभक्ति जिन जानिओ। सब ही खोजा ज्ञान॥
जगजीवन दास की बानी, बेलवेडियर प्रेस प्रयाग, पृ० 16:2

2:- सा परानुरक्तिरीश्वरे॥- शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, भक्ति चन्द्रिका-
स० गोपीनाथ कविराज, पृ० 9

3:- नारद भक्ति सूत्र 1,2,3,4,5,6.

4:- स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति॥
श्रीमद् भागवत, 1-2-6

वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन आदि विविध रूपों में धर्म ने भारतीय काव्यधारा को अनादिकाल से प्रभावित किया है। वैदिक ऋचाओं से लेकर मध्ययुग तक की काव्य-रचनाओं में भारतीय काव्य-परम्परा धर्म भावना द्वारा अनुप्राणित होती रही है। यह प्रभाव केवल भारत की आर्य भाषाओं - संस्कृत, हिन्दी, मराठी, बंगला, पंजाबी आदि के साहित्य पर ही नहीं, अपितु अनार्य भाषाओं- तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ के काव्यों में भी परिलक्षित होता है। इसका कारण यह है कि भारत एक अध्यात्म प्रधान देश है। यहाँ की पृथ्वी के कण कण में धर्म की भावना परिव्याप्त है। अतः लक्ष्यप्राप्ति के साधनों की भिन्नता होते हुए भी इस देश के प्रत्येक निवासी के जीवन का साध्य एक है, जिसे ब्रह्म - साक्षात्कार, ईश्वर प्राप्ति, विष्णु-सान्निध्य, परमकैवल्य, सिद्धि लोक आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। धर्म के क्षेत्र में भारतीय जन सदैव स्वतन्त्र रहे हैं। यही कारण है कि जितने दार्शनिकवाद और धार्मिक मत-मतान्तर इस देश में प्रचलित हुए उतने अन्य किसी देश में नहीं हुए। ईसा की ग्यारहवीं शती जो हिन्दी का रीतिकाल था, बौद्ध धर्म के निर्वाण के बाद शंकराचार्य के मायावाद, सन्यास, ज्ञान और योग मार्गों का देश के धार्मिक क्षेत्र में इतना प्रचार हुआ कि जनता लोक जीवन से उदास होने लगी। धर्म ने सामूहिक लोक धर्म का रूप छोड़ कर व्यक्तिगत साधना का रूप धारण कर लिया। संसार के व्यावहारिक पक्ष को छोड़कर लोग परलोक के चिन्तन की ओर अग्रसर होने लगे। अधिकारी साधकों की देखा देखी साधारण पुरुषार्थ और बुद्धि वाले लोग भी, जो बुद्धि के परिष्कार और ज्ञान योग के साधन के लिये बिल्कुल और में अयोग्य थे, अपने को ब्रह्म समझने लगे और परमतत्व को पहचानने का ढोंग करने लगे। इस प्रवृत्ति ने समाज में एक ओर तो दंभ को जन्म दिया और दूसरी ओर अकर्मण्यता फैली। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से देश पर विदेशी आक्रमण भी आरम्भ हो गये थे, जो आगे की कई शताब्दियों तक चलते रहे। उस समय देश छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, कोई संगठित शक्ति न रह गयी थी। शासन की ओर व्यक्तिगत मिथ्याभिमान में डूबे हुए भारतीयों को

मुट्ठीभर आदमी लोग रोकते रहे। ऐसे समय में बुद्धि की प्रखरता कुण्ठित हो गयी। धर्म के दार्शनिक तत्व को समझने की क्षमता भी कम हो गयी और चित्त के निरोध के लिये लोगों में मानसिक बल भी क्षीण हो गया। उस समय बुद्धि - प्रधान और शास्त्रीय तथा मानसिक पुरुषार्थ के कष्ट साध्य मार्गों का प्रचार अत्यधिक कम हो गया। यही कारण था कि उत्तर भारत में भक्ति की निरन्तर गतिमान धारा का पुनर्जीवन हुआ और नये उत्साह से लोग भक्ति साधना की ओर प्रेरित होने लगे।

मध्यकालीन भक्ति साधना की पृष्ठभूमि में शताब्दियों से निरन्तर प्रवहमान सगुण उपासना का स्वरूप रहा है। वैदिक ऋचाओं से लेकर मध्ययुगीन भक्ति ग्रन्थों तथा शास्त्री ग्रन्थों तक भक्ति के क्रमिक विकास का अनुशीलन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि कर्म, ज्ञान और उपासना नाम से जिन तीन मार्गों का निर्देश वैदिक साहित्य में हुआ है उनका पर्यवसान वैष्णव भक्ति मार्ग में हुआ। मानव जीवन के चरम लक्ष्य परम पुरुषार्थ सिद्धि के लिए उपर्युक्त तीनों मार्गों के समन्वय पर वैदिक साहित्य में पर्याप्त बल दिया गया है। यह समन्वय बुद्धि की बाद में भक्ति - पथ को प्रशस्त करने में सहायक हुई। पुराण तथा भक्ति ग्रन्थों के प्रारम्भिक काल में तो "परम - पुरुषार्थ- सिद्धि" का तात्पर्य "भक्त्युपासना-प्राप्ति" ही समझा जाने लगा और इसीलिए भक्तिभक्ति को पुरुषार्थ के भीतर परिगणित किया गया। ज्ञान, कर्म और उपासना मार्ग की दुरूह एवं दुःखसाध्य साधना को त्यागकर श्रवण, कीर्तन, दैन्य, आत्मनिवेदन आदि के सुगम माध्यम से वैष्णव भक्त ने भगवान् के समीप पहुँचने का पथ खोज निकाला, परिणाम स्वरूप भक्ति का सोपान मध्ययुग में अत्यधिक अधिक आदरणीय समझा जाने लगा। प्रेम लक्षणा भक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों में तो प्रेम को ही साध्य समझ लिया गया। भक्ति का यह चरम उत्कर्ष जिस क्रमिक विकास परम्परा में हुआ उसका अनुशीलन इस तथ्य का द्योतक है कि उपासना मार्ग ही परवर्ती युग में भक्ति - मार्ग बना।

भक्ति के उद्भव और विकास - क्रम के सम्बन्ध में पर्याप्त मत भेद होने पर भी यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि आस्तिक-भाव से ईश्वरोपासना करने वाले आर्यों में भक्ति के मूल बीज विद्यमान थे और आरम्भिक रूप से भक्ति के विविध रूपों का आभास उन्हें वैदिक काल में ही मिल गया था।[1] अनुराग मूलक भक्ति परक परवर्ती अभिव्यक्तियों से वैदिक ऋचाओं का सामंजस्य स्वीकार न करने वाले अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भक्ति को अभारतीय सिद्ध करने का प्रयास किया है। पाश्चात्य विद्वान् वेबर, कीथ और ग्रियर्सन ने इसे ईसाई धर्म की देन कहा है। ग्रियर्सन का मत है कि प्राचीन काल में ईसाईयों की बस्ती महास प्रान्त में बस गई थी, उन्हीं के प्रभाव से हिन्दुओं में भक्ति -मार्ग आया और बाद में दक्षिण भारत से समस्त भारतवर्ष में फैल गया।[2] इसी प्रकार प्रो० विलसन ने भक्ति को अर्वाचीन युग की उपज कहकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विभिन्न सम्प्रदायों के गुरुओं ने अपनी प्रतिष्ठा के लिये इसका प्रचार किया।[3] उक्त मान्यताओं के पीछे भारतीय भक्ति - परम्परा के क्रमिक विकास का अज्ञान तथा स्वधर्म का उत्कर्ष सिद्ध करने का आग्रहमात्र ही कहा जा सकता है। निस्सन्देह वैदिक काल में अनुरागपरक भक्ति का वह रूप प्रकारान्तर में नहीं आया था जो मध्ययुग में अथवा पौराणिक काल में स्वीकार किया गया, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उस युग में भक्ति की कल्पना तक नहीं की गयी थी। भले ही वेद-मन्त्रों में भक्ति - भावना के तत्व निहित हैं, किन्तु 'भक्ति' शब्द का उनमें कहीं भी व्यवहार नहीं हुआ। यास्कमुनि ने अपने निरुक्त में कुछ ऐसे प्रयोग दिए हैं, जिनसे आदर या प्रेम का भाव व्यक्त होता है, यथा -"अग्नि भक्तिमि" इन्द्र भक्तिति आदि।[4] उधर पाणिनी भक्ति[5] आदि सूत्रों में भक्ति का आभास

1:- डा० विजयेन्द्र स्नातक -"राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य", पृ०।
2:- जर्नल आफ द रोयल एशियाटिक सोसाईटी, 1907 पृ०311-56 इन्साईक्लोपिडिया आफ रिलिजन एन्ड एथिक्स, पार्ट II पृ० 539-56।
3:- प्रो० एच०एच० विलसन - हिन्दू रिलिजन, पृ० 232
4:- आर० जी० भण्डारकर : वैष्णिज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजन्स पृ० 60
5:- 4·3·95

मिलता है। "प्रेम गाथा"[1] में भक्तमाल अथवा पालि के भक्तिमा शब्द का प्रयोग उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त किसी - किसी जातक में भक्ति शब्द द्रष्टव्य है। इस प्रकार भले ही छानबीन करने पर, यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ शताब्दी ई० पू० से पहले "भक्ति" शब्द एक धार्मिक विशिष्ट शब्द के रूप में कहीं नहीं मिलता।[2] परन्तु भक्ति मार्ग का विशालाच्छाल वस्तुतः आरण्यकों और उपनिषदों के उपासना काण्ड में हुआ दीख पड़ता है, जो ज्ञान-काण्ड का ही एक अंग है। ज्ञानकाण्ड के दो मार्ग हैं - एक तो विशुद्ध ज्ञान को लेकर चलने वाला निवृत्ति परक ज्ञान मार्ग और दूसरा हृदय पक्ष समन्वित ज्ञान को लेकर चलने वाला कर्म परक ज्ञानमार्ग। कर्म परक ज्ञानमार्ग में कर्म के साथ बुद्धि और हृदय दोनों का योग आवश्यक ठहराया गया था। जहाँ से कर्म में हृदयतत्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई, वहीं से भक्ति मार्ग आरम्भ हो गया।[3]

भक्ति का तात्त्विक निरूपण सब से पहले भगवद्गीता में मिलता है। इसमें भक्ति के दो प्रधान रूप माने गये हैं :- 1:- साधन रूप - वैधी और रागानुगा 2:- साध्य रूप - प्रेमा या प्रेम लक्षणा भक्ति। मन की एकाग्रता से भगवान् का नित्य निरन्तर श्रवण, कीर्तन और आराधन भक्ति का साधन पक्ष है और भगवान् में परानुरक्ति उसका साध्य पक्ष है। साधना रूपा भक्ति को वैधी भक्ति, वैधी भक्ति अथवा मर्यादा भक्ति भी कहते हैं और साध्यरूपा भक्ति को प्रेमाभक्ति तथा रागानुगा अथवा रागात्मिका भक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। इन दोनों में प्रेमाभक्ति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

1:- श्लोक 370

2:- इनसाईक्लोपिडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, खण्ड II पृ० 539

3:- डा० सरनाम सिंह शर्मा, कबीर : एक विवेचन, पृ० 400

"नारद भक्ति सूत्र" में प्रेमा - भक्ति का विशद विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ के चौरासी सूत्रों में भक्ति लक्ष की व्याख्या, भक्ति के अन्तराय, भक्ति के साधन, भक्ति की महिमा और भक्तों के महत्व को भी भांति प्रकट किया गया है। इस भक्ति को प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है और भगवान कृष्ण के अतिरिक्त उसे किसी बात की चिन्ता नहीं रहती।[1] प्रेम स्वरूपा भक्ति में अनन्यता का भाव रहता है। यह भक्ति कर्म योग और ज्ञान योग, दोनों से श्रेष्ठ है। श्रीमद् भागवद् गीता के अनुसार भगवान् को अनन्य भाव से भजने वाला और दुराचारी मनुष्य भी साधु होता है।[2] श्रीकृष्ण ने यह भी कहा है कि भागवद्भक्त का कभी विनाश नहीं होता। विद्वानों ने शब्दों के आधार पर कहा है कि गीता में भक्ति पद्धति अथवा ऐकान्तिक धर्म की, जो नारद को नारायण से प्राप्त हुआ था, प्राचीनतम विवेचना मिलती है।[3]

पांचरात्र में उपलब्ध भक्ति की परिभाषा से प्रकट होता है कि परमात्मा के प्रति प्रेम स्थापित होना बड़ा आवश्यक है। परन्तु उसे[4] इसके साथ साथ उसमें ईश्वर - सान्निध्य को भक्ति का प्रमुख अंग नहीं माना है।

भक्ति का परम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए वैष्णव भक्तों ने भक्ति रस को ही सब से प्रधान माना है। वैष्णवों में और मुख्यतया गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णवों ने भक्ति को भाव - धारा से ऊपर उठाकर केवल रस-धारा तक ही नहीं माना है, प्रत्युत इन सब रसों से श्रेष्ठ, प्रधान अथवा प्रकृति रस माना है।[5] यह उल्लेखनीय है कि भक्ति का ही उत्कृष्टतम रूप मधुरभाव के नाम से भक्ति-जगत में विख्यात है। इसके विवेचन के लिये रूप गोस्वामी कृत "हरिभक्ति रसामृत सिन्धु" तथा "उज्ज्वल नील मणि" सर्वमान्य ग्रन्थ हैं।[6] इस प्रकार

1:- नारद भक्ति सूत्र 4

2:- "अवत्या अनन्यया ... प्रवेष्टु च परंतप" ।। 11/54

3:- आरडजी० भण्डारकर वही इन्ट्रोडेक्शन, 4

4:- एस०एन० दास गुप्ता: ए हिस्टरी आफ इण्डियन फिलोसफी वा० 4 पृ० 355

5:- कविन्द्र उपाध्याय: भागवत सम्प्रदाय, पृ० 18

6:- वही

पुष्टि भक्ति भावना का रहस्य भक्तराज के स्वरूप में अन्तर्निहित है। इस भक्तराज के दो रूप बताए गए हैं - ऐश्वर्य तथा माधुर्य।[1] "हरिभक्ति रसामृत सिंधु" में श्री रूप गोस्वामी ने आनुकूल्य के द्वारा कृष्णानुशीलन को उत्तम भक्ति माना है। इस उत्तम भक्ति की छः विशेषताएँ हैं, यथा - अनारब्ध तथा प्रारब्ध पापों का निवारण करने वाली, सदा सुख करने वाली, मोक्ष के आकर्षण से रहित, केवल ईश्वरानुग्रह से प्राप्य, ब्रह्म ज्ञान के द्वारा प्राप्त मोक्ष के आनन्द से कहीं अधिक आनन्ददायिनी तथा भक्तात्मा को पूर्णतः स्वयं में लेने वाली यह उत्तम भक्ति है। श्री रूप गोस्वामी ने उक्त ग्रन्थ में भक्ति के तीन प्रकार निर्धारित किए हैं। वे हैं:- साधन, भाव और प्रेमा।

विधि - विधान के अनुसार की जाने वाली भक्ति को वैधी भक्ति कहा जाता है। गौणी अथवा साधन भक्ति से इसका सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। यहाँ ग्रन्थ अभ्यास - त्रिपुण्ड्र, वैष्णव, तिलक, मुद्रादि धारण, वैधिक (नवधा) स्नान, यज्ञोपवीत धारण, गुरुपादाश्रय, जप, परिक्रमा, अर्चना, नति, संकीर्तन, एकादशी आदि व्रत और जन्माष्टमी आदि उत्सव तथा प्रवृत्तिधारण आदि (चौंसठ) अंग वैधी भक्ति के अंतर्गत आते हैं। इन अंगों का परिपालन अनिवार्य है। इनमें से कई अंग इतने कठिन हैं कि पूरी तत्परता के बावजूद भी साधक इनको सम्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। गुरु नानक वैधी भक्ति के विरोधी थे। उनके अनुसार तो सच्चे नाम के बिना तिलक, यज्ञोपवीत आदि सब व्यर्थ हैं।[3] ये सब कर्म काण्ड अहंकार के जनक हैं। वेदपाठी और कर्म काण्डी पंडित के सम्बन्ध में गुरु जी कहते हैं कि ये कर्म पुस्तकें पढ़ाते हैं, सन्ध्या और वाद-विवाद करते हैं, पत्थर पूजते हैं, लोगों के समान समाधि लगाते हैं, मुख से झूठ बोलते हैं, परन्तु मुक्ति देने वाले आदिपुरुष के सदृश उनको सच्चा बताते हैं, गायत्री का विकास विचार करते हैं, गले में माला

1:- सर्वेश उपाध्याय: भागवत सम्प्रदाय, पृ० 18

2:- सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमाप्तेति त्रिधोदिता। 1•2•1•

3:- नानक सचे नाम बिनु सिमा टिका सिमा तनु। आसा की वार, श्लोक 14

आदि ग्रन्थ, पृ० 468

पहनते हैं, मस्तक पर तिलक लगाते हैं, दो धोतियाँ रखते हैं और सिर पर भी कपड़ा धारण करते हैं, परन्तु यदि से ब्राह्मण के उचित कर्मों अर्थात् आत्मिक कर्मों को जानते होते, तो उक्त कर्म उनको व्यर्थ ही प्रतीत होते।[1] इसी प्रकार "आसा की वार" में यज्ञोपवीत धारण करने और कराने वाले ब्राह्मणों के स्वरूप और कृत्यों की आलोचना करते हुए गुरु जी ने यज्ञोपवीत की सुन्दरता और निरालापन का भी चित्रण किया है और उसके विपरीत उन्हें आध्यात्मिक यज्ञोपवीत धारण करने के लिए कहा है।[2] ~~व्यवस्था में~~ जनेऊ भी टूटता नहीं, दूसरे उसके धारण करने से परमात्मा की दरगाह में प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है।[3]

इष्ट देव के स्वरूप से भक्ति दो प्रकार की होती है - निर्गुण और सगुण। निर्गुण भक्ति का सम्बन्ध निराकार ब्रह्म से है और सगुण भक्ति साकार भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला आदि से सम्बन्धित है। भागवत पुराण के अनुसार मन की गति का अविच्छिन्न रूप से भगवान्

1:- पढ़ि पुस्तक संधिआ बादं। सिल पूजसि बगुल समाधं।
मुखि झूठ बिभूखन सारं। त्रैपाल तिसाल बिचारं।
गलि माला तिलक लिलाटं। दुइ धोती बसत्र कपाटं।
से जाणसि ब्रहमं करमं। सभि फोकट निसफा करमं।
आसा की वार श्लोक 28, आदि ग्रन्थ, पृ० 470

2:- दइआ कपाह संतोखु सूतु जतु गंढी सतु बटु।
एहु जनेऊ जीअ का हई त पाडे घतु।
न एहु तुटै न मलु लगै न एहु जलै न जाइ।
धंनु सु माणस नानका जो गलि चले पाइ।
आसा की वार, श्लोक 29 आदि ग्रन्थ, पृ० 471

3:- आसा की वार, श्लोक 31, पृ० 471

के प्रति अनुरक्त हो जाना तथा उसमें निष्काम और अनन्य प्रेम का होना निर्गुण भक्ति का लक्षण है।[1] तीनों गुणों को लांघ कर ही निर्गुण भक्ति सम्पन्न हो सकती है।[2] सगुण भक्ति के लक्षण वैधी अथवा गौणी भक्ति से मेल खाते हैं। नारद भक्ति सूत्र में परा और गौणी नामक दो भक्ति के प्रकार बताए गए हैं। तीन गुणों से परे, निष्काम और निरन्तर की जाने वाली भक्ति प्रेम - लक्षणा परा-भक्ति है।[3] गुणों[4] के आधार पर की जाने वाली भक्ति गौणी भक्ति है। उसके तीन भेद हैं। :- सात्विकी, राजसी और तामसी। भागवत पुराण में भी इन भेदों को गौणी भक्ति के अन्तर्गत रखा गया है।[5] महर्षि शाण्डिल्य ने भी अपनी श्रद्धा के अनुसार भक्ति के दो भेद किए हैं - परा और गौणी[6] शंकराचार्य ने "प्रबोध सुधाकर" में भक्ति के "रूक्षा" और "रूक्षा" नामक दो भेद किए हैं। उनके अनुसार रूक्षा भक्ति रूक्षा भक्ति के आगे की वस्तु है।[7] इसके अतिरिक्त, उपर्युक्त द्विविधा भक्ति को क्रमशः रागात्मिका और गौणी, मानसी और शारीरी, निष्काम और सकाम आदि अभिधान भी दिये जाते हैं। वैष्णव आचार्यों के ग्रन्थों में भक्ति के अनुकरणीय भेदों - प्रभेदों का विवरण उपलब्ध है, किन्तु उन सबका यहाँ उल्लेख करना अनावश्यक प्रतीत नहीं होता है। गुरु नानक की भक्ति उक्त द्विधा भक्ति में से केवल प्रथम कोटि से सामीप्य रखती है, परन्तु उन्होंने अपनी भक्ति के लिये कहीं भी उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग नहीं किया, अपितु इसे "भाउ-भगति [भाव-भक्ति]" का

1:- महत्यां कृति मात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।
लक्षणा भक्ति योगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्। अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।12। [3/29]

2:- भागवत पुराण 3/29/14

3:- गुणरहितं कामना रहितं प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ।54।

4:- गौणी त्रिधा गुणभेदार्तादिभेदाद्वा ।56।

5:- स्कन्ध 3, अध्याय 29, श्लोक 8-10

6:- भक्त्या भजनो परोहाराद्गौण्या परायै तदेतुत्वात्... [शाण्डिल्य भक्तिसूत्र 2/2/1]

7:- रूक्षा रूक्षा चेति द्विधा हरिभक्ति रुच्यते।
प्रारम्भे रूक्षा स्यात् सूक्ष्मातस्याः सकाशात्तु ।। 17। श्री शंकराचार्य विविध-प्रकरण ग्रन्थ, पृ० 80

पारिभाषिक नाम दिया है। उसमें प्रेम की प्रधानता होने के कारण उसे प्रेमा - भक्ति भी कहा जा सकता है।

निर्गुण मार्गी सन्त एवं सिख गुरुओं ने "प्रेमाभक्ति" को ही अपनी भक्ति की साधना में स्थान दिया है। वैधी भक्ति को वे नहीं मानते। यही कारण है कि निर्गुण सन्तों की भक्ति को "भाव-भक्ति" का अभिधान देना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है। सन्तों की भक्ति को नारद भक्ति सूत्र तथा प्रतिपादित रागात्मिका भक्ति का सहजीकृत रूप कह सकते हैं। धरनीदास ने भावभक्ति को पराभक्ति [1] का तथा सुन्दरदास [2] ने प्रेमलक्षणा भक्ति का नाम दिया है। निर्गुणियों की भक्ति को नारद भक्ति सूत्र में "परा", भागवत में "निर्गुण", शांडिल्य में "रागात्मिका" और रागात्मिका सूत्र में "मुख्या" कहा गया है। सन्तों की साधना बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी है। उनके विचारानुसार निर्गुण - प्रभु की भक्ति के उपकरण भी स्थूल कदापि नहीं हो सकते। इसीलिए उन्होंने वैधीभक्ति में स्वीकृत सम्पूर्ण बाह्यपूजा एवं विधि - विधानों तथा उपकरणों की सार - सार भावात्मक व्याख्या प्रस्तुत करने के प्रयत्न किये हैं। सन्तों द्वारा प्रयुक्त "भाव" शब्द के अर्थ का क्षेत्र भी सीमित नहीं है। वैधी भक्ति के स्थूल उपकरणों को त्याग देने बाद भक्ति की साधना के सम्पूर्ण उपायों का समावेश सन्तों के "भाव" शब्द के अर्थ में, ग्रहण किया जाना चाहिए।

कबीर, भावग्रहण भक्ति को अत्यन्त विचारिणी संजीवनी समझते थे। उन्होंने भावभक्ति में पाप, ताप, संताप, स्नान तथा दानादि सभी साधनों को व्यर्थ का परिश्रम बताया है। [3] दादू ने भक्तिहीन जीवन को जीवन ही नहीं माना। [4]

1:- धरनीदास बानी, भाग 1, पृ0 33

2:- संत सुधासार, सुन्दर दास, पृ0 577

3:- कबीर ग्रन्थावली (श्याम सुन्दरदास) पृ0 174

4:- दादूबानी, भाग 10, पृ0 105

सन्त साधकों ने ज्ञान का खण्डन तो नहीं किया, परन्तु जहाँ भी ज्ञान और भक्ति की चर्चा का अवसर मिला, वहीं पर भक्ति को अग्र प्रथम स्थान दिया है।[1] कबीर, मल, दादू और वर्म तीनों साधकों ने हरि प्रभु के गुणों के कीर्तन और राम - नाम के स्मरण को ही जीवन का परिम लक्ष्य माना है।[2] गुरु नानक गुरु के चरणों में प्रभु की भक्ति की प्राप्ति के लिये नखशिख तक हरिजन के चरणों का दास बनाने में गौरव का अनुभव प्राप्त करते हैं।[3] उन्हें "मुक्ति" के अतिरिक्त किसी प्रकार के भी अन्य सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं है। उनकी एक मात्र एकान्त गुरु - शब्द द्वारा भक्ति - भावना की प्राप्ति है। जीवन में उनकी एक ही उत्कट अभिलाषा है : हरि के गुणों को कीर्तन तथा उसके नाम का स्मरण।[4] गुरु नानक अनन्य भक्ति के एक उपासक हैं। भक्ति के फल को पाने के लिए समय की प्रतीक्षा करना उन्हें पसंद नहीं है। उनका कथन है कि जीव की शोभा इसी में है कि वह प्रति - क्षण और प्रति श्वास, प्रभु के नाम स्मरण में लीन रहे। प्रिय की स्मृति यदि पल भर के लिए भी विस्मृत हो जाए तो उनके विचार में वह भक्ति कहलाने नहीं कहला सकती।[5] सन्तों ने अपने प्रभु का स्वरूप निर्गुण ही माना परन्तु उपासना के क्षेत्र में उसे अलौकिक गुणों का भंडार स्वीकार कर लिया। "अध्यात्म" तथा "अदि ब्रह्मन्य" संहिताओं में भी वासुदेव को अपने रूढ़ रूप में निर्गुण ही माना गया है। पांच रात्र संहितायें वासुदेव को अपने रूढ़ स्वरूप में निर्गुण मानती हैं। वासुदेव का निर्गुण- सगुण रूप धारण करने का सिद्धान्त ही विशिष्ट अद्वैतवाद की विचार धारा का आधार बना। "संहिताएं" अद्वैतवाद को मानती हैं।

1:- कबीर ग्रन्थावली (श्याम सुन्दर दास) पृ० 5 दोहा 4
2:- भक्ति हेतु . . . आदि ग्रन्थ पृ०-814 413
3:- भक्ति हेति गुरु सबदि तरीजा . . . वही, पृ० 1042
4:- वही
5:-

सगुण ब्रह्म का सगुण रूप धारण करने का सिद्धान्त अवतारवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। यही सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद की विचारधारा का आधार है। परन्तु प्रस्तुत सिद्धान्त में सन्तों की कदापि आस्था नहीं है। किसी भी प्रतिमा के रूप में भगवान की पूजा के सिद्धान्त के ये सदैव विरोधी रहे हैं। "नारद पांचरात्र" आदि परवर्ती संहिताओं में ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति मन्दिर - निर्माण, प्रतिमा की स्थापना, मूर्ति की प्राण - प्रतिष्ठा, देवि पूजा आदि के रूप में देवी भक्ति का प्रचार ही प्रधान हो गया था। मन्दिरों में स्थापित देवताओं की पूजा के बहाने पुजारी अपने पेट की पूजा के लिए ही अधिक प्रयत्नशील रहते थे। भक्त समाज अन्ध विश्वास के कारण आरती पाठ और नैवेद्य आदि बाहरी उपकरणों के अनुष्ठानों में ही आत्मसन्तोष के प्रति दृढ़ विश्वासी बने हो पूजा था। इस प्रकार भक्ति द्वारा भक्त के अन्तः करण की शुद्धि का महत्व गौण बनकर रह गया था। अतः प्रभु की कृपा से सम्बन्धित इन्हीं अन्धविश्वासों को दूर करने के लिये ही गुरु नानक ने देवीभक्ति के स्थान पर "भावभक्ति" का प्रचार किया।

भले ही गुरु नानक ने संहिताओं द्वारा वर्णित भक्ति के बाह्याडम्बरों को स्पष्ट रूप से खण्डन करते हुए भगवान के निर्गुण रूप के आधार पर भक्ति का भाव प्रधान रूप से स्वीकार किया था। लेकिन उनकी यह भाव भक्ति का आधार भक्ति सूत्रों में प्रतिपादित प्रेमाभक्ति का स्वरूप था। गुरु नानक द्वारा द्वैतभाव का निराकरण कर अद्वैत की प्रतिष्ठा करते समय "सुहागन" तथा "दुहागन" के रूपकों द्वारा प्रेम की पीर का वर्णन हुआ है। परन्तु उनके जीव = सम्बन्धी वर्णन भारतीय नारी के प्रतीक हैं, न कि सूफियों का अनुकरण। वियोगावस्था में भक्त की आत्मा प्रेम की जिस पीड़ा का अनुभव करती है, उसकी अभिव्यक्ति सूफियों के प्रेम वर्णनों की अपेक्षा आलवारों तथा महाराष्ट्र के सन्तों के प्रेम वर्णनों में अधिक अनुकूल प्रतीत होती है। "सूफी - प्रेम" की वर्णन शैली का प्रभाव सन्तों के प्रेम वर्णनों में कहीं कहीं दिखाई देता है। क्योंकि सूफी सन्तों के प्रेम के विरह - पक्ष के माध्यम से उन्होंने अपने प्रेम के वियोग वर्णनों को रंजित किया है। केवल इतनी सी मात्रा तक ही संतों की प्रेम भक्ति सूफियों की

"प्रेम की पीर" से प्रभावित मानी जा सकती है। गुरु नानक किसी भी रूप पर प्रेम भक्ति के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का वर्णन करते समय संयम भाव का त्याग नहीं करते। सन्तों की भक्ति ज्ञान प्रधान है और उसमें मर्यादा का भाव बना हुआ है। उनका प्रेम अव्यक्तेम जैसा है एवं उनके प्रेम के वर्णनों में ज्ञानाग्नि की भट्टी की लपटों से तैयार किया हुआ प्रेम का रस है। वह भावात्मक मदिरा है और उस मदिरा का पान कर भक्त का हृदय अपने आपको उसके मादक माधुर्य में डूबा हुआ पाता है, उसे पीकर वह मतवाला हो जाता है। सन्तों का प्रेम अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ है। उनके प्रेम में आत्मा को निर्मल बनाकर उसे ईश्वरोन्मुख बनाने की शक्ति है। उनके विचार के अनुसार प्रेम में वह बल है, जिसके सहारे जीव रूपी नारी प्रभु रूपी प्रेमी को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है। नानक का प्रेम एकनिष्ठ भावप्रेम है। उनके प्रेम - भावों में काम की आसक्ति की अपेक्षा सेवा की भावना का प्राधुर्य है। नानक द्वारा वर्णित "बारह माहा" में प्रेम के विरहपक्ष की उत्तम साहित्यिक अभिव्यक्ति मानी जाती है। उनके पूर्ववर्ती संतों तथा परवर्ती सिख गुरुओं और सन्तों ने भी उसी तरह से "बारह माहा" की शिक्षा को अपनाया है। "बारह माहा" के वर्णनों में जीवरूपी स्त्री अपने प्रेमी प्रभु के वियोग में अपनी मानसिक अवस्था का अनेक रीतियों से उद्घाटन करती है। गुरु अर्जुन देव ने "बारहमाहा" के वर्णन में कहा है, "जिन्होंने प्रेम और भक्ति को स्वीकार कर लिया है उनके लिये सांसारिक ताप कहीं भी है।" नानक ने प्रभु भक्ति को जीव की रक्षा का सर्वोत्तम उपाय बतलाया है। उनके विचार में भक्त की आत्मा रूपी स्त्री का सही कार्य करना चाहिए जो उसके प्रियतम को अच्छा लगे क्योंकि अपने प्रियतम का गुणगान करने वाली जीव रूपी स्त्री पर ही प्रभु प्रसन्न होते हैं। उसके पांव से सिर तक अपने आपको प्रेम की भेंट करने पर सांसारिक विषयों की आसक्तियों से मुक्ति मिल सकती है। ऐसे भक्त को ही प्रभु के दरबार में आदर की प्राप्ति होती है। वे उसी भक्त को अपनाते हैं जो उनका अनन्य प्रेमी है। रोना भी उसी का सफल है जो प्रभु को प्राप्त करने के लिये रोता है।

अथवा सर्वस्व अर्पण करने पर ही प्रियतम - प्रभु मिलते हैं। प्रभु की अनन्य भक्ति के अभाव में आनन्द की प्राप्ति असंभव है। रात भी उन्हीं की सफल है, जिनके हृदय में प्रभु-मिलन की अतीव उत्कंठा है। प्रभु - प्रेम से परिपूर्ण हृदय ही आनन्द से परिपूर्ण बन सकता है। प्रियतम - प्रभु उसी के हृदय में प्रेम का भाव उत्पन्न करते हैं, जो प्रेम सहित उनके गुणों का गान करता है। गुरु नानक ने प्रेमा भक्ति के बिना कर्म को कोरा पाखण्ड कहा है। वे भक्ति से शून्य ज्ञान को कोरा गर्व तथा विडम्बनावाद बताते हैं, और योग साधना के भक्ति के बिना शारीरिक व्यायाम घोषित करते हैं। उन्होंने दृढ़ विश्वास के साथ यह कहा है कि यदि हृदय में प्रेम का रस नहीं तो जीव के कर्म सदा सकाम रहेंगे। ऐसे व्यक्ति के कर्मों का निष्काम रूप धारण करना संभव ही नहीं है। भक्तिमार्ग के प्राणवान होने पर ही ज्ञान ब्रह्मज्ञान कहलाता है और योग, सहजयोग का रूप धारण कर लेता है। सन्त भक्ति के सच्चे तथा अनन्य साधक हैं। प्रेमाभक्ति की अवस्था के हृदयोद्गारों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए ये कहते हैं कि हे रात्रि, तू कुछ भी रात बनकर और अधिक लम्बी बन जा ताकि मैं प्रिय से प्यार कर सकूं। प्रिय ने मुझे आलिंगन - पाश में बांध लिया है और मैं उनके प्यार में डूब चुकी हूं। नानक प्रिय के मतवाले भक्त हैं।[1] उन्हें तो केवल प्रिय की खुशी चाहिए। संसार की उन्हें तनिक भी परवाह नहीं।[2] मीरा की भांति वह किसी भी भांति अपने प्रिय का त्याग करने को तैयार नहीं चाहे सारी सृष्टि उनके विरुद्ध हो जाये।[3] उनका कहना है कि प्रिय के बिना हृदय को चैन ही नहीं, तब दूसरा उपाय ही क्या है।[4] रातें प्रिय - वियोग में भारी - प्रतीत हो रही हैं। आंखों में नींद का नाम तक नहीं है। कामनों की उत्कंठा लाभ के लिये

1:- माझ राग 1/1-4 आदि ग्रन्थ, पृ० 878
2:- बासत अष्टपदी 21-1 पृ० 908
3:- सूही, अष्टपदी, पृ० 790
4:- बारहमाह 9-10 पृ० 1109

भी चैन नहीं लेने देती ।[1] वह - वह में सहेलियाँ प्रिय के समागम का उत्सव मना रही हैं, परन्तु प्रिय ने उसे क्यों विस्मृत कर दिया है । यही पीड़ा उन्हें भी चैन नहीं लेने देती है ।

इस प्रकार स्पष्टतया गुरु नानक की आराधा प्रेमाभक्ति में थी । उन्होंने अहंकार "हउमे" को प्रभु की भक्ति में बहुत बड़ी बाधा माना है । उसे भी इसी मत की पुष्टता होती है कि वे दैवी भक्ति के पक्ष में नहीं थे । उनके विचारानुसार जैसा जीव यह मानने लगता है, कि मैं सभी कुछ कर रहा हूँ ।" अहंभाव से यदि वह ग्रस्त नहीं, तो उस द्वारा इस भाव में लिप्त हो जाने की आशंका अक्षय बनी रहती है । निर्गुण सन्तों द्वारा दैवी भक्ति का खण्डन करने का केवल यही कारण था । गुरु नानक तिलक, पुष्प, चन्दन लेप, माला तथा वस्त्र आदि धारण करने की उपासना विधि से सम्बन्धित दैवी भक्ति में प्रतिपादित साधनों को बाह्याडम्बर की संज्ञा देकर स्थान - स्थान पर उनका खण्डन करते हैं ।[2] उन्होंने प्रेमाभक्ति में एकनिष्ठता के भाव की बार - बार सराहना की है । एकनिष्ठ भक्त ही उनकी दृष्टि में प्रेमाभक्ति का उचित पात्र योग्य अधिकारी बन सकता है । जीव रूपी स्त्री को नानक ने स्थान - स्थान पर चन्द्र - चकोर, दीपक - पतंग, स्वाति - चातक आदि प्रतीकों द्वारा एकनिष्ठ बने रहने का संकेत दिया है ।

कबीर प्रियतम के मिलन में ही प्रेम की आराधना की सार्थकता मानते हैं । उनका यह विश्वास है कि हृदय रूपी मन्दिर में प्रेम का प्रकाश होते ही संशय के अन्धकार का नाश होने लगता है, और प्यारा, सहजता मिल जाता है । उनका कहना है कि प्रेम भाव के सूर्य के उदय होते ही भक्त का सम्पूर्ण शरीर ज्योतित हो उठता है । मुख में कस्तूरी की वास और वाणी में सुगन्ध चारों ओर अपनी सुगन्धि का प्रसार करने लगती है ।[3] इसी प्रकार दादू ने भी

1:- बारहमाह [9-10] पृ० 1109

2:- आ० ग्रं० सही पृ० 470

3:- कबीर ग्रन्थावली [श्याम सुन्दरदास] पृ० 13

प्रेमाभक्ति के अभाव में जीवन धारण करना व्यर्थ का परिश्रम माना है।[1] सुन्दर-दास का विचार है कि चित्त को अनन्यभाव से प्रभु की ओर लगाए रखना ही भक्ति है। सच्चे भक्त का यही लक्षण मानते हैं। उन्होंने अनन्यभाव को ही प्रेम का मार्ग तथा भक्ति का पथ व लक्षण है।[2] कबीर अनन्य - प्रेम के भाव की दीवार पर खड़े होकर पुकार - पुकार कर कहते हैं कि जीव रूपी स्त्री अनेक देवता - ओं से प्रेम करती है, वह सभी को शरीर जैसी दासी सेवया के समान है।[3] संतों की प्रेमाभक्ति में सुनने में जितनी मधुर, सरल और सुन्दर प्रतीत होती है, उस मार्ग पर चलते समय वह उतनी ही खाड़े की धार जैसी तेज है और अग्नि की ज्वाला से भी अधिक दाहक है। उसे सहना का वह भी नहीं वह सकते, क्योंकि प्रेम - पथ फूलों की शैय्या नहीं। इसलिए ही कारण मीरा ने पुकार - पुकार कर कहा था कि "प्रेम न कीजो कोय"। साधक ने प्रेम की वेदना में स्वयं जल कर देखा है। साधक ने सन्धि भी देख की है तो वह रो उठे हैं।[4] उनके लिये प्रेमी के दर्शनों के लिए पलभर के लिए भी जीना असंभव है। उनकी प्रिय-दर्शन की प्यास कभी समाप्त होती ही नहीं। प्रेम का प्याला भर भर पी लेने पर भी उन्हें तृप्ति नहीं मिलती। उनकी प्रिय मिलन की प्यास बुझ ही नहीं पाती। योवन की घड़ियाँ व्यर्थ में व्यतीत होती देखकर उनकी अकुलाहट सदैव छटपटाती रहती है। वह विरह में जल के अभाव में मछली की तरह तड़पती है।[5] वे उन्हें यदि एक बार भी प्रिय के दर्शन हो जायें, वह अपना सिर काटकर उसे भेंट चढ़ाने के लिए प्रस्तुत हैं। उनकी आँखों में "जागुर" के प्रेम की मदिरा भरी है।

1:- दादूवाणी भाग 2 पृ० 46
2:- सुन्दर विलास, पृ० 104
3:- कबीर ग्रन्थावली:श्यामसुन्दर दास, पृ० 6
4:- बारहमास [1:14] पृ० 1107
5:- रास बेलि [26:3-4] पृ० 348

एक क्षण के लिये भूलना या भुलना उन्हें सह्य नहीं।[1] रूपी का दुःख जब तक उस के घर न आए, सखी आनन्द कैसे मना सकती है। उसका यौवन तो प्रिय के वियोग में व्यर्थ ही ढलता जा रहा है।[2]

नारद भक्ति सूत्र में विरह को भक्ति का आवश्यक तथा प्रधान अंग माना गया है।[3] सूफी साधकों की प्रेम - भावना में विरह की पीड़ा को सर्वोपरि स्थान है।[4] निर्गुण - मार्गी सन्तों की प्रेमाभक्ति का विरह पक्ष भारतीय भक्ति-भावना के विरह के सिद्धान्त पर आधारित है। जिसे सूफियों के प्रेम गीतों ने भी प्रभावित किया है। वैष्णव भक्ति के शास्त्रीय - ग्रन्थों में ग्यारह अवस्थाएँ मानी गयी हैं।[5] गणना के क्रम में विरहावस्था की संख्या दसवीं है परन्तु सन्तों के काव्य में विरहावस्था की प्रधानता है। गुरु नानक ने अनेक स्थलों पर विरहिणी का बड़ा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। प्रियतमा अन्धेरी रात्रि में अकेली सोई हुई है। प्रिय के आलिंगन के बिना रात काटना उसके लिये कठिन हो रहा है। उसका मुख विरह की वेदना में जल रहा है। वह पीड़ित है। पिय और रात, कि भी समय भी उसे चैन नहीं है। उसके लिये दिन भी अग्नि में होम की सामग्री की भाँति जल रहा है।[6] प्रिय के संयोग के अभाव में उसका सम्पूर्ण आनन्द ही मानो छीन लिया है। उसके अधिक वेदना का कारण तो यह है कि प्रिय पड़ोस पर पास ही है। परन्तु फिर भी उसे समागम नहीं हो रहा है।[7] उसमें दोष प्रिय का नहीं, अपितु स्वयं स्त्री में ही है। वे बार-बार कहते हैं कि गुणहीन स्त्री, ही अपने गुणों

1:- जैतसरी महला 9 (1:1) पृ० 701
2:- बारहमाह, 5, आदि ग्रन्थ, पृ० 1108
3:- नारद भक्ति सूत्र (190)
4:- तसव्वुफ और सूफीमत चन्द्रकली पाण्डेय, पृ० 111-125
5:- नारद भक्ति सूत्र (82)
6:- सिरीराग, अष्टपदी (2:7-8) आदि ग्रन्थ, पृ० 72
7:- बारहमाह 13, आदि ग्रन्थ, पृ० 1109

के कारण प्रिय के समागम के आनन्द को भोग सकती है, परन्तु उसमें प्रियतम को रिझाने की शक्ति होनी चाहिए पति जैसी ही स्त्री के साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।[1]

गुरु नानक देव जी के अनुसार भाव भरा शुद्ध निस्वार्थ प्रेम ही भक्ति है जिससे साधक को परमानन्द प्राप्त होता है।[2] यह सच्चा प्रेम ही अटूट भक्ति का आधार है[3] जिस के बिना भक्ति नहीं की जा सकती।[4] गुरु - कवि ने भक्ति मूलक इस प्रेम का विश्लेषण जल तथा कमल, मछली और पानी, चातक तथा वर्षा, दूध और पानी, चकवी तथा सूर्य आदि सम्बन्धों द्वारा प्रतिपादित किया है।[5] उस मिलने भावना ही भक्ति तथा उसके एक मात्र आधार, प्रेम की प्रमुख विशेषता है।[6] उसकी उपलब्धि गुरु द्वारा ही संभव है।[7] यह

1:- राग सिरी [3:4] आदि ग्रन्थ, पृ० 722

2:- साजा मति पवावणु भाउ। होव अनंदु सदा मनि चाउ॥
ऐसा भाति ऐसो सबलाउ॥ आसा महला १ पृ० 348

3:- [क] सचो प्रीति न तुटई साचे सेंदि सिधाउ॥ शीरामा पृ० 20
[ख] सचा नेहु न तुटई जे सतिगुर भेटे सोइ॥ शीरामा 20

4:- बिनु प्रीती भगति न होइ ... मलार पृ० 1256

5:- रे मन जैसी हरि सिउ प्रीति करि जैसी जल कमोदि। .....
रे मन जैसी हरि सिउ प्रीति करि जैसी मछुलीनीर। .....
रे मन जैसी हरि सिउ प्रीति करि जैसी चात्रिक मेह। .....
रे मन जैसी हरि सिउ प्रीति करि जैसी जल दुध होइ। ....
रे मन जैसी हरि सिउ प्रीति करि जैसी जल दुध होइ। ....
रे मन जैसी हरि सिउ प्रीति करि जैसी चकवी सूर। शीरामा पृ० 72

6:- ऐसा भाति ऐसो है भाउ॥ राग आसा॥90

7:- बिनु सतिगुर न लभै पिआरु। मलार 1290

अमूल्य पदार्थ है जिसका मोल कभी नहीं होता, जो आंका जाता
व्यवहार में कभी भी हानि का अंदेशा नहीं रहता।[1] इस पर आधारित भक्ति सदैव सुखदायक होती है जो पुनों - पुनान्तरों तक भक्तों को सुशोभित करती है।[2]

भक्ति का प्रेम मार्ग बहुत कठिन है, उस पर चलते हुए भक्त को प्राणों की बाज़ी लगा देनी होती है।[3] यह प्रीति - रीति भक्त का अपने भगवान के सम्मुख सम्मान बनाये रखती है।[4]

भक्ति - प्रेम सहज - प्रेम है जो प्रभु - प्राप्ति तथा सुख - प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है।[5] यह महारस है जिसकी उपलब्धि द्वारा समस्त विषय - वासनाओं का विनाश हो जाता है।[6] यह रसों का समुच्चय है, विश्व के समस्त रस उसके अन्तर्गत हैं। छत्तीस प्रकार के भोजनों का रस चखने से प्राप्त होता है। वैसा प्रेम प्रभु कृपा से ही प्राप्त होता है।[7]

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1:- प्रेम पदारथु रत्न महे अमोलो। कबही न घाटसि पूरा तोलो।। मारू पृ० 993

2:- म उतल प्रीति सदा ठाकुर सिउ अनदिनु भगत सुहावी।
मुकति भये गुरि दरसु दिखाइआ जुगि जुगि भगति सुभावी। मलार, पृ० 1254

3:- जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ। सिरु धरि तली गली मेरी आउ।
इतु मारगि पैरु धरीजै। सिरु दीजै काणि न कीजै।।
रागोक वारां ते वधीक पृ० 141।

4:- नानक सोई भली प्रीति जितु साहिब सेती पति रहै। रामकली, पृ

5:- सहज भाइ मिलीऐ सुख होवै। रामकली, पृ० 878

6:- नानक प्रेम महा रसी सभि बुरिआइआ जाइ।। सूही, पृ० 765

7:- सभि रस मिठे मंझि सुनिये सालोणे।
सट तुरसी मुखि बोलणा मारण नाद कीए।
छतीह अंम्रित भाउ पवु जा कउ नदरि करे। सिरी रिराग, पृ० 75

गुरु नानक देव के अनुसार प्रेम विहीन तन अन्त में जल कर नष्ट हो जाता है।[1] इसलिये जीवन में शारीरिक साधना की भट्टी बनाकर, प्रेम प्रेम द्वारा उसे स्वच्छ करते हुए अमृतरस रूपी भक्ति को प्राप्त कर लेना चाहिये।[2]

भक्ति गुरु नानक देव जी के अनुसार प्रभु के प्रति प्रेम आसक्त होना है। ज्योतिष, लग्न, जन्म कुंडलियां, तीर्थ - स्नान आदि कर्मकांड भक्ति नहीं हैं।[3] ना ही भक्ति रास लीलाओं में, नाचने गाने, सिर हिला हिला कर झूमने में है। गोपी तथा कृष्ण, सीता और राम का रूप धारण करते हुए गाते फिरना भी भक्ति नहीं है। भक्ति तो प्रभु के भय से उत्पन्न प्रेमभाव से प्रभु की शुभकर्मों द्वारा सेवा करना है। गुरु नानक देव बाह्य कर्म काण्डों का स्पष्ट रूप से खण्डन करते हुए बता रहे हैं कि नाचने - गाने को भक्ति नहीं कहा जा सकता, चर्खा, चक्की तथा चक्र, सब स्थानों के अनन्त गुब्बार आदि अनन्त चक्कर लगा रहे हैं,[4] लेकिन उन्हें भगवान की भक्ति प्राप्त नहीं होती। वस्तुतः इन सभी रूपकों के माध्यमों से गुरु साहिब यही स्पष्ट करना चाहते थे कि सामान्य जन जिन भ्रमों में भटकता हुआ अज्ञान के मार्ग में जा रहा है, उसे छोड़कर उन्हें केवल भावना मूलक प्रेम भाव से भक्ति के प्रति अनुरक्त होना चाहिए।[5]

1:- भंदक खाजी प्रेम बिनु हुटि देही तनु छारु। श्री राग पृ0 62

2:- भाठी भवनु प्रेम का पोचा सतु रसि अम्रितु पुवाईऐ ।। आसा, पृ0 438

3:- गणित गणि, जो तसु काढी की नी ।
पढ़े सुणावे तसु न घी नी ।
सभ मे ऊपरि गुर सबदु वीचारु
होर कथनी बदउ न सगली छारु । रामकली, पृ0 940

4:- नाचणि चेले नचनि गुरा पैर सलाहन पैरनि सिर । . . . . . .
सेवक सेवहि करनि खड़ाउ भिनी देणि जिना मनि चाउ । . . . . .
नचणा, कुदणा मनका चाउ । नानक जिन मनि भानु जिना मनि भाउ
आसा, पृ0 436

5:- हरि मनि वसि पूरहि ताल भाति न की जई । मलार, पृ0 1254

नानक वाणी में बताया गया है कि भक्ति प्रभु प्राप्ति का सरल, सहज तथा सर्वश्रेष्ठ साधन है। उसके मुकाबले में सिद्धों की ऋद्धियां - सिद्धियां, योगी, भोगी तथा कनफटे योगी, जो देश - देशान्तरों में भटकते रहते हैं, महान पण्डित, ज्योतिष के महान विद्वान, तीर्थ स्नान, यतियों की हिन्दु साधना सभी प्रकार के कर्म निम्न कोटि के हैं।[1] उसके लिये विकृतात्मक स्थिति से ऊपर उठकर, सहजावस्था में प्रवेश करना तथा सत्यस्वरूप प्रभु का गुण गायन ही भक्ति है। उसे परमात्मा प्रसन्न होते हैं तथा भक्त को उनके दर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है।[2] इस प्रकार की भक्ति जब जीवनाधार बन जाती है या साधक के लिये अन्न भक्तिप्रेम ही जब शिक्षादीक्षा तथा भोजन बन जाता है, तब सच्चा सहज प्रेमा भक्ति रूपी सत्य-गुड़ का भोजन करता है, उसका अहंकार नष्ट हो जाता है, आत्मिक आनन्द में उसकी सुरति एकाग्र हो जाती है, अन्तरात्मा प्रकाशित हो उठता है तथा साधक प्रभु मिलन की सहजावस्था - अद्वैतको पा लेता है।[3] इस प्रकार भक्ति और नाम का ऐसा व्यापार है जिसमें

1:- सिखा सेविन सिख पीर मागनि भिख सिख ।2।
मे खुद न दीसहे साचे गुर छुटि ।
जोगी भोगी कापड़ी सिखा भखनि विसेख ।
गुर का सबदु न चीनही लबु साकु निरेख ।3।
पण्डित पाधे जोसी मिल जड़नि पुराण ।
अंतरि वसतु न जाणनी घरि छडम मुकाण ।4।
इकि तखती वन महि तपु करनि मिल तीरथ सासा ।
आपु न चीनहि सामली काहे उदासा ।5।
इक सिधु जतन करि राखदे से जती कहावनि ।
बिनु गुर सबद न छुटही भ्रमि आवनि जावनि ।6।
इकि सिरखी सेवक साखिआ गुरमती लागे । आसा, पृ0 473

2:- हेतु न मेरे खाये सहते एहा भगति निरारी । रामकली, 939

3:- सचे ही पतीजाइ सचि खिलिआ । माझ, पृ0 109
साचा भोजनु भाउ सतिगुर दसिआ । माझ, पृ0 109

लाभ ही लाभ है।[1] वह भवसागर से पार हो जाता है, उसका आवागमन समाप्त हो जाता है।[2]

गुरु नानक ने भक्ति के आधार रूप में प्रेम को अत्यधिक महत्व देते हुए कहा है कि प्रेमाभक्ति द्वारा ही प्रभु - प्राप्ति संभव हो सकती है,[3] प्रेम-भक्ति द्वारा ही परमात्मा भक्त के वश में हो जाता है।[4] इस प्रकार वियोग समाप्त हो जाता है और जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है,[5] और जिज्ञा -द्वैतभाव नष्ट हो जाता है।[6] यह भक्ति सुखों की खान है,[7] कामक्रोध की विनाशक है,[8] प्रभु का प्रेम प्राप्त करने तथा प्रभु पर भी विजय प्राप्त कर लेने का एक साधन है।[9] भक्ति प्रेम में निमग्न होने से अहंत्व का कण मात्र भी जब जीव में विद्यमान नहीं रहता,[10] उसके विपरीत हृदय में विश्वास[11] तथा उल्लास[12] उत्पन्न

1:- नाम दा सायर मीठा भाति लाइआ अनदिनो । गउड़ी, पृ0 155

2:- मे भाइ भाति तक भवजलु मना बिनु नाइ हरि पारगी । गूजरी पृ0 489

नानक राम भाति जन तरणा रामकली पृ0 955

हरि हरि नाम, भाति पिआ प्रीतम सुख सागर उरधारे । गउड़ी, पृ0 221

3:- काइआ सोधि न पाइओ, बिनु हरि भाति पिआरा गउड़ी गुआरेरी, पृ0 228

4:- प्रेम पराधीना प्रीतम राउ । गउड़ी गुआरेरी , पृ0 221

5:- मन तन हेत भए सहु (पाइआ) हरि की भाति निहारी । मलार, पृ0 1273

6:- नानक भाइ भाति निसतारा दुरिआ विचे दुजा सिरी राग, पृ0 84

7:- प्राणी राम भाति सुखु पाइओ । रामकली, पृ0 876

8:- इन भाई भाति प्रीतम काम क्रोध निवारिआ, बिलावल, पृ0 844

9:- नानक साहन नाह पिआरी अभ भाति पिर आगे । तुखारी, पृ0 1112

10:-नानक भगती मनी जे रचे कूड़े सोइ न कोइ । आसा, पृ0 434

11:-भाति हेत गुर सबदि तरीऐ ।। माझ, पृ0 1042

12:-जोग बिनोद सवाद आनंदा ।

मति सतिभाइ भाति गोविन्दा ।। परभाती बिभास, पृ0 1343

होने लगता है। योग के समस्त आनन्द भी भक्ति के अन्तर्गत प्राप्त हो जाते हैं तथा प्रभु स्वयं अपनी कृपा से भक्त की रक्षा करता है।[1] इस प्रकार केवल गुणवान व्यक्ति ही नहीं बल्कि अवगुणवादी, मिथ्यावादी व्यक्ति भी भाई-बे- भाव[2] प्रेम रूपी भक्ति द्वारा परमात्मा के सहज लोक में अपना स्थान बना लेते हैं।

गुरु नानक वेदों को भक्ति का स्त्रोत मानते हैं। उनका कथन है - वेद पुकार पुकार कर भक्ति का प्रचार करते हैं,[3] जो वेदों की इस पुकार को सुन लेते हैं, वे प्रभु - ज्योति को पा लेते हैं।

भक्ति के लिये एक आवश्यक बात है, भगवद् कृपा। भगवान् की कृपा के बिना भक्ति को भी नहीं पाया जा सकता,[4] इस प्रभु की कृपा द्वारा ही भक्त के हृदय में भक्ति का उद्भव होता है।[5]

1:- जो जन राम भगति रचि पिआरि।
सो प्रभि राखे किरपा धारि। गउड़ी गुआरेरी, पृ0 222

2:- सतिगुर जोरि[6]दु खरे को खरदि खसारना हारु।
साची दरगह मंनीऐहि गुर के प्रेम पिआरि॥ मारू, पृ0 109

3:- वेद पुकारे भगति सहोति।
सुणि सुणि माने देवै जोति। बिलावल, पृ0 844

4:- आपे देइ पिआरु मैनि लाइसे। मारू, पृ0 138
आपे करमे भगति करावै। बिलावल, पृ0 854
गुरमति मेले भगति द्रिड़ाए। बिलावल, पृ0 843
तू एकु दाता देवणहारु।
लोरि[7]मानी तुधु भगति भंडारा। गउड़ी गुआरेरी, पृ0 223
अवगणिआरा दानु दीने दाते तेरी भगति भरे भंडारा आसा, पृ0 350
हरि हरि नामु देहि तुधु पाखे तेरी भगति[8]मेरे भंडारा, गूजरी, पृ0 489
आतमि लोहि न भगति भंडारी भरिपुरि रहिआ सोई। रामकली, पृ0 885

5:- तुम ते उपजि भगति भाउ। रामकली, पृ0 936

गुरु नानक भक्ति विहीन जीवन को व्यर्थ मानते हैं ।[1] भक्ति के बिना व्यक्ति का जीवन व्यर्थ[2] और निरर्थक है ।[3] जिस व्यक्ति में गुरुजनों की सेवा - भावना तथा हरि भक्ति का प्रेम नहीं, वह व्यक्ति दुत्कारा जाना चाहिए[4] क्योंकि भक्ति के बिना आवागमन बना रहता है, सुखों की उपलब्धि नहीं होती[5] तथा भक्ति के बिना अनेक दुःख सहन करने पड़ते हैं ।[6]

भक्ति को त्याग कर जो लोग अहंकार मय जीवन व्यतीत करते हैं वे बहुत पीड़ित तथा दयनीय स्थिति में ग्रस्त रहते हैं । इस तथ्य को गुरु नानक ने एक उदाहरण में अनेक पौराणिक नायकों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ।[7] इतना ही नहीं, उनका कथन है कि भक्ति के बिना यह

1:- जनमें का फलु किआ गणी जौ हरि भाति न भाउ । श्लोक वारां ते वधीक पृ० 1411

2:- बिनु जप भाति बादि मरीजे । माझ, पृ० 991

3:- जिन मे भाती जनमु बिरथा । आसा पृ० 434

4:- जिन नाले किआ जीवणा बिनु बिनु चतुराई ।
सतिगुर साधु न सेविआ हरि भाति न पाई । आसा, पृ० 432

5:- बिनु भे भाती आउ जाउ । मारू, पृ० 1168
बिनु हरि भाति नाही सुखु प्राणी । गूजरी, पृ० 504

6:- बिनु हरि भाति दुख घनेरे । मारू, पृ० 1170

7:- इहमे गरबु कीजा नहीं जानिआ । वेद की बिपति पड़ी पछुतानिआ ....
बलि राजा माग्या अहंकारी । जान करे बहु भार अपारी । .....
दुरमति हरणाखस दुराचारी । .....
भुले रावण मूड अचेति । लूटी लंका सीस समेत ।
गरबि कीजा बिनु सतिगुर हेति । सहसबाहु मधुपीट मरवाना ।
हरणाखस ले नखहु बिदारा ।
देत संघारे बिनु भाति अपारा । .....
छले भाइ देत संघारे । गुरमुखि साचि भाति निसतारे ।
छुटा दुरजोधनु पति खोई । रामु न जानिआ करता सोई । ...
बिनु जगदीस न राखे कोई । बिनु गुर गरबु न हेरिआ जाए ।
गुरमति अलखु अभेउ हरि पाए । नानक नामु मिले गुण गाए । गउड़ी, पृ022।

समस्त जगत मदहोश, पागल बन गया है ।[1] क्योंकि माता - पिता, सन्तान तथा स्त्री का मोह बन्धन है, शास्त्र मर्यादा के अनुसार किये जा रहे कर्म भी बन्धन हैं, किसान की कृषि, मूल्य का कर एकत्र करना, व्यापारी का व्यापार, इन्सानों का अन्न स्वयं बंधन हैं । इसलिये ये लोग भगवान के बैकुंठ लोक में निवास नहीं कर सकते । बन्धनहीन वे ही होते हैं जो जगत का समस्त कार्य - व्यवहार करते हुए भी प्रभु की नाम भक्ति में लीन रहते हैं ।[2]

इस प्रकार गुरु नानक ने अपनी वाणी में भक्ति के मूलतत्व के रूप में प्रेम को ही स्वीकार किया है । हम देख चुके हैं कि गुरु - कवि की भक्ति - भावना वस्तुतः प्रेम का ही पर्याय है । प्रेम मन की भावना है, इसलिये वे भक्ति के अन्य साधनों को भिन्न कोटिका समझते हैं । उन्होंने अनेक उदाहरणों द्वारा, पौराणिक आख्यानों के प्रयोग के माध्यम से सर्वत्र भक्ति के प्रेम मूलक रूप को ही स्पष्ट किया है । परन्तु इसके साथ साथ ही प्रेमाभक्ति के आनुषंगिक रूप में ही, यदि हम सूक्ष्मता से देखने का प्रयत्न करें, तो कहीं कहीं नवधा भक्ति के कुछ तत्वों का भी समावेश हुआ दिखायी देता है । श्रीमद्भागवत पुराण[3] में भक्ति को नवधाभक्ति तथा आध्यात्मिक रामायण में नौ - विधा * कहा गया है । गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति को नवधा[4] की संज्ञा से अभिहित किया है । विज्ञान - गीता में केशव

- - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1:- भरमि विगूता जगु बउराना ।। पृ0 रामकली 878

2:- बंधन मात पिता सनबंधि ।
बंधन सुत कन्या अरु नारि ।
बंधन करम धरम हउ कीआ ।
बंधन पुत्तु कलतु मनि बीआ ।
बंधन किरखी करहि किरसान ·····
नानक राम नाम सरणाई ।
सतिगुर राखे बंधु न पाई । आसा पृ0 470

3:- श्रवणं कीर्तनं विष्णोः, स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं, दास्यं,
साख्यमात्म निवेदनम् इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्ति चेन्नवलक्षणा ।
भागवत पुराण 7/5/23-24

4:- रामचरित मानस, पृ0 698

ने भागवत पुराण के अनुरूप भक्ति के नौ भेदों का वर्णन किया है। ग्रन्थ में भक्ति के इन भेदों को नौ रसों के साथ मिलाकर प्रस्तुत किया गया है। श्रवण को अद्भुत रस, पादसेवन को भयानक रस, अर्चन को शृंगार रस, वंदना को वीर रस, सख्य को हास्य रस, कीर्तन को रौद्र रस, तथा आत्मनिवेदन को शान्त रस से सिक्कार प्रतिपादित किया गया है।[1]

नवधा भक्ति के सन्दर्भ में सर्वप्रथम श्रवण को ग्रहण किया गया है। श्रवण भक्ति का स्वरूप नानक वाणी में अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। गुरु नानक का कथन है कि जिस व्यक्ति ने भी भगवान नाम का श्रवण किया है, वही सिद्ध, पीर, देवता तथा नाथ है। धरती तथा आकाश का आधार है, दीपों, लोकों तथा तथा पातालों का ज्ञाता है तथा मृत्यु के प्रभाव से भी स्वतन्त्र है। जिसने भगवद् नाम श्रवण किया है, वह शिव, ब्रह्मा, तथा इन्द्र है, वह योग - युक्ति, सभी समस्त भेदों तथा वेदों, शास्त्रों, स्मृतियों का ज्ञाता है। श्रवण द्वारा सत्य, संतोष तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है, समस्त सिद्धियों के अध्ययन का गौरव प्राप्त होता है। श्रवण से अठारह तीर्थों का स्नान हो जाता है तथा सहज पद में ध्यान एकाग्र हो जाता है। श्रवण द्वारा व्यक्ति श्रेष्ठ गुणों का ग्राहक बन जाता है, योगी, पीरों का स्वामी बनने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। नाम श्रवण से अज्ञानी व्यक्ति को भी मार्ग दृष्टि गोचर होने लगता है तथा उसे संसार की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। श्रवण करने से निम्न कोटि के व्यक्ति भी श्रेष्ठ बन जाते हैं तथा उनको यश प्राप्त होने लगता है। श्रवण करने वाले सन्त जन सदैव प्रसन्न रहते हैं क्योंकि श्रवण द्वारा उनके दुःखों तथा पापों का नाश हो जाता है।[2]

नवधा भक्ति का द्वितीय सोपान "कीर्तन" है। भगवान् का नाम, गुण, महात्म्य, लीला, भगवद्भक्ति के यश, प्रेम तथा का सहित कथन, स्तुति,

---

1:- विज्ञान गीता, पृ0 235-36 , छन्द 172-74

2:- जपुजी पउड़ी 8-11, पृ0 2-3

के रूप में पाठ तथा गायन करना कीर्तन कहा जाता है।[1] गुरु नानक वाणी को आधार मान कर चलने वाले सिख पंथ में कीर्तन का विशेष महत्व है। गुरुओं की समस्त वाणी संगीत की राग - रागनियों में सुरक्षित है। वाणी का आधार, गायन पद्धति से बड़ा महत्वपूर्ण तथा अनिवार्य माना जाता है। गुरु नानक ने अपनी वाणी में कीर्तन का बड़ा ही विशद स्वरूप विश्लेषित किया है। उन का कथन है कि समस्त ब्रह्माण्ड परमात्मा के कीर्तन में संलग्न है। इस ब्रह्माण्डीय कीर्तन के लिये अनेक वाद्य - यन्त्र असंख्य रागनियां, तथा अनेक गायक विद्यमान हैं। पवन, पानी, अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र तथा अनेक देवी-देवता, सिद्ध, साधक, ऋषी, मुनी, संतोषी तथा शूरवीर योद्धे, पंडित, लेखक, वेदाचार्य, मनमोहिनी स्त्रियां, समस्त खंड-ब्रह्माण्ड, चारों खानियां, परमात्मा द्वारा उत्पन्न रत्न-पदार्थ, अठारह तीर्थ तथा भक्तजन सभी भगवान की, अकाल पुरुष की कीर्तन भक्ति में निमग्न हैं।[2]

भक्ति के तत्वों में स्मरण का गुरुवाणी में सब से अधिक महत्व है। गुरु नानक का कथन है कि स्मरण जीवन है तथा प्रभु को विस्मृत करना मृत्यु है।[3] परमात्मा का एक पल का विस्मरण भी गुरु कवि के लिये मन का रोग है।[4] क्योंकि प्राणदेहना पुनः पुनः स्मरण के बिना, व्याकुल होती तथा दुःखी रहती है।[5] इसलिये यह आवश्यक है कि जिस प्रभु ने हमें कान, नाक, आंखें, जिव्हा, सर्वस्व दिया है, जीव उसका स्मरण करे[6] जो भवसागर से पार जाने के लिये एकमात्र आधार है।[7]

1:- श्री हरिभक्ति रसामृत सिन्धु स्व गोस्वामी, पृ० 25

2:- साजे नाद अनेक अनंता ... रते तेरे भाए रसाले ।। जपुजी, पउड़ी 27 पृ० 6

3:- आखा जीवा विसरे मर जाउ । आसा पृ० 47।

4:- इकु तिलु पिआरा वीसरे रोगु वडानम ताहि । सिरी राग, पृ० 75

5:- जीउ तपतु है बारो बार । तपि तपि खपै बहुत बेकार

जैसे बाणी तिसहि जाप । जिउ पवा रागी तिसनाप ।। आसादी, पृ० 469

6:- जिनी कम कीते अही माहु । जिम दिता तिसै वीसरे नाहु ।

जिनी मनु राखिआ अपणी पाइ घाले सभु जाइ । आसादी पृ०466

7:- करमि मिले आखा तेरा नाउ । तिसु बलिहारै सदा वेखा वाउ ।

गुरु नानक देव का कथन है कि नाम स्मरण ही इस जीव की भयानक अग्नि को शान्त करने का एक साधन है।[1] यही एक मात्र मोक्ष प्राप्ति का साधन है। तीर्थों का भ्रमण, अन्न - त्याग आदि साधन व्यर्थ हैं।[2] परम शान्ति तथा संतोष केवल नाम स्मरण से ही प्राप्त हो सकती है।[3] गुरु नानक देव तो यहाँ तक कहते हैं कि तन को अग्नि भेंट करने, उसके टुकड़े टुकड़े कर देने, तन-मन दोनों को यज्ञ की सामग्री बनाकर इतिहित जल डालने से, पर्वतों में शरीर गला देने आदि सारी प्रयत्नों की तुलना में भी स्मरण का महत्व कहीं अधिक है।[4] क्योंकि स्मरण समस्त पापों का निवारण करता है तथा प्रभु की सहज - प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है जिसके द्वारा हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, जिसके लिये यही माया से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

पादसेवन भक्ति का स्वरूप नानक - वाणी में उपलब्ध नहीं है। गुरु नानक भक्ति के लिये बाह्य साधनों की आवश्यकता महत्व नहीं करते थे। उनकी भक्ति, भाव भक्ति थी, "मन का प्रेम" था, इसलिये पाद सेवन भक्ति का स्वरूप भी यदि हम देखना ही चाहें तो सूक्ष्म रूप में देखा जा सकता है। निरंकार के गुणगानों का सेवन करने से आवागमन समाप्त हो जाता है।[5] निर्गुण, लेकिन यह यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि जिस रूप में पादसेवन भक्ति का सूक्ष्म रूप देखा गया

1:- आतस दुनीआ सुनक नाम सुआवा। मलार, पृ० 1255

2:- सत तीरथ नावणि कीम न आवणि।
एक नाम आवणि देह आवणि।
राम नाम बिन मुकति न होई।
बिन बिधि पार लंघार्इ सो। माझ पृ० 1010

3:- ज्ञान होम पूंन तप पूजा। .....
बिरत के बाहि भेख भवना। भैरउ, पृ० 1228

4:- तन बेअंतर होमीऐ एक रती तोल कराइ।
तन मन सभो जे करी अनुदिन अगनि जलाइ।
हरि नामे तुल न पुजई जे सउ कोरी करम कमाइ।
बरत सरीर कराइऐ बिनु बुझे दुखु पाइ।। पृ० 560

5:- जनमु मरणु तिन का छुटा जो हरि लागे पाइ। आसा, अ:म: पृ० 433

में प्रचलित था, उसका उन्होंने जोरदार शब्दों में खण्डन किया था।[1] निर्गुण उपासक होने के कारण मूर्तिपूजा उनके लिये पाखंड के अतिरिक्त कुछ भी नहीं थी।

इसी प्रकार गुरु नानक देव ने अर्चना भक्ति का भी खण्डन किया।[2] उनकी अर्चना भक्ति का स्वरूप मानसिक था। उन्होंने बताया कि प्रभु की अर्चना के लिये जीवन को अपने मन को उत्साह चन्दन रगड़ने के लिये पत्थर का गोल टुकड़ा बनाकर, शुभ कर्म रूपी केसर के संयोग से पूजा करनी चाहिये। इसमें अपने ठाकुर को स्थूल पानी से नहीं धोया जाता बल्कि मन को स्मरण द्वारा पवित्र करते हुए पापों की मलिनता को स्वच्छ किया जाता है।[3] गुरु नानक का कथन है कि भले ही परमात्मा एक है लेकिन उसके स्वरूप अनेक हैं, इसलिये पूजा किसी की जाये? किस के सम्मुख धूप जलाया जाये? समस्त प्रकृति परमात्मा की अर्चना - पूजा में सलग्न है।[5]

नवधा भक्ति के एक अन्य प्रकार वन्दना भक्ति का स्वरूप भी मूर्ति - पूजा से ही सम्बन्धित है। भगवान की मूर्ति के सम्मुख दंडवत - प्रणाम भी मूर्ति पूजा में ही सम्मिलित है। गुरु नानक की वाणी में वन्दना किसी मूर्ति-विशेष के लिये नहीं है बल्कि उनके परमात्मा के निर्गुण स्वरूप के लिये है। उनके अनुसार वास्तविक वन्दना प्रभु के प्रति आस्था[6] तथा उसके अर्थात् परमात्मा के आदेश का पालन है।[7]

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1:- नावहि धोवहि पुजहि सेला किन दुष्टि राते मेलो मेला। रामकली, पृ0 904

2:- पूजा सिला तीरथ वनवासा मरमत डोलत भए उदासा। आसादी, आ:ग्र: पृ0686

3:- आसण देह पखाली अहि जे मनु धोवै कोइ।
सुठि मते जीउ माजीवै मोख पवाणा होइ। गूजरी, आ:ग्र: पृ0 489

4:- तेरी मूरति एका बहुतु रूप। किसु पूज चढ़ावउ देउ धूप। आसा, आ:ग्र: पृ0 370

5:- गगन मंहि थाल रविचंद दीपक ••• पूजत जोती। आसादी, आ:ग्र: पृ0 685

6:- सिव्हु करि सिजदा मनु करि मकसूदु। सिरी राग, आ:ग्र: पृ0 20

7:- तुझ नो सिफति सलाह तेरा नाउ। रामकली, आ:ग्र: पृ0 955

इसी प्रकार नवधा भक्ति में दास्य भक्ति पर भी विशेष रूप से विचार किया गया है लेकिन दास्य भक्ति का आधार भी उन्होंने प्रेम को ही स्वीकार किया है।[1] इस भक्ति शिक्षा में सेवा का बहुत महत्व है, उसके बिना किसी भी पद की उपलब्धि नहीं हो सकती।[2] गुरु नानक का कथन है कि सेवा-भाव या दास्य-भाव के बिना भक्ति ,भक्ति ही नहीं कही जा सकती।[3]

सख्य भाव की भक्ति के सम्बन्ध में गुरु नानक ने अपनी वाणी में परमात्मा को सखा के रूप में चित्रित ही नहीं किया बल्कि उसके गुणों - गुण - गानों से अपने सम्बन्ध स्थापित करते हुए बताया है कि परमात्मा के समान मेरा कोई अन्य सखा नहीं है।[4] गुरु नानक के अनुसार चित्त स्थी परमात्मा की कृपा से ही गुरु प्राप्त होता है जो भक्ति में दृढ़ता पैदा करने में सहायक होता है।[5] सख्य भक्ति द्वारा ही सत्यस्वरूप परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है।[6]

आत्म निवेदन भक्ति, भक्ति के शेष सभी रूपों में सर्व श्रेष्ठ तथा महत्वपूर्ण है। गुरु नानक की भक्ति भावना आत्म निवेदन भक्ति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।[7] क्योंकि उन्हें इस बात का ज्ञान है कि परमात्मा की शरण में जाने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।[8] गुरु नानक का कथन है कि गुरु की शरण में जाने से ऋद्धि , सिद्धि, बुद्धि, ज्ञान तथा मोक्ष रूपी अमूल्य पदार्थ तथा निर्भयता की भावना सहज रूप में ही प्राप्त हो जाती है।[9]

1:- सेवक सेवहि भाउ करि ... जपहु , आ:ग्र:, पृ0 566

2:- बिनु सेवा फल कबहु न पावसि सेवा करणी सारी। माझ, आ:ग्र:, पृ0 1092

3:- गुर सेवा बिनु भगति न होई। प्रभाती, आ:ग्र:, पृ0 1331

4:- साजनु मीतु सुजाणु सखा तू ... बाला , आ:ग्र:, पृ0 833

5:- अब तउ पली पदु पुकारउ आदि जुगादि सखाई। गूजरी, आ:ग्र:, पृ0 504

6:- क:- सेवा सुरति सखा सबाई। गुर हरि मिलिआ भागि लिखाई। सिरीराग आ:ग्र: पृ0 75

ख:- नानक सतगुरु मीतु करि सबु पावहि दरगह जाइ। सिरी राग पृ0

7:- जे जी मन हम उत्तमीच मन लखिआ। हरि सरणागति हरिके लोग। गूजरी, वही पृ0 505

8:- नानक सरणि प्रभु की छूटे सतिगुर सबु सबाई। रामकली, वही पृ0 938

9:- रिधि सिधि बुधि गिआनु गुरु ते पावहु मुकति पदारथु सरणि पवहु।
सुखु सहजु गुरमुखि सम करि जाणहु हरख सोग ते बिरकतु भवहु। रामकली, आ:ग्र: पृ0 946

इस प्रकार भक्ति के सम्बन्ध में गुरु नानक वाणी का अध्ययन करते हुए यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि गुरु नानक की भक्ति भावना का मूल स्वरूप प्रेमाभक्ति ही था। डा० जयराम मिश्र के अनुसार, भक्ति की अखंड धारा गुरु जी के प्रायः प्रत्येक पद में प्रवाहित हुई है। गुरु नानक द्वारा निरूपित सभी साधना पथ - कर्म मार्ग, योग मार्ग तथा ज्ञान मार्ग भक्ति - द्वारा ही सिद्धित हैं। बिना परमात्मा की प्रेमाभक्ति के कर्म पाखंडपूर्ण तथा आडम्बर युक्त हैं, ज्ञान पोथी-ज्ञान मात्र है, तथा योग शरीर का केवल व्यायाम है।[1] परमात्मा की प्रेमा भक्ति ही कर्म को निष्काम - कर्म, ज्ञान को ब्रह्म - ज्ञान तथा योग को सहजयोग में परिवर्तित कर देती है। इसलिये किसी भी मार्ग की साधना भक्ति के बिना प्राणहीन और लक्ष्य रहित है।[2] डा० रतन सिंह जग्गी का कथन कि गुरु जी एक साथ चारों मार्गों के परम्परा गत रूप का त्याग करते हुए उनके सहजीकृत रूप को अपनाते हैं। वस्तुतः गुरु नानक इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि परमात्मा की प्राप्ति किसी भी प्रकार के विधि - विधानों तथा कर्म काण्डों द्वारा संभव नहीं है क्योंकि यह यत्न साध्य नहीं, सहज साध्य है।[3] इसी प्रकार डा० नीहार रंजन रे ने उल्लेख किया है कि गुरु नानक ने अपनी सहज साधना द्वारा मध्यकाल के भारतीय धर्म तथा समाज को पतन शीलता होने तथा बिखर जाने से बचा लिया था। उन्होंने धार्मिक तथा आध्यात्मिक जिज्ञासा के लिये अधिक पावन साधन प्रदान किया। गुरु नानक के विचारों का मौलिक, सामाजिक तथा धार्मिक महत्व बड़ा विस्तृत तथा गंभीर है।[4] डा० प्रेम प्रकाश सिंह ने गुरु नानक की प्रेमाभक्ति को सूफियों की प्रेम साधना से भिन्न चित्रित

1:- नानक वाणी, पृ० 70

2:- जयराम मिश्र, श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, पृ० 263

3:- गुरु नानक : व्यक्तित्व, कृतित्व और चिन्तन, पृ० 602

4:- दे सिख गुरु एण्ड दे सिख सोसाइटी , पृ० 139

करते हुए बताया है कि सूफी साधकों की स्थूल तत्व तथा विह्वलता, उन्माद तथा मादकता की सीमा तक पहुंच जाती है। इसके विपरीत नानक की प्रेमा भक्ति का स्वरूप स्वच्छ तथा निर्मल है जिसमें दीनता, विनम्रता, विश्वास, मर्यादा, आदि की प्रधानता है।[1]

निष्कर्षतः गुरु नानक ने, जैसा कि हम नवधा भक्ति का वर्णन करते हुए देख चुके हैं, भक्ति की समस्त प्रणालियों में केवल उन्हीं तत्वों को भावीकृत किया जो युग की परिस्थितियों के अनुकूल थे तथा अपेक्षाकृत लोक मंगल के अधिक निकट थे। उन्होंने भक्ति के समस्त स्थूल तत्वों का निषेध करते हुए भक्ति को केवल प्रेम पर आधारित करने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार गुरु नानक वाणी में प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप विवेचन करते समय भक्ति के तीन अनिवार्य साधन सामने आते हैं - मानव शरीर अथवा मानव जन्म, आध्यात्मिक आस्था और परमात्मा - प्रेम। मानव शरीर अथवा मानव जन्म सर्व प्रमुख और सर्व प्रथम साधन इसलिए है कि इसकी प्राप्ति के पश्चात् ही भाव - भक्ति अथवा प्रेमाभक्ति में प्रवृत्त होने का प्रश्न उठता है। गुरु नानक मानव जन्म को दुर्लभ मानते हुए[2] यह स्थापना करते हैं कि यदि परमात्मा को पाने का कोई साधन है तो वह यही है।[3] इस माणिक्य तथा हीरे सदृश मानव जन्म को व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिये।[4] वस्तुतः यह शरीर हरि मन्दिर है और परमात्मा ने अपने बैठने के लिये इसे निर्मित किया है।[5]

1:- गुरु नानक से निर्मला धारा, पृ० 175

2:- मानुस जनमु दुर्लभु गुरमुखि पाइआ। सूही, अलहणी 3/1 आ:ग्र: पृ० 751

3:- सुणि मन मित्र पिआरिआ मितु सेला है एहु। सिरी,पदे 17/1 वही पृ020

4:- हीरे जैसा जनमु है कउडी बदले जाइ। गउड़ी पदे 18/1 वही पृ० 156

5:- 1:- काइआ मनु मंदरु घरु हरि का तिस महि राखी जोति अपारि।
मारु,पदे 5/4 वही पृ० 1256

11:-काइआ गड़ महल मलीऐ प्रभु साचा सचु साचा तखतु रचाइआ।।
मारु, सोलहे 18/12 वही पृ० 1039

गुरु नानक की भक्ति का दूसरा अनिवार्य साधन आध्यात्मिक आस्था है। मानव शरीर की प्राप्ति के पश्चात् भी यदि परमात्मा के प्रति आस्था की भावना न पनप पाये, तो यह जन्म व्यर्थ है। वस्तुतः आध्यात्मिक आस्था भक्ति का आधार है। यह बात सभी संतों, भक्तों आदि ने स्वीकार की है। गुरु नानक परमात्मा के पास प्रार्थना करते हैं कि परमात्मा के बिना साधक की कोई मान-मर्यादा नहीं है।[1] उनकी अटल आस्था आस्तिकता का प्रमुख प्रमाण है। अनास्तिक व्यक्तियों को दोहागिन कहते हुए उन्होंने भगवान प्रभु को न भुलाने के लिये संकेत किया है।[2]

प्रेम गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित भक्ति का तीसरा अनिवार्य साधन है। मानव शरीर, आध्यात्मिक आस्था आदि साधन सभी महत्व रखते हैं यदि साधक साध्य के साथ प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करे क्योंकि इसके बिना भक्ति साधना सम्पन्न हो ही नहीं सकती।[3] गुरु नानक ने अपनी वाणी में इस भक्ति प्रेम का बड़ा ही मार्मिक तथा विशद वर्णन किया है। नानक का कथन है कि यह प्रेम बड़ा कठिन है। "सिर को तली पर धरकर" ही इस मार्ग पर आगे बढ़ा जा सकता है। यदि इस मार्ग पर एक बार पाँव रख दिया तो फिर[4] सिर भी देने में संकोच नहीं करना पड़ता। जिसके उस प्रेम का तीर लग जाता है, उसका उपचार वैद्य के द्वारा संभव नहीं। वह ला-इलाज हो जाता है। क्योंकि यह हृदय के भाव-लोक का रोग है जो सामान्य चिकित्सा वैद्य की

1:- तुखारी, छंत 4/2 आदि ग्रन्थ, पृ0 1112

2:- बिनु जीवणु दोहागणी सूकी धुके भाइ। खसम केरी दुइ किउ अहिनिसि सिरि ठकिराइ।
बिनु रासदे सुकुत न थीऐ फिरबिनु सुकुत जाइ।
सुधि पिर बिनु किया सीगारु। सिरी, पदे 13/1-2 सवी पृ0 18-19

3:- बिनु प्रीती भगति न होवई बिनु सतिगुर न लगे पिआरु।
मलार की वार पउड़ी 19 सवी पृ0 1286

4:- जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ। सिरु धरि तली गली मेरी आउ।
इतु मारगि पैरु धरीजे। सिरु दीजे काणि न कीजे। रलोक वारां ते
सवीक 20 पृ0 1412

सीमा से बाहर है। उस रोग को समझने में केवल वही व्यक्ति समर्थ हो सकता है, जिसने उस रोग की पीड़ा का अनुभव किया हो।[1] गुरु नानक का कथन है कि मुमुक्षु हरि के साथ उस प्रकार का प्रेम होना चाहिए जैसा जल और कमल का होता है। लहरियों के द्वारा पछाड़े जाने पर भी वह जल के प्रेम से ही विकसित होता है। उसका जीवन जल के द्वारा अस्तित्व में आता है और जल के बिना उसका मरण अवश्यंभावी है। हरि के साथ उस प्रकार का प्रेम करना चाहिए जैसे जल के साथ मछली का होता है। जल के बिना वह क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकती। वह हरि के साथ उस प्रकार का प्रेम करना चाहिए जैसे चातक बादल के साथ करता है। स्वाति नक्षत्र की बूंद के बिना वह सरोवरों के पानी मुंह नहीं लगाता। हरि के साथ उस प्रकार की प्रीति होनी चाहिए, जैसे जल की बूंद के साथ होती है। औटने पर जल स्वयं जलता (सूखता) है, किन्तु दूध को जलने नहीं देता। प्रभु प्रेम चकवी और सूर्य के प्रेम की भांति होना चाहिए। वह एक क्षण भर के लिये भी सो नहीं पाती और दूर जाने वाले अपने प्रिय सूर्य को संदेश भेजकर ही रात्री है। यह बात मनमुख व्यक्ति नहीं समझ सकता। गुरुमुख व्यक्ति ही उस

1:- माझ की वार श्लोक 4, पृ० 1288

अनुभव की वास्तविकता का सही रूप में साक्षात्कार कर पाता है।[1]

गुरु नानक की प्रेम भावना में द्वैत का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि द्वैतभाव के रहने के कारण परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती और जब परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है तो "अहम्" का अस्तित्व मिट जाता है।[2] प्रेम की गली बड़ी संकरी सी है। इसमें एक साथ दो का समाना कठिन है।[3]

1:- रे मन जेती हरि सिउ प्रीति करि जेती जग कमोदि ।।
सहरी गालि पछाड़ीऐ भी सिरसे आलेदि ।।
जलि मरि जीउ उपाइ के विचु जग मरणु सिरेदि ।
मन रे सिउ छुटहि विचु पिआर ।। . . . . .
रे मन जेती हरि सिउ प्रीति करि जेती मछुली नीर ।
सिउ अधिकउ सिउ सुखु घणो मनि तनि सांति सरीर ।
विचु जग कही न जीवई प्रभु जाणै अंतर पीर ।।
रे मन जेती हरि सिउ प्रीति करि जेती चातिक मेह ।
सर भरि जल हरि जाचले उक बूंद न पावई केह ।
करमि लिखे सो पाइसे विचु पचा सिरि देह ।
रे मन जेती हरि सिउ प्रीति करि जेती जग सुख सोइ ।
आवणु जाणे खटे दुख का लाहिन न देइ ।
आपे मेलि विछुनिआ सचि साइजाई देइ ।
रे मन जेती हरि सिउ प्रीति करि जेती चलदी सुर ।। . . . .
. . . . . .

सिरी आसादी ।।/।-3 वही पृ0 60

2:- हउमै करी लां हु नाही तु सोवसि सा नाहि । मारू,श्लोक 17 आ:ग्र: पृ0 1095

3:- हउमै नावै नालि विरोध है दुई ना जाणै इक लाइ । आ:ग्र: पृ0 560

गुरु नानक ने परमात्मा के प्रति प्रेम की भावना को अभिव्यक्त करने के लिये अनेक प्रकार के सांसारिक सम्बन्धों का आश्रय लिया है। इनमें प्रमुख है :- पति - पत्नी का सम्बन्ध, माता-पिता, पिता-पुत्र सम्बन्ध, स्वामी सेवक सम्बन्ध। भावात्मक दृष्टिकोण से हम इन्हें - कांताभाव, स्वामी - सेवक भाव, अपत्य भाव तथा वात्सल्य-भाव- की संज्ञा दे सकते हैं। गुरु नानक की वाणी में परमात्मा के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति कांता-भाव में अत्यधिक मार्मिकता, तन्मयता तथा तीव्रता से हुई है। डा0 जयराम मिश्र के अनुसार जहाँ रक्षा, पालन करने आदि का भाव है, वहाँ परमात्मा की उपासना माता-पिता, स्वामी मित्र तथा दाता आदि के रूप में की गयी है। परन्तु जहाँ प्रेम की तीव्रता, तन्मयता, एकाग्रता, और एक रसता की अभिव्यंजना की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ पति - पत्नी - प्रेम के माध्यम का सहारा लिया गया है।[1]

कांताभाव :-

गुरु नानक ने अपनी भक्ति भावना की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में अपने प्रियतम परमात्मा के प्रति कांताभक्ति को बड़े मनोयोग से चित्रित किया है। गुरु नानक का कथन है कि पति पत्नी को सभी अपनाता है, जब वह उसको प्रेम के रंग में रंगी जानकर आत्मसमर्पण कर देती है। सही पत्नी पति की वही मानी जाती है, जो सोलह शृंगार कर अपने पति को आकृष्ट करती है एवं उसकी इच्छाओं को पहचानती है।[2] गुरु अमरदास के अनुसार पति और पत्नी के दो शरीर भले ही हों, किन्तु उनमें प्राण - तत्व एक ही है।[3] गुरु नानक ने पति से

1:- श्री गुरु ग्रन्थ दर्पण, पृ0 294

2:- आदि ग्रन्थ, पृ0 620

3:- एक जोति दुइ मूरती धनपिक कहीऐ सोइ। आदि ग्रन्थ, पृ0 788

एकमेक होने वाली नारी को धन्य कहा है।[1] उन्होंने प्रेम के रंग में रंगी जीवात्मा रूपी पत्नी को सोहागिन[2] और परमात्मा के प्रेम से वंचित को दोहागिन[3] नाम दिये हैं। गुरु नानक का प्रियतम केवल प्रियतम ही नहीं, "पिर" अर्थात पति भी है। इस प्रकार इन प्रेम सम्बन्धों में मर्यादा है, मैत्रिकता है तथा जीवनार्थता है।

गुरु नानक ने परमात्मा के साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित करते हुए बताते हैं कि मेरा मन अपने प्रिय राम में अनुरक्त हो गया है, यदि वह एक क्षण भर के लिये भी मेरी ओर कृपा दृष्टि करे तो मैं अपने आप को उस पर न्योछावर कर दूं। मैं "सोहाग रूपी गाथे वह में दोहागिन के समान हूं, चित्त में सुखपाल कैसे जा सकती हूं। मुख में बहुत अवगुण हैं और उन्होंने मुझे त्याग दिया है। मैं "पिर" [प्रिय] के बिना दुख - दुख कर मर रही हूं।[4] सच्चे अन्तरिक्ष गुरु जीने परमात्मा से प्रेम - जागरण के लिए सभी को परमात्मा की नारियां बताया है।[5] और, जो परमात्मा की नारी बनने का गौरव प्राप्त करती है वह वास्तव में सोहागिन है। उसका कभी भी विधवा के समान मेला वेश नहीं हो सकता।[6]

1:- हरि एक तिनि पठाया इक नारी।
हरि बिनु दूजी सबदु बीचारी। आसा, पटी 14/3 आ:ग्र:, पृ0 353

2:- आसादी, अष्ट 3/3 आ:ग्र: , पृ0 690

3:- सिरी अष्टपदी 12/24/1 आ:ग्र:, पृ0 55

4:- माझ, अष्टपदी 9/ रहाउ, 2 आ:ग्र:, पृ0 1015

5:- प्रभु हरि न होई घटि घटि सोई जिस की नारि सबाई।
आपे रसीआ आपे राजे जिउ जिस दी वडिआई।
सूही, छंत 3/3 आ: ग्र:, पृ0 765

6:- हरि की नारि सु सदा सुहागिणि दूजा न भेखे कोई।।
सूही छंत 1/2 आ: ग्र:, सूही, पृ0 764

गुरु नानक ने कांतिभाव की इस अभिव्यक्ति में संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। संयोग सुख का वर्णन करते हुए एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि नायिका अपने प्रियतम को मिलने के लिये व्याकुल है, उसकी प्रतीक्षा कर रही है।[1] वह हरि दर्शन के बिना दुःख भरी पतली दिनचर्या के कारण उसका मन शंकित हो जाता है।[2] किन्तु ज्यों ही प्रियतम के आने की आहट सुनती है तो वह पुष्पमालाओं से अपना शृंगार करने की सोचती है। घर में प्रियतम आ जाता है और साधिका की इच्छा पूर्ण हो जाती है। प्रियतम के आने की खुशी में स्त्रियाँ मिल कर गीत गाती है, जिसे सुन कर नायिका के मन में उल्लास छा जाता है।[3] वह परमात्मा रूपी प्रियतम के अनन्त गुणों पर विमोहित हो जाती है।[4] उसे वही वस्तु प्राप्त हो जाती है जिसमें उसने अपने मन को लीन किया हुआ था।[5]

गुरु नानक ने जीवात्मा रूपी स्त्री के अपने अनन्य प्रियतम परमात्मा के परस्पर विहार के स्वप्नों की सुन्दर अभिव्यंजना की है। विहार के

1:- आवहु सजणा हउ देखा वदनु तेरा राम।
हरि आपणड़े खड़ी तका मैं मनि चाउ घनेरा राम।
सूही, छंत 3/1 आ:ग्रं:, पृ0 765

2:- बिखा जाना बिखा सोहणा री माई।
हरि दरसन बिनु रहनु न जाई। आसा, पदे 26/ रहाउ आ:ग्रं:,पृ0 357

3:- मेरी हउ धुनी जीउ हरि सालुणु आवा।
मिलि सखीआरी मंगलु गावा। गउड़ी छंत 1/4 पृ0 242

4:- लाल बहु गुणि कामणि मोही। आसा, पदे 55/ रहाउ बीं, पृ0 359

5:- सोई वसतु परापति होई जिसु खोजी सचु नावा।
सूही छंत 2/1 आ: ग्रं: , पृ0 764

पूर्व का समय है। सखियाँ मंगलमय गीत गा रही हैं।[1] परमात्मा रूपी दूल्हे के साथ गुरुओं की बारात है।[2] जीव रूपी नायिका ने जो अच्छी प्रकार से परखकर चुना है।[3] उसके पश्चात बड़ी शोभा से विवाह सम्पन्न होता है।[4] इस विवाह में गुरु मध्यस्थ बनता है।[5] इस विवाह के पश्चात सुहागरात आती है। गुरु नानक की जीवात्मा रूपी नायिका जो शृंगार करती है उसका वर्णन इस प्रकार है :- "हरि हरि" अर्थात् हरि का नाम गले का हार है, "दामोदर" दंत मंजन है, अर्थात, दांत का मंजन है, "मुकुन्द" दांत की मुंदरी है, "परमेश्वर" अपर लिया वैरागी वस्त्र है, "छैल- "छैल" माथे की पट्टी का गुंथन है और "धीरगि" नेत्रों में लगाने का काजल है।[6] क्योंकि गुरु नानक के प्रिय का रूप

1:- आवहु मीत मिलि आजे। मंगल गावहु नारे।
सभु मंगलु गावहु ता प्रभ भावहु सोहिलड़ा जुग चारे।
अपने हरि आदुआ आणि सुहावा कारज सबदि सवारे।
त्रिभवण महा रसु नेही अंजनु त्रिभवण रूपु दिखावा।।
सखी मिलहु रलि मंगलु गावहु हम घरि साजनु आवा। सूही छंत 2/2 पृ0764

2:- सूही छंत 4/1 पृ0 764

3:- वही

4:- दीवाहु हुआ सोभा सेती पंचे सबदी आवा।। सूही छंत 4/1 वही, पृ0 768

5:- हम्रे घरि आवा जा जीवनु भाइ।
गुरु दुआरै हमरा दीवाहु थिआ जा सबु मिलिआ ता जाणिआ।
तितु सोहिला महि सबदु रविआ है वादु गवा मनु माणिआ।।
आसा,पदे 10/2 वही पृ339।

6:- हरि हरि नाम कंठि मे पहिरे दामोदर वसु हेरै।
करि करि करता अंजन पहिरे इन बिधि बिखु छोरै।
सभु सुखु कर मुंदरि पहिरे परमेसर पटु सेरै।
वीरजु वही जोगावे कामणि इत्रीरंगु सुरमा देरै। आसा, पदे 35/2,3
पृ0 339

निराकार है, इसलिए उन्होंने अपनी सज्जा भी अन्य उपकरणों द्वारा यथा हरि नाम, दामोदर, कर्ता, मधुसूदन, परमेश्वर, श्रीरंग आदि से की है। ये सभी ब्रह्म शब्द के साधक है। इस प्रकार गुरु नानक का सारा शृंगार ब्रह्ममय है। ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं। शृंगार की यह ब्रह्ममय कल्पना वस्तुतः गुरु नानक की अनुभूति की अलौकिक स्थिति की सूचक है। जब नायिका इस प्रकार का शृंगार कर चुकती है तो फिर वह अपने मन रूपी मंदिर में जिज्ञेश का दीपक जलाती है, अपनी काया को प्रियतम के लिये सेज बनाती है और मन के राजा परमात्मा से निस्संकोच भाव से रमण करती है।[1]

गुरु नानक ने इस महाभिलाष का बड़ा सुन्दर दृश्य "बारहमाहा" नामक रचना के अंत में प्रस्तुत किया है। यह वस्तुतः "चित्र-सुहाग" की अवस्था है।[2] इस अवस्था में साधक प्रसन्न हो जाता है, कामादिक दुष्ट नष्ट हो जाते हैं और सच्चे अर्थ में सत्य की प्राप्ति हो जाती है। नायिका की इस स्थिति में सबसे बड़ी विशेषता यही है कि परमानन्द की यह अवस्था स्थिर बनी रहे।[3] इस महा मिलन के फलस्वरूप जीवात्मा रूपी नायिका, का स्वरूप परिवर्तन हो जाता है और वह सत्यस्वरूप ही हो जाती है।[4] और, इस स्थिति में होने का कारण गुरु का उपदेश है।[5] गुरु नानक ने जीवात्मा रूपी नायिका का इस प्रकार सज्जित करते समय सुंदरता के सभी साधनों तथा उपकरणों का आरोपण भी

1:- परहरि कपड़ु जो पिर मिले सुती रावे पिरु संगि, सोरठ महोला। पृ0 642

2:- घरि सेजड़ी सुहावी ता पिरि राती गुरबुधि मतकि भागी।
नानक अहिनिसि रावे प्रीतम हरि इक सिउ सोहागणे। सुहारी, बारहमाहा। पृ0. 1110

3:- साजन रहसे घर सिञापे साधु जपि सचु नाइओ।
कर जोड़ि साजन करे बिनती देहि दरसु तिसीआ।
नानक मिलणु करहि रलीआ सद मेरी पुनीआ। गउड़ी छंत 1/4 पृ0 242

4:- सलोक, आसावरीआं 3/8, पृ0 58।

5:- मलार, पदे 4, पृ0 1255

किया है । उसके नेत्र बड़े, दांत सुन्दर, नाक सुकुमार और केश लम्बे हैं । उसके स्वर्णिम शरीर पर वैजन्ती माला सुशोभित है । उसकी चाल मस्त हाथी के समान है, वचन कोयल के समान मनोहारी और यौवन चंचल एवं तृप्ति प्रदान करने वाला है । जिस नायिका का पति इतना गुण सम्पन्न हो वह भला क्यों - जल में अभिषिक्त देव-कन्या के समान क्यों न प्रसन्नचित्त तथा उल्लासपूर्ण विचरण करे ।[1]

इसी प्रकार गुरु नानक ने भक्ति - प्रेम के सन्दर्भ में जीवात्मा के वियोग का वर्णन भी अत्यन्त कलित्मकमयी पद्धति से किया है । सावन की सुखदायक रात्रि में गुरु नानक की वियोगिनी जीवात्मा अपनी वियोग - वेदना

1:- तेरे कौ लोइण दंत रलाला ।
सोहणे नक जिम लम्हे बाला ।
कंचन काइआ सुहने की ढाला ।
सोवंन ढाला जिसन माला जगतु तुही सोहेली हो ।
जगदुधारि न होतु खहीजा सिव सुआहु मोहेली हो ।
हंस हंसा का बणा लहे मन की जाला ।
कौ लोइण दंत रलाल ।
तेरी चाल सुहावी मधुराड़ी बाणी ।
वुध बुधि कोकिला तरल जुआणी ।
. . . . . .
हीरंग राती चिरे माती उदहु गंगावाणी
बिनवति नानकु दासु हरि का तेरी चाल सुहावी मधुराड़ी बाणी
सबदु गुरु ग्रंथ 2/7-8 आदि ग्रन्थ, पृ० 561

को बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त करती है।[1] प्रियतम के बिना शृंगार करने से शरीर को दुःख पहुँचता है। बिना प्रियतम नींद नहीं आती, एक क्षण व्यतीत करना भी कठिन हो जाता है।[2] जीवात्मा रूपी पत्नि के विदेश को जाने पर उसको संदेश भेजती है। वह उस सज्जन को सदा स्मरण करते हुए आँखों में आँसू भर लाती है। इस क्लेश से बचने का एक मात्र उपाय आत्मसमर्पण है।[3] प्रियतम के दर्शन की प्यास को तृप्त करने के लिये उसके नेत्र तार में लगे हुए हैं, अर्थात् टकटकी लगाए देख रहे हैं और जिव्हा छिल रही है। प्रियतम के बिना शृंगार अधिक संतप्त करता है और वस्त्र आँखों को सुशोभित नहीं करते हैं। प्रियतम के बिना न क्षण भर रहना संभव हो रहा है न नींद ही आती है।[4] प्रतीक्षा करते करते नायिका निराधार[5] हो जाती है। व्याकुल होकर

1:- सावणि सरस मना का वरसहि रुति आए।
मै मनि तनि बहु भावे पिर परदेसि सिधाए।
पिरु घरि नहीं आवै मरीऐ हावै दामनि चमकि डराए।
सेज इकेली खरी दुहेली मरणु भइआ दुख माए।
हरि बिनु नीद भूख बहु केती कापड़ तनि न सुहाए।
नानक सा सोहागणि कैसी पिर के अंकि समावए। आसादीमाला 1, पृ0 1108

2:- मलार, अष्टपदी 3/1 आदि ग्रन्थ, पृ0 1275

3:- सतिगुर सबदी मिलै सुहेली तनु मनु आगे राखे।
नानक अंमृतु बिरखु मलारस फलिआ मिलि प्रीतम रसु चाखे। तुखारी छंतमीठ पृ0 1112

4:- लोचन तार लगता बिललाती दरसन पिआस रजाई।
पिउ बिनु सीगारु करी नेत्रा तनु लागे कापड़ भी न सुहाई।
अपने पिआरे बिनु खसु बिनु हरि न सकउ बिन मिले नींद न पाई।
मलार असटपदी 3/89 पृ0 1274

5:- आसा, पदे 26/3 पृ0

रो पड़ती है और उसे रोता देखकर सहानुभूतिवश सारा वातावरण, यहाँ तक कि वृक्ष के पक्षी तक वैसे- रोने लग जाते हैं किन्तु फिर भी वियोग की अवस्था में परिवर्तन नहीं हो पाता।[1] विरहिणी की इस दीन अवस्था में नींद की शरण में जाना पड़ता है ताकि स्वप्न में ही प्रियतम के दर्शन हो सकें।[2] गुरु नानक का विचार है कि इस वियोग का मूल कारण नायिका में गुणों का अभाव है।[3] मुझ में सब अवगुण ही हैं, गुण कोई भी नहीं है। ऐसी स्थिति में परमात्मा जैसी पति का मिलन भला कैसे प्राप्त हो सकता है? न तो मैं रूपवती हूँ, न मेरे सुन्दर नयन हैं, न कुलीनों जैसा कोई ढंग है और न ही बोलने में मधुरता है। न मुझ में सुमति है, न बुद्धि और न ही आवश्यक चतुरता है। मैं माया के भ्रमों में भटक रही हूँ। जब तक अहंकार नष्ट नहीं होता, तब तक प्रियतम का संयोग प्राप्त नहीं हो सकता।[4] गुरु नानक का कथन है कि परमात्मा की कृपा से ही इस वियोगावस्था से छुटकारा मिल सकता है।[5] यह कृपा गुरु की भी हो सकती है और परमात्मा की भी।[6] इसके अतिरिक्त मिलन के लिये गुरु नानक ने सख्य साधना[7] तथा भय और भाव के शृंगार को भी परमोपेक्षित स्वीकार किया है।[8]

1:- मैं रोवंदी सभु जगु रुना रोंदे आपु पीटि। ... आसा पटी 3/1 पृ0 358

2:- वही आसा पटी 3/1 पृ0 358

3:- गुणवंती सहु रावियो निरगुणि कूके काइ। जे गुणवंती की रावे ता भी सहु जाणै आसा छंत महला 2/1 पृ0 557

4:- सुही, अष्टपदी 1/1 रहाउ, 4-6 पृ0 75

5:- आसा, पटी 27/रहाउ दूजा, पृ0 357

6:- हउमै रोगा अति बुरा कैसे पुगि जाउ॥
गुरपरसादी मेरा सहु मिले ता हरि सेती रंगु जीउ॥ आसा पटी, पटी 19/1 पृ0 354

7:- कोमल सोहा अति बुरा सहजि सबदु वीचारु।
सहजि सुभाइ मेरा सहु मिले दासनि दासि पिआरु। गउड़ी, पटी 19/2 पृ0 151

8:- आसा, पटी 27/2-4, पृ0 357

नाम :-

गुरु वाणी में भक्ति और "नाम" पर्याय के रूप में चित्रित हुए प्रतीत होते हैं। जहाँ गुरु नानक ने भक्ति का प्रेम मूलक स्वरूप प्रतिपादित किया है, वहाँ उन्होंने नाम महिमा को भी अत्यावश्यक माना है। भक्ति के सन्दर्भ में जप अथवा नाम -स्मरण का विशेष महत्व रहा है। वैदिककालीन भारत में भी, किसी न किसी रूप में जप का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। वैदिक ऋचाएँ, गायत्री जप उपांशु जप सभी प्रकार के हैं। स्मृतिकारों ने साधारण तथा तीन प्रकार के जप का उल्लेख किया है। ये तीनों प्रकार हैं :- वाचिक, उपांशु तथा मानस।[1] वाचिक जप : उच्च निम्न तथा स्वरित भेद से जिसमें मंत्रों का स्पष्ट उच्चारण किया जाये वह वाचिक जप यज्ञ है।[2] उपांशु जप वह मंद स्वर में उच्चरित मंत्र है जिसमें केवल ओष्ठ मात्र हिलते हैं। इस जप में शब्द स्पष्ट नहीं होता है।[3] मानस जप वर्ण तथा पदों के भेद से बुद्धि के द्वारा मन्त्र का अर्थ समझते हुए स्मरण किया जाता है।[4] मानस में जिह्वा अचल होनी चाहिये।[5] ये तीनों प्रकार के जप क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गये हैं।[6]

1:- त्रिविधो जप यज्ञः श्यात्तस्यभेदं निबोधत। वाचिकाश्च उपांशुश्च मानसश्चविधिः स्मृतः।
जपस्तु त्रिविधः प्रोक्तः स तूच्चोपांशु मानसः।। दि गोस्पेल आफ जिवाइन लव पृ० 132

2:- वही

3:- वही

4:- वही

5:- वही

6:- वाचाच्च जप यज्ञान्नैवान् श्यादुत्तरोत्तम्।
उच्चादुपांशुश्चत्कृष्टः उपांशोरपि मानसः वही

भौतिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने पर साधित या उच्चस्तरीय जप भौतिक धरातल में प्राणी के गले की अग्नि तंत्री तथा वायु में उत्पन्न लहरें मात्र हैं। इन लहरों के साथ लगा हुआ साधक का मनोभाव ही जप का मुख्य आधार है। हर्ष, शोक एवं भय आदि में मनुष्य नाद, क्रन्दन हर्ष उच्चरित करता है, परन्तु वह जप नहीं कहा जायेगा। किसी भी शब्द के उच्चारण के साथ व्यक्ति में एक मनोभाव उत्पन्न होता है वही उच्चारण के अर्थ में व्यंजक होता है। जहाँ तक स्मरण का सम्बन्ध है, चाहे वह किसी भी वस्तु या भाव का क्यों न हो अपने से पूर्व की कुछ पूर्वगामी भावों के बाद ही होता है। ~~जप~~ नाम्न या स्मरण के साथ भी यही स्थिति है। वह किसी एक विशिष्ट भावना की पुनः पुनः आवृत्ति है।[1] महर्षि पतंजलि ने "तज्जपस्तदर्थ - भावनम्"[2] के द्वारा यही भाव व्यक्त किया गया है। उसका जप ही उसकी भावना है।

बुद्धघोष की साधना के अन्तर्गत मंत्रजप एक स्वीकृत तथा महत्वपूर्ण की माना गया है। महायान सूत्रान्तर्गत पुण्डरीक में तो अविलोकितेश्वर के नाम लेने मात्र से सब कुछ, निर्वाण तक, संभव माना गया है। तिब्बत की साधना परम्परा में नाम - जप अभी तक विद्यमान है। मंत्र-जप की महत्ता तथा उपयोगिता पर सभी योग तंत्र चाहे वे वैष्णव या शैव, शाक्त अथवा बौद्ध हों एक मत से विश्वास करते हैं।[3]

विष्णु पुराण में कहा गया है कि जो सत्वगुण में ध्यानु चेता में यज्ञ, जपर में पूजा के द्वारा प्राप्त होता है वही कलियुग में संकीर्तन से मिल

1:- डॉ० रामनारायण पाण्डेय: भक्ति काव्य में रहस्यवाद : पृ० 222

2:- योग सूत्र 1/28

3:- कल्याण वर्ष 15 अंक 1

कल्याण वर्ष 32 अंक 1

जाता है।[1] ध्यान, यज्ञ, पूजा परमार्थ के लिए सभी उपादेय हैं, यह सर्व स्वीकृत है। पुराणों के नवधा कीर्तन को भी उसी क्रम में स्थान दिया गया है। भागवत पुराण में स्मरण भक्ति के एक भेद के रूप में गृहीत हुआ है।[2] उसी के भेदों में कह चुके हैं कि जप साधित हो सकता है, उपांशु हो सकता है तथा मानस हो सकता है। नवधा भक्ति में कीर्तन साधित जप-यज्ञ के समीप आता है तथा स्मरण मानस जप के समीप।

विष्णु पुराण की ही भाँति भागवत पुराण में भी कलियुग की गुण महिमा खासियत मानी गयी है कि कलियुग में[3] कृष्ण के कीर्तन से ही मनुष्य निःसंग होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जबकि सतयुग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञ से तथा द्वापर में भगवत परिचर्या से वही फल प्राप्त होता है।[4] जो मनुष्य गिरते - पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते, जम्हाई लेते समय विवशता से भी नाम उच्चारण कर लेता है वह सब पापकर्मों से मुक्त हो जाता है।[5] भगवान के किसी एक नाम उच्चारण से सारे कर्मबन्धन छिन्न - भिन्न हो जाते हैं परन्तु कलियुग के प्रभाव से ही लोग उस भगवान् की आराधना से विमुख हो जाते हैं।[6] स्कन्द पुराण तथा पद्मपुराण में कहा गया है कि जिसने एक बार

1:- कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥ भागवत पु० 12.3.52

2:- श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥ 7.5.23

3:- कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥ भागवत पु० 12.3.51

4:- कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥ वही 12.3.52

5:- परीक्षित् सभाजितोऽयं कृष्ण इति वाक्यतः।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥ वही 12.12.46

6:- भागवत पु० 12.3.44

भी "हरि" इन दो अक्षरों का उच्चारण कर लिया वह मोक्ष तक पहुँचने के लिये मानो अधिकृत हो गया।[1] पद्मपुराण के अनुसार यदि मनुष्य ने भी हरि के नाम का अन्यथा ग्रहण कर लिया तो उसे अन्य मन्त्रों के जप की कोई आवश्यकता नहीं है।[2] इसी प्रकार की भावना साधना की प्रवृत्ति को मंत्र-जप से क्रमशः नाम-जप की ओर अग्रसर करने वाली है। अग्निदग्ध से भी लिये हुए हरि नाम से पाप - समूह उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे एक चिंगारी से रूखे घास का ढेर।[3] जिसकी जिह्वा पर हरि इन दो अक्षरों का निवास है उसे त्रिलोकी प्राप्त होती है तथा उसकी मुक्ति हो जाती है।[4] भागवत के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने कहा है — समस्त जगत का तमोरूपी अंधकार भगवान् श्री हरि का नाम सूर्य- सदृश सर्वोपरि विराजमान है। एक बार प्रकट होने पर वह अखिल विश्व की समस्त पाप राशि को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार भगवान् सूर्य अन्धकार के समूह को नष्ट कर देते हैं।[5]

गुरु नानक ने नाम-साधना को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। इन का नाम मंत्र राम और इन से अधिक प्यारा है।[6] यह अंधकार को नाश करने वाला सूर्य है।[7] यह सुख - दाता भी है।[8] इसकी एक कणिका से असंख्य

1:- सकृच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
फलं परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति। स्कन्दपुराण 317/18
पद्मपुराण 81/164

2:- पद्म पुराण 61/8

3:- हरिरित्यपि यावद्भि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अग्निदग्धापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पातकः कल्याण, सर्व सं० । पृ०127

4:- जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षर द्वयम्।
स त्रिलोकीमपीशेति पुनरावृत्ति वर्जितम्।। कल्याण सर्व, 29 पृ० 127

5:- सब तम इस से मानु पिवारा। अति सवाई जगतारा। गुरु, सोलहे 22/4 पृ० 1043

6:- गुरु, असटपदी 1/दखाड पृ० 109

पाप कर जाते हैं।[1] पापों से भी मुक्ति नाम के द्वारा ही खोई जा सकती है।[2] परमात्मा को प्रसन्न करने का यह एक मात्र साधन है, क्योंकि गुरु नानक के अनुसार परमात्मा वेदों के रागों और स्वरों से प्रसन्न नहीं होता, न ही सुरति, ज्ञान और योग से, नहीं भिन्न भिन्न भोग करने से अथवा रूप, माल, धन और आनन्द क्रीड़ा से। तीर्थों में स्नान करने से अथवा पुण्यदान करने से भी वह प्रसन्न नहीं होता। परमात्मा न शून्य - समाधि से और न ही भूमि में शरीरतीरता खिलाने से प्रसन्न होता है। वह केवल सच्चे नाम के स्मरण के द्वारा ही तुष्ट होता है।[3]

वास्तव में परमात्मा के नाम की प्राप्ति पर ही सबकी उपलब्धि होती है। इससे श्रेष्ठ अन्य कोई कर्म नहीं है।[4] क्योंकि यदि शरीर को एक रत्ती के वजन जितना काट - काट कर होम किया जाये, प्रतिदिन अग्नि प्रज्ज्वलित कर तन और मन को समिधा बनाया जाए, सिर पर आरा रखकर शरीर को आधा - आधा कटवा दिया जाये, शरीर को हिमालय में गलवा दिया जाये, परन्तु फिर भी यह भली भांति देखा जा सकता है कि इस प्रकार के लाखों कर्म हरि नाम की तुलना में नहीं रखे जा सकते।[5] नाम के द्वारा ही संसार - सागर से तरा जा सकता है। यही मनुष्य का प्रतिष्ठा रूपी आभूषण है।

1:- मलार की वार, पउड़ी 11 पृ0 1288

2:- जपु, पउड़ी 20 आदि ग्रन्थ, पृ0 4

3:- न भीजे रागी नादी वेदि। न भीजे सुरती गिआनी जोगि।
न भीजे सोगी कीते रोजि। न भीजे रुखी माली रोगि।
न भीजे तीरथ भविऐ नाइ। न भीजे दाता कीते पुंनि।
न भीजे बाहरि बैठिआ सुंनि। न भीजे भेखि भवनि भिखिआ सूर।
न भीजे कीते हो वधि छूर। लेखा लिखिऐ मन के भाइ।
नानक भीजे साचे नाइ। सारंग, श्लोक। वही पृ0 1288

4:- रामकली, अष्टपदी 1/8 वही पृ0 903

5:- सिरी, अष्टपदी 14/2-3 वही पृ0 72

और उसी के जरिए ही ज्ञान का लक्ष्य पूरा होता है।[1] परमात्मा का नाम मनुष्य के लिये दीपक के समान है, जिसमें दुःख रूपी तेल जलता है। यह दीपक अपने प्रकाश से दुःखों के तेल को खुद देता है। फलस्वरूप यमराज से मेल होने की संभावना खत्म हो जाती है।[2]

गुरु नानक ने नाम की महत्ता को अधिक कर पाना असंभव माना है, क्योंकि परमात्मा के नाम की सिर्फ महत्ता का वर्णन करते करते लोग थक गए, परन्तु उसकी कीमत का अनुमान नहीं लगा सके।[3] गुरु नानक का कथन है कि यदि मेरी आयु करोड़ों वर्ष की हो जाये, साथ अच्छा पेय पदार्थ आयु हो जाए, ऐसी अवस्था में बैठ जाऊं जहां चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश प्रवेश न हो सके और वहां निरन्तर जागता रहूं, फिर भी मैं परमात्मा के नाम की कीमत का अनुमान लगाने में समर्थ नहीं हो सकता।[4] यही नहीं, यदि लाखों मन कागज हों और नाम के गुण सम्बन्धी भावनाओं को उस पर अंकित किया जाना हो और जितने समय स्याही में किसी प्रकार की कोई कमी न होने पाए और लेखनी आयु की गति से चले, तो भी नाम की महत्ता का चित्रण नहीं किया जा सकता वस्तुतः यह जानना कठिन है कि नाम का मूल्य कितना है।[5]

परमात्मा का नाम वास्तव में मनोवैज्ञानिकता के अलावा से और हर व्यक्ति के लिए लाठी के समान है।[6] यही सच्चिदानन्द - स्थिर, सदाचरण और तीर्थ - स्नान है।[7] माया के रोगी संसार के लिए यह औषधि

1:- परभाती पदे 1/1 आदि ग्रन्थ, पृ0 1327
2:- आसा, पदे 32/1 , पृ0 358
3:- आसा, पदे 2/2 आदि ग्रन्थ, पृ0 348
4:- जिरी, पदे 2/1 आदि ग्रन्थ, पृ0 15
5:- जिरी, पदे 2/4 आदि ग्रन्थ, पृ0 15
6:- सूही, अष्टपदी 9/रहाउ , पृ0 791
7:- आसादी, छंत 1/1 , पृ0 607

है।[1] यह अमोलक हीरा, जवाहर अथवा लाल है।[2] यह एक अमर पदार्थ है,[3] जिसका विनाश नहीं होता। यह एक ऐसा धन है जो न जल सकता है, न जलाये और ले जा सकते हैं, न यह लुट सकता है और न ही दीजित की किया जा सकता है। यह धन जिसके पास होता है, वह सत्संगत्व में लीन होकर अपना प्रतिष्ठित व्यतीत करता है। इस धन के बिना कोई परमगति को प्राप्त नहीं कर पाता।[4] इसी के द्वारा संसारिकता में बँधा हुआ व्यक्ति मुक्त हो सकता है।[5] वास्तव में नाम अत्यधिक मीठा रस है जिसकी प्राप्ति से तृष्णा का निवारण हो जाता है।[6] लोभ की लहरें दूर हो जाती हैं।[7]

इस प्रकार गुरु नानक परमात्मा के नाम का अत्यधिक महत्व स्वीकार करते हुए, सदैव हरि नाम की याचना करते हैं।[8] क्योंकि परमात्मा का नाम संसार में से पार उतार सकता है, यही साधक की आशा का आधार है।[9] सच्चा नाम ही उसकी जाति और प्रतिष्ठा है।[10] यही ज्ञान और दीवान है, यही आदर और सुलतान है। नाम के द्वारा नाम महत्ता और प्रामाणिकता की प्राप्ति होती है। नाम के द्वारा सत्संगत्व मिल पाती है, नाम के द्वारा ही परमात्मा की स्तुति करने की शक्ति मिलती है। नाम अमृत के समान है, जिसे हर प्रकार के सुख मन में आ जाते हैं।[11] ऐसे नाम को जपने

1:- परभाती, पदे 2/रहाउ ते 1/1 पृ0 1328
2:- आसा, अष्टपदी 5/8 वही, पृ0 416
3:- माझ, अष्टपदी 5/7 वही, पृ0 1112
4:- माझ, पदे 8/2-4 वही, पृ0 99।
5:- आसा, अष्टपदी 3/2 पृ0 वही पदे 3/6 पृ0 415
6:- धनासरी ते 2/9 वही पृ0 688
7:- गूजरी अष्टपदी 5/8 पृ0 505
8:- धनासरी, ते 1/1 पृ0 687
9:- सिरी, पदे 29/1 पृ0 29
10:- सिरी॰ पदे 22/1 पृ0 आसा, पदे 14/4 पृ0 351
11:- परभाती, पदे 1/2,3 पृ0 1328

से ही व्यक्ति जीवित माना जा सकता है, नाम को भुलाना मृत्यु के समान है। जिसे उसके नाम की भूख लगती है, यदि उसकी तृप्ति हो जाए, तो सभी दुःखों का विनाश हो जाता है।[1] वस्तुतः जिज्ञासु में राम-नाम ही श्रेष्ठ वस्तु है।[2] उसके बिना मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। नाम के बिना जीव को न तृप्ति मिलती है और न ही शान्ति।[3] नाम के बिना जीव को सुख की प्राप्ति भी नहीं होती, सचेत दुःखों में निवास मिलता है।[4] और काल भी सदा पीड़ित करता रहता है।[5] नाम के बिना भ्रम नष्ट नहीं होता, नाम और ध्यान की प्राप्ति नहीं होती,[6] क्योंकि सांसारिक भोग में सिद्धि नहीं मिलती।[7] नाम के बिना प्राणी मुक्ति से वंचित रहता है।[8] व्यर्थ में उसका संसार में आना - जाना बना रहता है,[9] क्योंकि खोटे व्यक्ति को कहीं ठिकाना नहीं मिलता। वह सभी प्रामाणिक समझा जाता है, यदि उसके पास नाम रूपी रत्न हो।[10] नाम के बिना अन्य में प्राणी कुछ भी प्राप्त नहीं करता,[11] नाम के बिना अन्य कोई वस्तु भी साथ नहीं जाती, सोना, चाँदी आदि सभी पदार्थ मिट्टी में मिल जाते हैं।[12] सच तो यह है कि नाम के बिना व्यक्ति निर्धन है।[13]

1:- आसा, पदे 2/1 पृ0 348
2:- माझ की वार, श्लोक पर वही पृ. 149
3:- गउड़ी, अष्टपदी 3/7 वही पृ0 222
4:- रामकली, सिद्ध गोसटि 50 पृ0 943
5:- सोरठ, अष्टपदी 2/3 पृ0 635
6:- रामकली, अष्टपदी 6/3 पृ0 905
7:- रामकली, सिद्धगोसटि 68 पृ0 944
8:- रामकली, सिद्ध गोसटि 72 पृ0 945
9:- माझ, पदे 10/3 पृ0 991
10:- सूही, छंत 3/4 पृ0 765
11:- आसा, अष्टपदी 6/6 पृ0 415
12:- माझ अष्टपदी 5/8 पृ0 1014
13:- सारंग, अष्टपदी 1/4 पृ0 635

गुरु नानक देव ने नाम की प्राप्ति के लिये सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण साधन गुरु को बताया है[1] क्योंकि उसके बिना नाम की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।[2] जब सद्गुरु की इच्छा के अनुसार नाम मन में बस जाता है तो रात दिन लिव लगा जाती है।[3] वास्तव में सद्गुरु के मिलने का प्रमाण ही यही है कि साधक का मन नाम - साधना में लीन हो जाये।[4] इसके अतिरिक्त, भय और प्रेम के द्वारा भी नाम हृदय में बसाया जा सकता है।[5] नाम के लिये परमात्मा की कृपा - दृष्टि की भी बड़ी आवश्यकता है क्यों कि उसके बिना नाम में मन लीन नहीं होता।[6]

गुरु नानक देव का कथन है कि जो नाम जपते हैं, वे सदैव सुशोभित होते हैं, उनको लोक्य, पार लोक्य सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है। वे सांसारिक बाज़ी को जीत लेते हैं। यदि परमात्मा को अच्छा लगे तो चाहे कितने युग व्यतीत हो जायें परन्तु उनके फलों की प्राप्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ती। जो परमात्मा के नाम का स्मरण करते हैं, उनको न तो दुःखालय क्लेश करती है, न मृत्यु का भय प्राप्त होता है और न ही वे नर्क में पड़ते हैं। न वे दुःखों से दुखी हैं और न ही उनको किसी प्रकार की कोई पीड़ा सहन करनी पड़ती है।[7] "सिद्ध गोसटि" में गुरु नानक ने बताया है कि नाम में अनुरक्त होने से अहंकार नष्ट हो जाता है, साधक सत्यस्वरूप परमात्मा में समा जाता है, योग की पुष्टि का विचार दूर हो जाता है, मोक्ष का द्वार

1:- सतिगुर मे नावु पाईऐ अवरु जोग जुगति ना सोई। रामकली, सिधगोसटि2 पृ0 944

2:- सोरठ, अष्टपदी 2/3 पृ0 635

3:- गुरकारे नाउ पाईऐ बिनु सतिगुर पले न पाइ।
सतिगुर के भाणे नाम सबे लगि अहिनिसि रहे लिव लाइ। मारू, अष्टपदी 11/3 पृ0 1016

4:- सिरी, जोगी अंदरि जोगीआ 1/13 पृ0 91

5:- मलार, अष्टपदी 4/6 पृ0 1274

6:- सिरी, पदे 4/4 पृ0 16

7:- आसा छंत 4/4 पृ0 439

प्राप्त हो जाता है, तीन भुवनों का ज्ञान होता है, शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है,[1] परमात्मा से पूर्ण प्रेम होता है, सर्वत्र स्थायी सत्य की आस्था बनी रहती है। वस्तुतः नाम में लीन होना ही सत्य करनी का सारतत्व है और नाम में अनुरक्त होने वालों का सर्वत्र जय जयकार होता है।[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गुरु नानक से पूर्व भारत की अधिकांश धार्मिक एवं दार्शनिक परम्पराओं में शब्द साधना का विशेष महत्व रहा है और मध्ययुग के सन्तों और भक्तों ने इसे नाम - साधना के रूप में ग्रहण किया है। परन्तु गुरु नानक की वाणी में अन्य साधकों की अपेक्षा नाम - स्मरण पर अधिक बल दिया गया है। उन्होंने कहीं भी नाम की सैद्धान्तिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति युक्ति के आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि नाम सर्वव्यापक शक्ति का सूचक है, और परमतत्व की सम्पूर्ण सम्पन्नताओं का घनीभूत रूप है। यह नामी का प्रतीक है और इन दोनों में परस्पर कोई अन्तर नहीं है। नाम और गुरु - शब्द में भी कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों एक सत्ता के ही भिन्न भिन्न अभिधान हैं। प्राणी के लिये नाम की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना अन्य सभी कार्य-व्यापार व्यर्थ है। इसका महत्व वर्णनातीत है। यह वस्तुतः सांसारिकता के अन्धकार में भ्रांत अज्ञानी पुरुष को सन्मार्ग पर डालने वाली बाती है। नाम का जप बहुत आवश्यक है और सभी जपों में सिद्ध सिद्ध जप श्रेष्ठ और अधिक कल्याणकारी है। गुरु का सत्संग और परमात्मा की कृपा नाम प्राप्ति के प्रमुख साधन हैं और इसके कई लौकिक और पारलौकिक फल भी हैं।

1:- रामकली, सिद्ध गोसटि 32 पृ0 941

2:- नामि रते सिध गोसटि होइ। नामि रते सदातनु होइ।
नामि रते सभु करणी सारु। नामि रते गुण गिआन बीचारु।
बिनु नावै बोले सभु बेकारु। नानक नामि रते सिध एकु बेकारु॥
सिद्ध गोसटि 33 पृ0 941

पंचम अध्याय :-

गुरु नानक - काव्य : भौतिक मूल्य

पंचम अध्याय :-

मुक्त मानव आदर्श : नैतिक मूल्य :-

विश्व के केवल सम्बन्ध जीवों में केवल मनुष्य के पास ही नैतिकता का बोध तथा अनुभव है। हक्सले का यह कथन बिल्कुल सही है कि शुद्ध नैतिकता का उदय विकास यात्रा में मानव रूपी प्राणी तक पहुँचने में ही हुआ है।[1] क्योंकि इस विकास मार्ग पर चलते हुए उसे एक गुणात्मक कूद द्वारा विवेक बुद्धि प्राप्त हो गयी थी जो कि प्रत्येक प्रकार के नैतिक मूल्यांकन का आधार है। बिट्टल भी इसी बात का समर्थन करता हुआ उल्लेख करता है कि मनुष्य एक नैतिक प्राणी है क्योंकि वह विवेकशील है।[2] नैतिकता तथा विवेकशीलता के परस्पर गहन सम्बन्ध का अभिप्राय यह है कि मानव - प्रकृति को समझे बिना नैतिकता के वास्तविक स्वरूप को निश्चित नहीं किया जा सकता।

1:- It is only when we pass on from the sub-human world to deal with the evolution of man that ethics must in its own right, enter into picture.
Waddington, C.H. The Ethical Animal P.107

2:- Bittle. C.N. Man and his Morals, P.S.

मनुष्य क्या है ? उसकी सार्त्रिक प्रकृति क्या है ? हमारे मनीषियों को अनेक बार इस प्रश्न से रूबरू होना पड़ा है। आत्म-चेतना प्राप्त करने के पश्चात सम्भवतः मनुष्य के सम्मुख सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यही था कि मैं कौन हूं और क्या हूं ? तथा सम्भवतः यही प्रश्न है जिसका निर्विवाद उत्तर आज तक प्राप्त नहीं हो सका। प्रत्येक युग में मनुष्य तथा मनुष्य की प्रकृति के सम्बन्ध में नये सिद्धान्त सामने आते रहे हैं जिनमें ज्ञान-विज्ञान के आधार पर मानव की स्व रेखा का चित्रण करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। परन्तु मनुष्य निश्चय एक गतिशील प्राणी है जिसके एक छोर को भविष्य के आलोक में देखा जा सकता है। उसकी तुलना एक सम्पूर्ण वृत्त से नहीं अपितु एक निरन्तर बढ़ रहे वृत्त से की जा सकती है जो अपने आदि बिन्दु के चारों ओर घूमता हुआ भी उससे दूर होता जा रहा है। स्वभावतया इस स्थिति में मनुष्य की किसी स्थिर प्रकृति को खोज पाना निरर्थक है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए ओ० स्पार्ड गे सेट तो यहां तक कहते हैं कि " मनुष्य की कोई प्रकृति नहीं है उसका केवल इतिहास है।[1] निस्सन्देह यह एक अति अत्युक्तिपूर्ण धारणा है परन्तु उसके किन्हीं सीमित नियमों के अन्तर्गत मानव - प्रकृति को समझने के प्रति चेतावनी प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में इस दृष्टिकोण से मानव प्रकृति की निरन्तर गतिशीलता स्वयं सिद्ध है।

मनुष्य में कुछ ऐसे सार्वभौमिक तत्व हैं जो उसकी जिज्ञासा प्रकृति को सीमित करते हैं। व्यापी तथा सीमित मानवीय प्रकृति के उपलब्ध न होने से यह कदापि नहीं समझा जा सकता कि मनुष्य की कोई प्रकृति ही नहीं है। भले ही गार्डनर मरफी के इस उद्धरण को स्वीकार किया जा सकता है कि मानवीय प्रकृति

1:- "Man has no nature, what he has is.... history."

Gassel. O.Y. quoted by Ernst Cassirer in An essay on Man P. 172

का अधिकांश भाग प्रत्येक युग में अनुत्तरित ही रहता है[1] क्योंकि समय के किसी एक आयाम में जब भी कभी कोई ज्ञानान्वेषी मानवीय प्रकृति के विषय में कोई निर्णायक बात कहने की स्थिति में होता है, अन्य वैज्ञानिकों की दीक्षित करने लगती है तथा निष्कर्ष यह संकेत करता रहता है। परन्तु गहन दृष्टि से देखने पर जो निष्कर्ष संदिग्धावस्था में भी एक सामान्य मानवीय प्रकृति को संकेत किया जा सकता है जिसका स्थायित्व सीमित आयामों में पहचाना जा सकता है।

मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह भौतिक जगत के अन्य अनेक पदार्थों की भाँति एक पदार्थ नहीं जिसे वैज्ञानिक विधियों से विश्लेषित किया जा सके।[2] मनुष्य एक व्यक्ति है, ज्ञाता है, दृष्टाहै, कर्ता है। निस्सन्देह उसकी देह अन्य अनेक प्राणियों के जीवात्मक सीमा में मिलती जुलती है तथा वह अपने अस्तित्व के लिये भौतिक तथा रासायनिक तत्वों पर निर्भर रहता है परन्तु इतने पर भी मनुष्य को इस सीमा तक नहीं रखा जा सकता।[3] उसका अस्तित्व शुद्ध चैतन्य सार का है जिसे केवल मात्र भौतिक तत्वों के रूप में नहीं देखा जा सकता।[4] तथ्य कहने की बात है कि मानवीय चेतना सामाजिक वातावरण में उत्पन्न होती है तथा उसी में चेतना का विकास होता है। उसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य की सामाजिक चेतना को ऐतिहासिक निरन्तरता में समझने के लिए मानवीय प्रकृति का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

---

1 Murphy, Gardner, Human potentialities. P. 14.

2 "We cannot discover the nature of man in the same way that we can detect the nature of physical things" Cassirer, E, An essay on Man P.S.

3 Berdyaev, N. The Destiny of Man, P. 54-58.

4 Cassirer, E. op. cit. P.S.

अरस्तू ने मनुष्य को एक "सामाजिक पशु" की संज्ञा से अभिहित किया है। परन्तु गहनता से देखने पर पशु-जगत में भी सामाजिकता के तत्व प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् सामाजिकता मनुष्य की विशिष्टता नहीं मानी जा सकती। कुछ स्थलों पर तो पशुओं में इस प्रकार की सम्पूर्ण सामाजिकता दिखायी दी जाती है जिसका मानवीय सामुदायिक जीवन में सर्वथा अभाव होता है।[1] उदाहरण स्वरूप मधुमक्खियों के सामुदायिक जीवन में सामाजिक अपराध की कभी कोई समस्या ही पैदा नहीं हो सकती क्योंकि पशुओं की सामुदायिकता का आधार उनकी सहज प्रवृत्तियाँ होती हैं जो स्वभावतः क्रियाशील रहती हैं। पशु में उत्तेजना - आलोडना उत्पन्न की शक्ति तो अवश्य होती है लेकिन उसकी उसे समझ नहीं होती। मनुष्य मात्र जैविकीय अर्थात् सहज प्रवृत्तियों पर ही आधारित नहीं रहता बल्कि वह बौद्धिक - विवेक से भी प्रभावित होता है।

वस्तुतः मानवीय बुद्धि का विकास उसकी प्रतीक - सृजन क्षमता के परिणाम स्वरूप हुआ है। अर्नस्ट कैसिरर ने मनुष्य को "प्रतीक" सृजनशील प्राणी की संज्ञा से अभिहित किया है।[2] इस सन्दर्भ में उनकी परिभाषा विशेषतः मौलिक है। कैसिरर का कथन है कि प्रतीक की उपलब्धि मनुष्य के विशिष्ट अस्तित्व से अन्तर्ग्रथित है। विश्व में केवल मनुष्य ने ही प्रतीक - व्यवहार के माध्यम से अमूर्त चिन्तन की क्षमता अर्जित की है।[3]

प्रतीक - सृजन - प्रक्रिया के माध्यम से ही मनुष्य ने समूचे सांस्कृतिक स्वरूप को प्राप्त किया है।[4] क्योंकि इसी के आधार पर वह अपनी जीवात्मक

---

1 In various ways the social insects are man's social superiors for that there are no rebels or nonconformists. Green, A. W. Sociology. P. 30

2 Cassirer, E. op. cit. P. 26

4 Cassirer, E. op. cit. P. 35

प्रकृति का स्थानान्तरण करते हुए परम - स्तर से ऊँचा उठने की सामर्थ्य प्राप्त करने में सक्षम हो पाता है । इसी उपलब्धि के कारण वह सहज - प्रवृत्तियों की शक्ति को ज्ञान के माध्यम से सही दिशा निर्देश प्रदान करता है । भाषा, कला, धर्म, नियम तथा विज्ञान आदि के सांस्कृतिक रूपों के जरिए मनुष्य ने अपने आन्तरिक तथा बाह्य यथार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । बाह्य यथार्थ तथा आन्तरिक कुण्ठा की चिकित्सा तथा बन्धनों से स्वतन्त्र होने के लिये मनुष्य आदि से संघर्षरत रहा है । संस्कृति,अपने समूचे रूप में इसी आत्म - स्वतन्त्रता | आत्म - मुक्ति | की प्रक्रिया में ही समझी जा सकती है । गार्डनर मर्फी ने संस्कृति को मनुष्य की द्वितीय प्रकृति कहा है जो उसकी प्रथम प्रकृति अर्थात् जीवात्मक प्रकृति का प्रतीकात्मक स्थानान्तरण है ।[1] वस्तुतः मानव - विकास को सांस्कृतिक विकास भी कहा जा सकता है ।[2]

संस्कृति विभिन्न प्रतीकों द्वारा प्राप्त आत्म-मुक्ति एक आदर्श सृष्टि का निर्माण करती है । इस आदर्श जगत में रहने के कारण ही मनुष्य एक आध्यात्मिक तथा नैतिक प्राणी है, मात्र जैव परम नहीं ।[3] सांस्कृतिक जगत में विचरण करते हुए मनुष्य ने प्रतीक - प्रणालियों की अनेक संभावनाओं को आत्मज्ञान के लिये प्रयुक्त करने का प्रयास किया है । यही कारण है कि मानवीय चेतना काल, स्थान की सीमाओं से परे ब्रह्माण्डीय चेतना बनने की ओर अग्रसर है । परन्तु यह संभावना पूर्ण संस्कृति का एक छोटा पक्ष भी है । यह अपनी उपलब्धियों की सहजता से मानवीय क्षमताओं को विकृत भी करती है ।

---

1 The first human nature which consisted essentially of the enlarged human nature, underwent very profound metamorphosis. . . so profound that we may speak of the genesis of second human nature. This is a human nature organised around symbols and values"...
Murphy, Gardner, Human Potentialities P. 49-50

2 Waddington C. H. The Ethical Animal P. 102

3 Tharpe, W. H. Biology and the Nature of Man P.P. 88-89

विज्ञान, धर्म, कला आदि अनेक प्रतीकात्मक रूप प्राप्त यथार्थतः तथा मनुष्य के मध्य एक आवरण का रूप धारण कर लेते हैं। इस स्थिति में मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति तिरोहित रूप धारण कर लेती है। वस्तुतः मनुष्य की ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरे की पूरक हैं तथा अन्योन्याश्रित हैं। नैसर्गिक प्रवृत्ति मूलाधार है, उसके बिना सांस्कृतिक प्रवृत्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सांस्कृतिक प्रवृत्ति मनुष्य की विशिष्टता है, उसके बिना मनुष्य पशु है।

इस अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भले ही मनुष्य सांस्कृतिक "स्तर" पर विचरण करता है परन्तु उसके मौलिक अस्तित्व का आधार अन्ततोगत्वा उसकी नैसर्गिक मूलभूत प्रवृत्ति है। निस्सन्देह मनुष्य अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों से निरपेक्ष रूप में स्वतन्त्र होने की कल्पना भी नहीं कर सकता परन्तु वह अपनी इन प्रवृत्तियों[1] को उर्ध्वगामी परिष्कृत रूप से अपना सकता है, एक प्रकार की सापेक्ष स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। मैत्रिकता की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ उसके व्यक्तित्व का ठोस आधार हैं। इन्हें केवल विकार मात्र कहकर उनका दमन नहीं किया जा सकता मनुष्य की जीवन के सन्तुलित विकास तथा उद्देश्य के लिये इन्हें आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। मैत्रिकता इस मौलिक तथ्य से आँखें नहीं मूँद सकती।

इसके विपरीत सांस्कृतिक प्रवृत्ति की भी कुछ अपेक्षाएँ हैं। मानव - विकास - यात्रा में इस तथ्य की ओर दृष्टिपात करना भी उतना ही आवश्यक है जितना मनुष्य के नैसर्गिक भाव - विचारों की ओर। संस्कृति से अर्जित मानवीय व्यक्तित्व, सामान्य मानवीय प्रवृत्ति का व्यक्तिगत रूप लेता है। इस विशिष्ट आत्म चेतना में उसको अस्तित्व का प्रकार सार्वभौमिक होता है, जिसमें व्यक्तित्व ऊर्ध्वगामी होता है। गुरु नानक के काव्य में मैत्रिकता का अध्ययन -विवेचन

1 "Man's evolutionary destiny is transcendence surpassing himself through a reverential identification with the Unbound Cosmos totality . . . - - !"
Mukerjee . R. The Dimensions of Human Evolution P.11

करते समय इसे निश्चित रूप से मनुष्य के इस तन्त्र को अपने सम्मुख रखने की आवश्यकता है। परन्तु इससे पूर्व मैत्रिकता शब्द के अर्थ को समझ लेना समीचीन होगा।

मैत्रिकता संस्कृति के शब्द "मीति" का विकसित रूप है जो "मी" धातु से व्युत्पन्न है। "मी" धातु के अर्थ हैं - से जाना या मैत्रीपूर्ण व्यवहार।[1] अर्थात् जो मनुष्य का निर्देशन करे या उसे आदर्श प्राप्ति की ओर अग्रसर करे, उसे मैत्रिकता कहा जा सकता है। परन्तु यह एक अत्यन्त व्यापक परिभाषा है। इससे केवल एक धुंधली सी मैत्रिकता शब्द की अर्थ आभास प्राप्त हो जाती है लेकिन मैत्रिकता के स्वरूप को स्पष्ट धारणा नहीं बन पाती। धर्म, अर्थ, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि अनेक विषय हैं जो मनुष्य का विविध निर्देशन करते हैं। इनसे मैत्रिकता में अन्तर्निहित विविध निर्देशन में क्या विशिष्टता है?

प्रायः मैत्रिकता के लिये सदाचार शब्द का भी प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ है शुभ आधार।[2] यह शब्द मानवीय व्यवहार के मूल्यांकन की ओर संकेत करता है जो मैत्रिकता का एक अति मुख्य कार्य है। परन्तु केवल शुभ तक सीमित होने के कारण यह एक पक्षीय अर्थ प्रदान करता है। "मैत्रिकता" शुभ - अशुभ के भाव से युक्त होने के कारण अधिक उपयुक्त शब्द है तथा इसमें शुद्ध दार्शनिक स्वरूप ग्रहण करने की पूर्ण क्षमता है।

मैत्रिकता का दार्शनिक अध्ययन - विश्लेषण परिधि चिन्तन की देन है। कारण यह है कि भारतीय दर्शन में मैत्रिकता धर्म का अभिन्न अंग है। मैत्रिकता का धर्म निरपेक्ष विश्लेषण यहाँ कभी नहीं किया जाता रहा। अतः लिये मैत्रिकता का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये परिधि चिन्तन परम्परा की

---

1 V. S. Apte's Sanskrit-English Dichionary Part II P. 933

2 महान कोश, पृ. 114

सहायता लेना आवश्यक होता है। नैतिकता अंग्रेजी के शब्द Morality का अनुवाद है। वेबस्टर डिक्शनरी में Morality को "मानवीय आचार से सम्बन्धित सिद्धान्तमय विचारों का प्रबन्ध" बताया गया है।[1] अर्थात् नैतिकता आचार सम्बन्धी विचारों तथा मूल्यों के किसी तार्किक संगठन की ओर संकेत करती है। इस प्रकार इसके दो प्रमुख तत्व दृष्टिगत होते हैं - मानवीय आचार तथा उसका मूल्यांकन।

नैतिकता का विस्तार सहित अध्ययन नीतिशास्त्र में किया जाता है। लिलियन विलि के अनुसार नीति शास्त्र समाज में निवास करने वाले मनुष्यों के आचार का मानवीय अध्ययन है।[2] उसने इसे मानवीय विज्ञान कहा है। विज्ञान के साथ मानवीय शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण है क्योंकि यह इसे निरपेक्षात्मक विज्ञानों से भिन्न करता है तथा इस प्रकार इसके विशिष्ट स्वरूप को स्थापित करता है। निरपेक्षात्मक विज्ञानों में वस्तु - जगत का तथ्यात्मक अध्ययन किया जाता है जब कि मानवीय विज्ञानों में जीवन तथा जगत की मूल्यगत व्याख्या की जाती है।

नीतिशास्त्र का मुख्य विषय मानवीय आचार है।[3] आचार शब्द का प्रयोग यहां वैच्छिक व्यवहार के अर्थों में किया गया है। प्रत्येक व्यवहार आचार के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया जा सकता। मनुष्य की अनेक सहज - क्रियाएं ऐसी भी होती हैं जो स्वयमेव घटित हो जाती हैं जैसे जंभाई लेना या छींकना आदि। इन क्रियाओं को नैतिक व्यवहार में नहीं रखा जा

---

1 Webster's Third new International Dictionary P.1469

2 "we may define ethics as the narrative study of the conduct of human beings living in the society ..."
Lillie William, An introduction to Ethics P.P.1-2

3 Conduct is a collective name for voluntary action'
वही पृ. 273

सकता । जिस व्यक्ति के पास किसी कार्य को करने के लिये स्वतन्त्रता नहीं है उसे उस कार्य के लिये जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता । दूसरे शब्दों में स्वतन्त्रता नैतिक-उत्तरदायित्व की अनिवार्य पूर्वापेक्षा है ।

नैतिकता में दो केन्द्रीय तत्व होते हैं - एक शुभ तथा दूसरा उचित । मानवीय जीवन का परम शुभ क्या है तथा मानव का किस प्रकार का व्यवहार उचित है ? ये दो प्रमुख प्रश्न हैं जिनका उत्तर खोज पाने के प्रयास में ही नैतिक चिन्तन का जन्म होता है । मनुष्य के परम शुभ तथा सर्वोच्च कल्याण का स्वरूप उसकी प्रकृति के साथ जुड़ा हुआ है जिस के कारण विभिन्न नीतिज्ञों ने अपने अपने विशेष - दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य की प्रकृति सम्बन्धी अपनी धारणाएं प्रस्तुत की हैं जिनमें आश्चर्य जनक विभिन्नता दिखायी देती है । यही कारण है कि विभिन्न सिद्धान्तों में शुभ का स्वरूप विभिन्न रूपों में निर्धारित किया गया है । उदाहरण तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण तथा आध्यात्मिक वादी दृष्टिकोण के नैतिकता सम्बन्धी विचारों में विभिन्नता स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर है ।

नैतिकता में परम - शुभ का सिद्धान्त सर्वोच्च मानवीय आदर्श की ओर संकेत करता है जिसकी उपलब्धि अपने आप में एक अन्तर्निहित मूल्य रखती है । इसी प्रकार उचित का सिद्धान्त भी नैतिकता की मूल प्रकृति का अभिन्न अंग है । यह मनुष्य के कर्म व्यावहारिक सम्बन्धों तथा कार्यों के उचित - अनुचित , योग्य, अयोग्य होने को संकेतित करता है । इस उद्देश्य के लिये यह किसी मानदंड का आधार ग्रहण करता है । यहाँ भी नैतिक सिद्धान्तों

---

1 When we regard a man as morally responsible for an act, we regard him as a legitimate object of moral praise or blame in respect of it. Evidently free will in some sense therefore is a precondition of moral responsibility".

Campbell, C.A. P. 273

में विभिन्नता स्पष्ट दिखायी देती है। ईश्वर के अस्तित्व में आस्था रखने वालों के मत क्षेत्रों में उचित का निर्णय ईश्वरीय - इच्छा के आधार पर किया जाता है जब कि उसके विरोधी मानवीय शक्तियों की वृद्धि अथवा विकास में ही उचितता के मानदंडों का निर्णय किया जायेगा। "शुभ" तथा "उचित" दोनों परस्पर भिन्न होते हुए भी पूरक हैं। मनुष्य का परम शुभ ही अनेक बार उसके समस्त व्यवहारों की उचितता का मानदंड बन जाया करता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिकता आदि मानव के पूर्व - इतिहास से ही समाज में सम्बद्ध है।[1] नैतिक नियमों को सामाजिक शून्य में लागू नहीं किया जा सकता। एक उजाड़ तथा वीरान स्थान पर रहने वाले अकेले व्यक्ति के लिये नैतिक समस्या का प्रश्न ही नहीं उठता। मेकाइवर के शब्दों में "नैतिकता व्यक्तिगत समाज के सम्पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखती है।"[2] फ्रेंकेना नैतिकता को सामाजिक कार्य मानता है तथा उसका विचार है कि नैतिकता व्यक्ति तथा समाज के परस्पर सम्बन्धों को नियन्त्रित करने का एक साधन है।[3] मानव - समाज केवल व्यक्तियों का समूह ही नहीं है। इसमें व्यक्ति अपनी जन्म-जात सहज प्रेरणा से ही कार्य नहीं करता अपितु मानव - समाज का स्व - संचित सांस्कृतिक तत्वों से भी निर्मित होता है। इन सांस्कृतिक तत्वों में मनुष्य के अनेक विधि - विधान, ज्ञान तथा क्रियात्मक प्रणालियां सम्मिलित होता हैं।[4] यह मनुष्य की निजी - विशिष्टता के कारण परन्तु समाज से

---

1 An adequate ethics is concerned with total human personality in the context of a well functioning society".
Ethics and the human Community P. VI Rader M.

2 वही

3 Frankena Ethics, P. 10

4 "Only human Society is maintained by Cultural socially transmitted system of Knowledge, practice belief and artifacts"
Green, A. W. Sociology P. 68

गुणात्मक भेद रखता है। मनुष्य अपनी विशिष्टशीलता द्वारा समाज के भीतर अपने विशेष सम्बन्धों को अक्षत करता है, परिणामस्वरूप व्यक्ति तथा समाज - ये दो पक्ष मानव-समाज में स्पष्ट विशेषता लेते आते हैं। समाज में अन्तर्निहित इन दो पक्षों का सामंजस्य, एक सुदृढ़, संघर्ष एक गतिशील सन्तुलन में कार्य करते हैं। व्यक्ति तथा समाज के इस अन्तर्सम्बन्ध को ध्यान में रखना नैतिकता के लिये अनिवार्य होता है। मानवीय मूल्यों की वास्तविक शिक्षा - समाज में निवास करने वाला मनुष्य है।[1] अतएव नैतिक मनुष्य को समझने के लिये सामाजिक - व्यवस्था तथा व्यक्ति की निजी - विशिष्टता को समझना पड़ता है।

गुरु नानक काव्य में नैतिकता के तत्वों को समझने लिये नैतिकता को धर्म तथा दर्शन के सम्बन्ध में समझ लेना या आवश्यक है क्योंकि गुरु नानक मूलतः एक आध्यात्मिक पुरुष थे। धर्म तथा दर्शन मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं। नैतिक व्यवहार से इनका अनिष्ट सम्बन्ध है। परन्तु धर्म का स्वरूप मूल रूप में यथार्थ से भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में प्रयत्नशील होता है जो मानवीय आचरण के कार्य क्षेत्र को सीधे से प्रभावित करता है। धार्मिक व्यक्ति प्रायः अपने विश्वासों के नैतिक पक्ष को भी धार्मिक उन्माद में सम्मान करने में प्रवृत्त रहता है। विशेष रूप से लोकाचारी नैतिकता के स्तर पर धर्म की अनेक बार बड़ी मुख्य भूमिका दर्शित होता है। इसी प्रकार दर्शन की विषय-वस्तु भी समूचा जीवन तथा यथार्थ ज्ञान है परन्तु धर्म तथा दर्शन में गुणात्मक भेद है। धर्म जीवन की भावात्मक स्थिति का बोध करता है। दर्शन का मूलतः मानवीय अनुभव का तार्किक विश्लेषण है।[2] दर्शन बौद्धिक स्तर पर यथार्थ को

---

1 Radar M. Ethics and the Human Community P. 435

2 Langer. S. K. Philosophy in a new Key P.P. 14-15

को समझने का एक प्रयत्न है।[1] दार्शनिक चिंतन का नैतिकता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि दर्शन जीवन तथा जगत के रहस्य को तार्किक ढंग से समझने में प्रयत्नशील होता है,[2] अतएव तार्किक ज्ञान द्वारा उपलब्ध मान्यतीय जीवन की व्याख्या नैतिक मूल्यों को भी विचारात्मकता की कसौटी पर प्रमाणित करने के लिये प्रेरित करती है जिसकी परिणामस्वरूप सिद्धान्तपूर्ण नैतिकता का विकास होता है।

नैतिकता के इस सैद्धान्तिक स्वरूप विश्लेषण के साथ साथ गुरु नानक से पूर्व रचित भारतीय साहित्य में नैतिकता के मानदंडों का अध्ययन गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित नैतिकता को समझने में सहायक हो सकता है क्योंकि गुरु नानक का भारतीय चिंतन धारा को आगे बढ़ाने में विशेष योगदान है। निस्सन्देह भारत में नैतिकता का सैद्धान्तिक स्वतन्त्र चिन्तन बहुत कम हुआ है परन्तु परोक्ष रूप में यहाँ एक समृद्ध नैतिक परम्परा सदैव विद्यमान रही है। वैदिक काल में सत्य तथा दान आदि को सामाजिक सद्गुण माना जाता था।[3] ऋग्वेद के दसवें मंडल में विशेष रूप से पाप - पुण्य सम्बन्धी विचारधारा का पर्याप्त मात्रा में वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में "ऋत" की धारणा का उल्लेख अनेक बार किया गया है जो नैतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। "ऋत" को विश्व का प्राकृतिक तथा नैतिक विधान बताया गया है। इसी विधान के अन्तर्गत मक्खियाँ बहती हैं, चाँद सितारे अपना मार्ग ग्रहण करते हैं।[4] "ऋत" की यह धारणा गुरु नानक के "हुकम" सिद्धान्त से बहुत मेल खाती है। वैदिक काल तक नैतिकता अधिकतर रीति - रिवाजों तथा संस्कारों के रूप तक ही दिखायी देती है। "पाप - पुण्य" की धारणा शुद्ध नैतिक रूप में नहीं ली जा सकती

1:- दास गुप्ता, एस०, डेवेलपमेन्ट आफ ए मोरल फिलोसफी इन इण्डिया, पृ० 4

2:- वही

3:- वही, पृ० 8

4:- ऋग्वेद, १०२३०५०

क्योंकि इसमें जादू और धर्म का भी पर्याप्त मिश्रण होता है। फिर भी इस युग में सामाजिक नैतिकता के सरल परन्तु दृढ़ सिद्धान्तों का आभास अवश्य मिल जाता है। संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा धर्म - सूत्रों में नैतिक - मानदंड सामाजिक भलाई के लिये प्रयत्नशील हैं। उन दिनों की याज्ञिक - क्रियाएं भौतिक समृद्धि के लिये ही सम्पन्न की जाती थी।

उपनिषदों में दार्शनिक नैतिकता का प्रसार परालौकिक जगत तक पहुँच जाता है। उपनिषदों में भौतिक सुखों को उच्चतम श्रेय से अलग करके देखा जाने लगा। व्यक्ति का परम श्रेय उसके आत्म - ज्ञान से सम्बद्ध हो गया जो सुख - दुःख, राग द्वेष से ऊपर उठकर ही उपलब्ध हो सकता था। उपनिषदों के पश्चात् "सूत्रों" तथा "स्मृतियों" में वर्णाश्रम धर्म के माध्यम से सामाजिक जीवन के महत्व को परम श्रेय के साथ सम्बद्ध कर दिया गया।

बुद्ध धर्म में तो नैतिकता को आध्यात्मिक उपलब्धि का एक अनिवार्य माध्यम मान लिया गया था। बुद्ध का अष्ट मार्ग मुख्यतः नैतिक मान दंडों का ही निर्धारण करता है। बुद्ध ने तृष्णा को समस्त दुःखों का कारण बताया है। अहिंसा, दया, सेवा तथा करुणा नैतिक सद्गुण बताये गये हैं। गुरु नानक के नैतिक चिन्तन में भी महात्मा बुद्ध के अष्टमार्ग की अनेक मुख्य धारणाओं को ग्रहण किया गया है जिसका अगले विस्तार सहित वर्णन किया जायेगा।

धार्मिक ग्रन्थों में श्रीमद्भगवद् गीता को नैतिक परम्परा का प्रमुख ग्रन्थ कहा जा सकता है। यह महा भारत महाकाव्य का एक अंश है। श्री कृष्ण को इसका रचयिता माना जाता है। गीता की रचना महाभारत की एक नैतिक स्थिति से सम्बन्धित है। अर्जुन के मानसिक द्वन्द को तिरोहित करने के लिये श्री कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेश को इसमें उल्लिखित माना गया है। इसमें आत्मा की अजरता, अमरता का वर्णन करते हुए भगवान श्री कृष्ण ने "निष्काम कर्म" का उपदेश दिया है।

Thus in the Rigveda

इस प्रकार रामायण, महाभारत, योग वशिष्ट आदि अनेक अन्य रचनाएँ भारतीय साहित्य में विद्यमान हैं जिनमें नैतिक चिन्तन के सिद्धान्त सर्वत्र उपलब्ध होते हैं।

नैतिक चिन्तन की इस दीर्घ परम्परा को आत्मसात करते हुए मध्य - कालीन भारत में भक्ति आन्दोलन एक आध्यात्मिक, सामाजिक पुनर्जागरण के रूप में प्रकट होता है। आध्यात्मिक पक्ष से भक्ति को ग्रहण करते हुए इस स्तर पर सामाजिक, व्यक्तिगत जीवन तथा मौलिक नैतिक मानदंडों का स्वरूप निर्धारित किया। निर्गुण संतों का तो नैतिक मानदंड ही मानवतावाद है जो "जैसी तुटी माल" में अभिव्यक्त हुआ है। इस मानवतावाद का उद्देश्य मानव - मात्र के समग्र तथा सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास तथा उत्थान है। इसे इस आदर्श व्यक्तित्व की स्थापना भी कह सकते हैं। इस नैतिक दृष्टि की अभिव्यक्ति उस " आदर्श मानव की प्रतिष्ठा " में हुई है जिसे गुरु नानक ने "सचियारा" की संज्ञा से अभि - हित किया है। गुरु नानक की समस्त नैतिक विचार धारा तथा आध्यात्मिक अध्यन का लक्ष्य यह "सचियारा" है जो उनका आदर्श व्यक्ति है। इस प्रयास में वे सदैव इस प्रश्न से ग्रस्त होते रहे हैं।

"किव सचियारा होईऐ किव कूड़े तुटै पालि"[2] "सचियार" का मूलाधार "सत्य" है जो गुरु नानक वाणी में "सति" तथा "सच्च" दो रूपों में प्रयुक्त किया गया है। इस शब्द के विविध प्रयोगों का अवलोकन हमारे "सचियारा" के अध्ययन को अग्रसर करने में सहायक होगा :-

"सच पुराणा होवै नाही"[3]

1:- आदि ग्रन्थ , पृ० 8

2:- वही पृ० 1

3:- वही पृ० 955

"सचु सचु सचमा का सतु है जितु सोहे सोजनु पातर ।" [1]

"सोई साह भगतां है सचु सभि हरि राखि ।

नानक सचु सुचि पाइसे सिख संगत के पासि ।" [2]

यहां "सच्च" को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है , सत्य नित्यस्थीन है, यह कभी प्राचीन नहीं होता, ये ही सभी तथा भाग्यशाली हैं जो सत्य की राशि का संग्रह करते हैं । परन्तु यह सत्य भगवद् कृपा से ही प्राप्त होता है । ध्यान करने की बात है कि आदि ग्रंथ में अंकित इस "सति" या "सच्च" शब्द के विद्वानों ने विभिन्न अर्थ किये हैं । ट्रंप ने " सति" शब्द का अर्थ True [3] बताया है । मेकालिफ ने भी "आदि सचु । जुगादि सचु" के सन्दर्भ में "सच" का यही अर्थ किया है । [4] डा० गोपाल सिंह ने भी "सति" को "सत्य" का पर्याय वाची मानते हुए इस शब्द का अर्थ Truth किया है । [5] सोहन सिंह के अनुसार "सति" तथा "सच्च" एक हैं तथा उनका अर्थ "The real " है । [6] इस अध्ययन से "सति" तथा "सच्च" का अर्थ वास्तविक , यथार्थ या सत्य ही प्रतीत होता है । शंकराचार्य के अनुसार "सत्य" का निश्चित स्वरूप वह है जिसमें कोई विकार नहीं होता तथा तीनों कालों में जो अबाधित है, वह सत्य है । [7] नानक वाणी में "सति" का यह अर्थ ब्रह्म रूप में ही लक्षित होता है । भारतीय दर्शन में ब्रह्म को "सत्य" कहा गया है । तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है कि ब्रह्म सत्य ज्ञान तथा अनन्त है । [8] इस प्रकार "सति" तथा "सच्च" का सही स्वरूप हमारे सम्मुख आता

1:- आदि ग्रन्थ , पृ० 922

2:- वही पृ० 250

3:- अर्नेस्ट ट्रंप, आदि ग्रन्थ , पृ० ।

4:- एम० ए० मेकालिफ, " दा सिख रिलिजन" वाल्यम, । , पृ० 195

5:- गोपाल सिंह," श्री गुरु नानक साहिब" वाल्यम, । पृ० ।

6:- सोहन सिंह ," दा सीक्रस पथ, पृ० 6

7:- डा० देवी उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पाद टिप्पणी, पृ० 159

|यद् स्वेन यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तद् सत्यम्|

8:- तैत्तिरीय उपनिषद्, 2-1-1 |सत्यं ज्ञानम नन्तं ब्रह्म|

जिसका अर्थ यथार्थ, यथार्थ, अधिकारी, निकाम - अभाषित तथा अविनाशी सत्य है। इस "सति" या सत्य स्वरूप ब्रह्म से सम्बन्धित, गुरु नानक का आदर्श नैतिक व्यक्ति " सचिआर" है।

गुरु नानक के आदर्श व्यक्ति "सचिआर" का अर्थ स्पष्ट करते हुए ट्रम्प ने इसका अर्थ "Aman of truth" किया है।[1] डा० अतार सिंह का विचार है कि"सचिआर"उस व्यक्ति के लिये प्रयुक्त किया गया है जिसे आत्म - बोध हो चुका है अर्थात् जिसे परम् - सिद्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान अनुभव हुआ है।[2] गुरु नानक के अतिरिक्त अन्य सिख - गुरुओं की वाणी में प्रयुक्त इस शब्द के अतिरिक्त उदाहरण भी इस सम्बन्धी स्पष्ट जानकारी प्रदान करने में सहायक हो सकते हैं :-

सति सिखे सचिआरु बुधि न पाखे
साचै सिख विचु साच बहुड़ि न आखै।[3]
सचिआर सिख सचि सतिगुरु पासि बहालि
कुड़िआर न लभनी सिखे बाहु भालि।[4]

गुरु अमरदास ने एक स्थान पर उल्लेख किया है कि जिसके हृदय में सत्य है, जो अपने मुख से सत्य - नाम का आलाप करता है, वह "सचिआर" स्वयं हरिमार्ग पर अग्रसर होने वाला है तथा दूसरों को हरि- मार्ग पर ले जाता है।[5] गुरु नानक देव ने अपनी वाणी "ओंकार" में "सचिआर" के लक्षणों का वर्णन किया है :-

"सचिआरी सचु सचिआ साचा नामु अमोलु।
हरि निवासु उजलो पति साची सचु बोलु।"[6]

1:- एसेन्शल ट्रुथ, दा आदि ग्रन्थ, पृ० ।
2:- अतार सिंह, एथिक्स आफ दा सिक्स, पृ० 39
3:- आदि ग्रन्थ, पृ० 419
4:- वही पृ० 308
5:- जिसदे अंदरि सचु है सो सचा नामु मुखि सचु आलाए ।।
उस हरि मारगि आपि चलदा होरना नो हरि मारगि पाए। आ:ग्र: पृ० 140
6:- वही पृ० 937

भाई गुरदास का भी कथन है कि "सचिआरे" का अभिनन्दन किया जाता है तथा "कूड़िआरे" को धिक्कारा जाता है :-

सचिआरे लागासि हे कूड़िआरे धिङ् धिङ् कराइदा ।।[1]

इस प्रकार गुरु - काव्य में वर्णित 'सचिआर' का अर्थ वह व्यक्ति है जो सत्य को ग्रहण करता है, सदा सत्य बोलता है तथा "सति नाम" का आलाप करता है। इस व्याख्या से निष्कर्ष यह निकलता है कि गुरु नानक की नैतिक आचार - प्रणाली का आदर्श व्यक्ति "सचिआर" है जो एक ओर सत्य-स्वरूप आध्यात्मिक तत्व से संबद्ध है तथा दूसरी ओर धरिमार्ग की ओर वह अन्य प्राणियों को अग्रसर करता है। इन अर्थों में "सचिआर" सत्यान्वेषक है। वह आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों प्रकार के सत्यों से सम्बन्धित है। वह पलायन वादी नहीं, कर्मयोगी है। इस सन्दर्भ में डार्सी मूर का कथन बिल्कुल सही है कि नैतिक जीवन, जब सामाजिक धरातल पर स्थापित होता है तो वह आध्यात्मिक जीवन भी होता है, वह क्रियात्मक आध्यात्मिक ही है।[2] गुरु नानक की नैतिक दृष्टि में "सचिआर" व्यक्ति का प्रेरणा-स्त्रोत आध्यात्मिकता है परन्तु उसका कार्य क्षेत्र लोक जीवन है। "सचिआर" व्यक्ति एक ओर सामाजिक - स्तर पर आदर्श व्यक्ति बनने का प्रयास करता है, दूसरी ओर, आध्यात्मिक शब्दावली में, परमात्मा का शरणागत होने की ओर अग्रसर होता है।[3] इस प्रकार गुरु नानक की नैतिकता का चरम आदर्श व्यक्ति "सचिआर" ही कहा जा सकता है।

गुरु नानक काव्य में नैतिकता के तत्व स्वतन्त्र , प्रणाली रूप में वर्णित नहीं किए गए हैं। उनकी नैतिकता आध्यात्मिक वाणी से ही प्रस्फुटित हुई है। यह नैतिकता गुरु - कवि के आध्यात्मिक चिन्तन तथा रहस्यवादी

1:- वारां, भाई गुरदास, 30/12

2:- The moral life in its social aspect, is the spiritual life, it is spirituality in action - Charles A Moore

3:- हरिओम ओलार सिंह, हिस्ट्री आफ दा सिक्ख , पृ0 24

अनुभूतियों का परिणाम है। इसकी पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि इस नैतिकता का अध्ययन आध्यात्मिक सन्दर्भ में ही किया जाये। गुरु नानक काव्य में वर्णित नैतिकता का सब से उल्लेखनीय पक्ष यह है कि उन्होंने आदर्श की स्थापना को अपने व्यावहारिक जीवन से ग्रहण किया है।

इस प्रकार गुरु नानक के आचार दर्शन का चरम लक्ष्य आदर्श व्यक्ति की स्थापना है। परन्तु हम पहले देख चुके हैं कि व्यक्ति समाज का एक अभिन्न अंग है। इतना ही नहीं व्यक्ति तथा समाज का परस्पर सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है। समाज का अस्तित्व व्यक्तियों पर निर्भर करता है तथा व्यक्ति सामाजिक होने के कारण ही व्यक्ति कहलाते है। नैतिकता के क्षेत्र में भी यही व्यक्ति तथा समाज एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। परन्तु इतना होते हुए भी सैद्धान्तिक स्तर पर, तथा अध्ययन - विश्लेषण की सुविधा के लिये व्यक्तिगत नैतिकता तथा सामाजिक नैतिकता को भिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जाना समीचीन है।

-:-:-:-:-:-:-

गुरु मान्छ काव्य का तात्त्विक अध्ययन

अष्ट अध्याय :-

गुरु मान्छ - काव्य : शैक्षिक प्रतिमान

चतुर्थ अध्याय :-

गुरु नानक काव्य: नैतिक प्रतिमान :-

किसी नैतिक विचारधारा को समझने के लिये उसके नैतिक प्रतिमान को स्पष्ट करना आवश्यक होता है। क्योंकि व्यक्ति - व्यवहार की नैतिकता का निर्णय किसी प्रामाणिक कसौटी के आधार पर ही किया जा सकता है। विश्व के नैतिक इतिहास में अनेक प्रकार के नैतिक प्रतिमानों की चर्चा की जाती रही है जिन की सहायता से मनुष्य अपने तथा अन्य व्यक्तियों के नैतिक व्यवहार की आलोचना करते रहे हैं।[1] प्रत्येक चिन्तन प्रणाली प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी नैतिक प्रतिमान को साथ लेकर चलती रही है।

गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित नैतिक प्रतिमान को स्पष्ट करने से पूर्व नैतिक प्रतिमान के प्रमुख सिद्धान्तों की संक्षेप में चर्चा करना समीचीन होगा। नीतिज्ञों ने प्रतिमानों की अनेकरूपता का कारण सिद्धान्तों की विभिन्नता स्वीकार किया है तथा उसके अनुरूप ही वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। वस्तुतः किसी नैतिक प्रतिमान की रूप रेखा का मूल आधार उसकी सैद्धान्तिक रचना पर निर्भर करता है। यही कारण है कि प्रायः किसी विशेष प्रतिमान का नाम उसके मौलिक सिद्धान्त का भी सूचक होता है।

---

1 "Throughout the history of human Society, moral standards have varied. From the primitive customs followed by the partly conscious early man to carefully reasoned Theories of life of the most modern man"

Harold. H. Titus, Living Issues in Phi
P. 368

अधिकार सत्तावाद :-

नैतिक पुनरुत्थान का यह सिद्धान्त सम्भवतः सब से प्राचीन है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार की नैतिकता का निर्णय किसी बाह्य अधिकार सत्ता पर निर्भर करता है। प्राचीन समय में जाति या कबीले के रीति-रिवाज ही नैतिकता का निर्माण किया करते थे।[1] सामाजिक विकास क्रम में भले ही जातीय - नैतिकता का ढेरा विकास होता गया परन्तु फिर भी सामाजिक रीति - रिवाजों को ही नैतिकता का आधार माना जाता रहा। धर्म के उद्भव से ईश्वरी अधिकार सत्ता का अस्तित्व हमारे सम्मुख प्रकट होता है परन्तु यह भी कबीले या समाज की भाँति ही नैतिक मापदंड का निर्धारण करती रही है। नैतिक क्षेत्र में ईश्वरी विधान या ईश्वरीय इच्छा का स्वरूप भी इसी सिद्धान्त का रूप है। ईश्वरी सत्ता की साक्षात् - दैहिक उपस्थिति न होने के कारण अवतार, पैगम्बर, ऋषि, गुरु आदि विशिष्ट व्यक्तियों के पारलौकिक ज्ञान का स्वरूप दृष्टिगोचर होता रहा है। यह अधिकार नैतिकता को एक ढाँचा बना देता है। यह मनुष्य के बाह्य चलीय कार्य को ही अपने सामने न रखता है, उसके आन्तरिक प्रयोजन का भावना के महत्व को स्वीकार नहीं करता। इसीलिए अधिकार सत्तावादी नैतिकता में अधिकांश विधेयात्मक आदेश होते हैं[II]। इसकी समस्त शब्दावलि, अनुचित का निर्णय करने पर ही रहती है, "शुभ" "अशुभ" से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।[2] इन नियमों की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि व्यक्ति को प्रत्येक समय शारीरिक या सामाजिक निन्दा का भय बना रहता है।

II "Authoritarian ethics are likely to delay progress in a changing society They are also likely to be destructive of moral prospective, since acts are condemned because they violate the code rather than because they are injurious to human welfare".
Harold H. Titus, Living Issues in philosophy P. 370

2 ~~Melvin Rader, Ethics and the~~

1 "In the evolution of morality we find that tribal custom plays an important role. Primitive life is distinguished by an immense Conservation the old ways are vigorously perpetuated
F. Mayer and F.H. Ross, Ethics and the modern world P. 14

उद्देश्य वाद :-

नैतिकता के सिद्धान्तों में उद्देश्यवाद का आधार "शुभ" है। यह सिद्धान्त मानव जीवन पर निर्भर है। व्यवहार का कल्याणकारी होना ही नैतिकता का अन्तिम लक्ष्य है। उद्देश्यात्मक नैतिकता का सर्व प्रथम कार्य परम श्रेय की तलाश है जो अपने आप में अन्तर्लोकता मानव मूल्य का प्रतीक है। तत्पश्चात् सहायक शुभ की तलाश की जाती है जो अपने आप में तो कोई अन्तिम नहीं होता परन्तु जो किसी अन्य मानव हित की उपलब्धि में सहायक बनता है।[1]

उद्देश्यवाद के अन्तर्गत कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा की जाती है। सुखवाद तथा आत्मसिद्धिवाद जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण भेद हैं। सुखवाद का इतिहास बहुत प्राचीन है। पुरानी दार्शनिक अरिस्टीपस तथा[1] डीमोक्रीटस के अनुसार व्यक्ति की निजी भलाई तथा सुख को ही सर्वोच्च माना गया था।[2] भारत में चार्वाक दर्शन इसी रूप में रखा जा सकता है। पश्चिम के कुछ सिद्धान्तों में सुखवाद को किसी कोई भावना से सही कोण का सुख बता दिया है। इनमें ह्यूम तथा मिल का नाम उल्लेखनीय है। इस सिद्धान्त को उपयोगिता वाद भी कहा जाता है।

उद्देश्यवादी वर्ग का दूसरा सिद्धान्त आत्मसिद्धिवाद या सम्पूर्णता - वाद है। इस सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता का सम्बन्ध मानवीय प्रकृति की गुप्त सम्भावनाओं को प्रकट करना है। इसमें समस्त व्यक्ति के स्थान व्यक्तित्व के विकास पर बल दिया जाता है।[3] पश्चिमी दार्शनिकों ने मानवीय व्यक्तित्व के समुचे विकास पर बल दिया है परन्तु भारतीय चिंतकों ने मानवीय व्यक्तित्व के आध्यात्मिक पक्ष को केन्द्रीय महत्व प्रदान किया है।[4] इस प्रकार आत्मसिद्धि का अर्थ

---

1 Melvin Rader, Ethics and the Human Community P. 2

2 Columbia Encyclopedia, P. 675

3 Harold H. Titus, Living issues in philosophy P 37

4 Eastern metaphysics has always used the language of 'self realization, but it has insisted that the important question is which self is realized. UPanishadic thought insists that it is only the Atman (the real self) that can be realised not the ordinary empirical self (Jiva) or in western terms the Psychophysical organisation"
Mayer & Ross, Ethics of the modern world, P. 128

प्राणी में अन्तर्निहित ब्रह्मांश को प्राप्त करना है जिसे मोक्ष या निर्वाण का नाम दिया गया है।

हमें यहाँ देखना यह है कि गुरु नानक के काव्य में किस प्रकार का नैतिक प्रतिमान उभरकर सामने आता है। वस्तुतः गुरु नानक काव्य का अध्ययन करते समय हमारे सामने नैतिकता के अनेक प्रतिमान स्पष्ट होते हैं। इसमें देवी सिद्धान्त की अधिकार सत्ता को भी अपनाया गया है तथा मनुष्य की सर्वोच्च आध्यात्मिक सम्पन्नता पर भी बल दिया गया है। यहाँ तक कि एक प्रकार के अन्तर्मुखी सुखवाद को भी समुचित स्थान प्रदान किया गया है। अब देखना यह है कि गुरु कवि ने इन विभिन्न सिद्धान्तों का किस सीमा तक समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। इस उद्देश्य के लिये सबसे पहले गुरु नानक वाणी में उपलब्ध विभिन्न प्रतिमानों को देख लेना समीचीन होगा।

देवी सिद्धान्त का नैतिक प्रतिमान :-

"जपु जी" में तथा अन्य अनेक स्थलों पर गुरु नानक ने "हुक्म" तथा "रज़ा" का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जो ईश्वरीय इच्छा को व्यक्त करता है। दार्शनिक शब्दावली में "हुक्म" सर्वव्यापक देवी विधान का प्रतीक है। यहाँ हमारा सम्बन्ध इसके नैतिक - प्रतिमान के रूप में है। "जपु" जी में "हुक्म" की नैतिक निर्णायकता का स्पष्ट संकेत मिलता है :-

"हुक्मी उत्तमु नीचु
[illegible]- हुक्मि लिखि दुख सुख पाईअहि।
हुक्मी आवै जाइ
हुकि हुक्मी सदा [illegible]ईअहि।" [1]

अर्थात् मनुष्य की उच्चता तथा नीचता का अन्तिम आधार ईश्वरीय इच्छा ही है। दुःख, सुख जीवन तथा मोक्ष भी उसी इच्छा पर ही निर्भर करते हैं।

1:- आदि ग्रन्थ, पृ।

इसी रचना में आगे चलकर बताया गया है कि मनुष्य के लिये शुभ आचार वही है जिसे ईश्वरीय इच्छा की स्वीकृति प्राप्त हो।[1] अपनी व्यक्तिगत सामर्थ्य से कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में परमश्रेय को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि केवल सर्वशक्तिमान परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ कार्यों का सम्पादन करता है।[2]

यह कथन स्पष्ट रूप में ईश्वरीय इच्छा की नैतिक निर्णायकता को सूचित करता है। परन्तु समस्या यह है कि वे किस प्रकार के कार्य या व्यवहार हैं जिनके लिये ईश्वरीय इच्छा की स्वीकृति प्राप्त होती है तथा उसके आदेशों - निर्देशों का परिचय किस प्रकार मिल सकता है? विश्व के विभिन्न धर्म ग्रन्थों में इस समस्या का समाधान विभिन्न ढंग से किया है। यहूदी (Hebraw) धर्म में अवतारवाद का सिद्धान्त निर्धारित किया गया और बताया गया कि परमात्मा अपने अवतार पुरुष को अपनी इच्छा का ज्ञान प्रदान करता है जो मनुष्य - जाति के लिये उस दैवी ज्ञान को प्रचारित करता है। ईसाई धर्म में हजरत ईसा को ईश्वर का सुपुत्र माना गया है जो अपने दैवी पिता अर्थात् ईश्वर का सन्देश लेकर मानव - मोक्ष के लिये संसार में अवतरित हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार ईसा की वाणी ईश्वरीय विधान का स्थान रखती है।

भारतीय धर्मों में भी अवतारवाद को स्वीकार करते हुए बताया गया है जब जब धर्म की ग्लानि होती है तो लोगों को धर्म के मार्ग पर चलने के लिए ईश्वर स्वयं जन्म धारण करता है।[3] अवतारी पुरुष क्योंकि स्वयं ईश्वर होता है, इसलिए वह जिस भी प्रकार का आदेश देता है वह स्वीकार कर लिया जाता है। गुरु नानक ने अवतार वाद की इस धारणा को स्वीकार नहीं किया। उनका ईश्वर निराकार, अजन्मा, अयोनि तथा कालातीत है। गुरु नानक ने अपने मुहावरे में गुरु की धारणा को स्वीकार किया है जो आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करने वाला एक विशिष्ट पुरुष होता है। "गुरु" अपनी ब्रह्मप्रदत्त चेतना से ईश्वरीय

1:- जो तुधु भावे सार्इ भली कार। आदि ग्रन्थ, पृ० 4

2:- "जोर न जुलमी छुटे संसार। किसु सचि जोर करि देवै सोइ। वही, पृ० 7

3:- "यदायदाहिधर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्"। [गीता 4-7]

इच्छा को समझ सकने की सामर्थ्य रखता है तथा उस प्रकार प्राप्त किये ज्ञान के प्रकाश में वह प्राणी मात्र के नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिये मेतृत्व प्रदान करता है। यहाँ गुरु नानक ने गुरु के विषय में स्पष्ट शब्दों में संकेत कर दिया है कि वास्तविक गुरु "शब्द" है[1] जो आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतीक है।

गुरु वाणी में प्रतिपादित "गुरु" की धारणा अवतारवाद के सम्बन्ध में पैगम्बर या नबी की धारणा से भिन्न है। पैगम्बर स्वयं को ईश्वर का विशेष दूत मानता है तथा अपने संदेश को वैसी संदेश की भाँति प्रचारित करने का प्रयत्न करता है। उसका व्यक्तित्व भी उतना ही महत्वपूर्ण बन जाता है जितनी कि उसकी शिक्षा महत्वपूर्ण होती है। इसके अतिरिक्त पैगम्बर या नबी स्वयं को अन्तिम मानने पर बल देता है। "गुरु" के साथ इस प्रकार की भावना का सम्बन्ध[2] नहीं जोड़ा जाता। गुरु केवल ज्ञान का माध्यम है।[3] परन्तु इस माध्यम के बिना मानव का कल्याण नहीं हो सकता।

गुरु नानक ने ईसाई धर्म के परमात्मा के पुत्र वाले सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने "गुरु" या सतिगुरु की धारणा को ही प्रमाणित माना है। उन्होंने गुरु के बिना शिक्षा को अत्यन्त बुरी माना है। क्योंकि सेवा न करने से व्यक्ति कुप्रवृत्ति के विकार युक्त पथ पर भटकता रहता है तथा अज्ञान के कारण अन्धकारग्रस्त रहता है।[4] यहाँ यह स्पष्ट रूप से अंकित किया जाना चाहिये कि केवल गुरु की शरण में जाना ही पर्याप्त नहीं है अपितु

1:- "सबदु गुरु सुरति धुनि चेला" आदि ग्रन्थ, पृ० 943

2:- जेती मे आवे खसम की/ बाणी लेखा करी निसानु से लाखो ।
आदि ग्रन्थ, पृ० 722

3:- "गुरु पउड़ी बेड़ी गुरु गुरु सुआ हरि नाउ ।
गुरु सरु सागरु बोहिथो गुरु तीरथु दरियाउ । आदि ग्रन्थ, पृ० 17

3:- "भाई रे गुर बिनु गिआनु न होइ पूरै सबदे वेद बिचारे सोइ ।"
आदि ग्रन्थ, पृ० 59

4:- गुरका जाणि न जाणई किआ तिसु पुजु अरदास ।
अंधे नामु विसारिआ मनमुखि अंध गुबास ।
आवणु जाणु न चुकई मरि जमे होइ खुआर । वही, पृ० 19

आध्यात्मिक ज्ञान (शब्द) को प्राप्त कर लेना परमावश्यक है।[1] क्योंकि जब तक व्यक्ति का मन ज्ञान में स्थिर नहीं होता तब तक वह माया - जाल में फँसा रहता है।[2]

गुरु नानक वाणी के गहन अध्ययन से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उनके मौलिक प्रतिपादन की अधिकार सत्ता गुरु का व्यक्तित्व नहीं अपितु उनका "शब्द" (अर्थात ब्रह्म वाणी) है। अर्थात गुरु का अत्यन्त आध्यात्मिक महत्व स्वीकार करते हुए भी उनके व्यक्तित्व तथा उनकी निर्बुद्ध इच्छा को प्राथमिकता नहीं दी गयी।

अब प्रश्न यह है कि गुरु द्वारा प्रतिपादित ज्ञान का स्वरूप क्या है? क्या गुरु व्यक्ति के दैनिक जीवन की विभिन्न स्थितियों के विषय में कोई विधान - निर्देश निर्धारित करता है, जिसे उसने अपने दिव्य ज्ञान से उपलब्ध किया हो? गुरु नानक वाणी इस सन्दर्भ में इस प्रकार के विधान-निर्देश को स्वीकार नहीं करती। गुरु नानक ने "हुक्म" के सन्दर्भ में जो अभिव्यक्तियाँ की हैं[3], जैसा मनुष्य द्वारा ही उस ज्ञान की प्रतीति हो सकती है क्योंकि यह विधान मनुष्य की अपनी आत्मा का एक अभिन्न अंग है।[4] "हुक्म" को जान लेना ही एक प्रकार की मौलिक आध्यात्मिक उपलब्धि है। क्योंकि गुरु वाणी के अनुसार जो व्यक्ति एक बार "हुक्म" को समझ लेता है वह "हउमै" की विकारयुक्त मनोदशा से मुक्त होने में समर्थ हो जाता है।[5] गुरु की सहायता से मनुष्य जैसे "हुक्म" को जान लेता है और उसके वह जीवन के सत्य अर्थात (नाम जैसे) परमार्थ यथार्थ सत्ता को समझ लेता है क्योंकि पारलौकिक स्तर पर दोनों की सत्ता में अभेदता विद्यमान है।[6]

1:- जब लगु सबदि न भेदीऐ किउ सोहै गुर दुआरि। आदि ग्रन्थ, पृ० 19

2:- "इहु मनो मूरखु लोभीआ लोभे लगा लोभानु।
सबदि न भीजै साजना दुरमति आवन जानु॥" वही पृ० 21

3:- हुकमु न कथिआ जाई। वही पृ० ।

4:- हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआ नालि। वही पृ० ।

5:- "नानक हुकमे जे बुझै त हउमै कहै न कोइ।" वही पृ० ।

6:- सचा तेरा हुकमु गुरमुखि जाणिआ गुरमती आपु गवाइ सचु पछाणिआ॥
वही पृ० 144

परमार्थ सत्ता को, परमतत्व को जान लेना एक प्रकार की आध्यात्मिक जागृति है जिसे गुरु नानक ने "जगु जी में " " सचिआरा" होना कहा है। "सचिआर" [1] व्यक्ति का एक प्रमुख लक्षण यह है कि वह सहज रूप में ही नैतिकता के श्रेष्ठ गुणों को धारण कर लेता है। उसके हृदय से द्वेत की भावना समाप्त हो जाती है। उसे यह जानने की आवश्यकता नहीं रहती कि क्या उचित है क्या अनुचित है। वह सदैव परमात्मा के अस्तित्व को हृदय में स्थिर रखता है। [2]

यहाँ में कहा जा सकता है कि गुरु नानक की नैतिकता में ईश्वर को एक नैतिक प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया गया है परन्तु कहीं किसी परम्परा-युक्त तथा संकुचित धारणा को ग्रहण नहीं किया गया। " गुरु" का ईश्वर विज्ञान की अनुभूतिजन्य कर लेने के बाद अपने शिष्यों को उसका ज्ञान प्रदान करता है तथा इस प्रकार ईश्वर तथा व्यक्ति में "ज्ञान" एक माध्यम का कार्य करता है। गुरु कभी उसके ऊपर अपनी व्यक्तिगत धारणा को आरोपित करने का प्रयास कदापि नहीं करता उसके विपरीत वह एक प्रेरणा स्त्रोत का कार्य सम्पादित करता है।

इस निष्कर्ष से इस बात का अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता कि गुरु नानक वाणी में नैतिक निर्देशों के लिए बिल्कुल कोई स्थान नहीं है। गुरु नानक ने अपनी वाणी में अनेक स्थलों पर दैनिक जीवन के व्यवहार पक्ष से अनेक ऐसे निर्देश निर्धारित किए हैं जिससे सामाजिक प्राणी एक प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत कर सकता है। जैसे सत्याचरण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, परित्याग, परिश्रम का महत्व, शोषण युक्त धन का तिरस्कार आदि।

1:- सिख सचिआरा होवै सिख कुले तारे पारि ।। पृ० ।

2:- हेरोल्ड एच टार्टस, ~~थिंकिंग सब्जेक्ट मिलोसफी~~, पृ० 37।
Living Issues in Philosophy

सुखादी नैतिक प्रतिमान :-

भारतीय आध्यात्मिक चिंतन धारा में मोक्ष के परमश्रेय मानने की पृष्ठभूमि में प्राप्त एक प्रकार की दुख तथा वांछ स्थिति रही है। महात्मा बुद्ध के चार सत्यों में जीवन की दुःखमयता का ही वर्णन किया गया है। गुरु नानक वाणी में भी अनेक स्थलों पर दुःख की इस तीव्रता का वर्णन किया गया है। उनका कथन है कि " संसार दुःखों का घर है।[1] जो जन्म लेता है, वह दुःख तथा संताप से किस प्रकार बच सकता है।[2] आत्मिक दृष्टिकोण से दैहिक कष्ट को इतना दुःखदायी नहीं माना गया जितना इस संसार की नश्वरता को माना गया है।[3] इस दुःखपूर्ण अनुभूति के कारण गुरु वाणी में अनेक स्थलों पर गुरु - भक्ति का निराशावादी दृष्टिकोण भी देखा जा सकता है।[4] परन्तु उनका कुल मिलाकर जीव - जगत की इस अनात्मकता का वर्णन करते हुए व्यक्ति को नैतिक आचरणों की ओर सदा अग्रसर होने के लिये प्रेरित करना है।

गुरु नानक ने जिस "सुख " के महत्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है वह आत्मिक कोटि का पारमार्थिक सुख नहीं है, यह सुख परमार्थ ज्ञान के प्राप्त होने से, सम्यदृष्टिभाव से फिर उत्पन्न होता है।[5] इस सुखावस्था को गुरु नानक ने "सहजावस्था " कहा है। यह मनुष्य की एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति है जहाँ व्यक्ति को सांसारिक सुख, दुःख, कष्ट, क्लेश से मानसिक मुक्ति प्राप्त हो जाती है। नैतिक प्रतिमान के दृष्टिकोण से इस आध्यात्मिक आनन्द की

1:- "नानक दुखीआ सभु संसारु" आदि ग्रन्थ, पृ० ९३५ ।रामकली ।

2:- जो जनमै से रोगि विआपै ।
जरे मरणा दुखि संतापै । वही पृ० ३९२ । राग आसा ।

3:- जेहु देह रलाई है सा जीउ जेहा होइ ।
जनीआ सभि विडाणपा इकी खसिआ रोइ । वही, पृ० ।१७ ।सिरी राग ।

4:- मीतकीत जर जोधीऐहि से रलणा होई ।
विचु पके जीउ जलनी से जाणै कोई ।
जोही जोही खिआ करहु है होली सोई
तुम बोलहु जोलणो तुम्ह जर कछू न होई ।। वही, पृ० ४१७ । आसा ।

5:- "सुख सुख सभ करि जाणीऐहि सुखु भेदि सुखु होइ ।" आ:ग्र:, पृ० ।१७

एक विशेषता यह है कि यह आनन्द व्यक्तिगत आनन्द तक ही सीमित रहता है तथा इस प्रकार के आनन्द की तुलना अधिभौतिक सुखवादी से की जा सकती है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें सुख की धारणा आनन्द की सीमा तक पहुँच जाती है तथा पश्चिमी विचारधारा से भिन्न कोटि की है। पाश्चात्य चिन्तन में "सुख" या तो व्यक्ति के भौतिक सुख का सुख है तथा या उसके समग्र जीवन का जबकि गुरु नानक का सुखवाद इन दोनों से गुणात्मक रूप में भिन्न है। यह आध्यात्मिक सुख है।

परन्तु गुरु नानक वाणी का समग्र रूप में प्रभाव देखने पर ऐसा लगता है कि उन्होंने सुख को जीवन का परम ध्येय बनाने का प्रयत्न नहीं किया है। मात्र सुख - प्राप्ति ही मानव - जीवन का उद्देश्य स्वीकार नहीं की गयी भले ही आध्यात्मिकता को किसी चरमोच्च उपलब्धि का स्वाभाविक गुण अवश्य मान लिया गया प्रतीत होता है।

आत्म - सिद्धिवाद :-

उद्देश्य मूलक नैतिक प्रतिमानों की कोटि में आत्मसिद्धिवादी सिद्धान्त को यूनानी दर्शन में पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। यूनान के उत्तरा - धिकारी यूरोपीय या पश्चिमी दर्शन की परम्परा में भी इस की चर्चा होती रही है जिसे अन्तर्निहित मानवीय प्रकृति की गुप्त एवं सुप्त संभावनाओं को सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। दार्शनिक चिन्तन में सिद्धान्तों में परस्पर विभिन्नता के कारण आत्मसिद्धिवाद का एक सर्व मान्य रूप दिखायी नहीं देता। यहाँ उन सिद्धान्तों की चर्चा करना आवश्यक नहीं जान पड़ता। मूल विषय गुरु नानक के सन्दर्भ में ही हम आत्मसिद्धिवाद का रूप देखने का प्रयत्न करेंगे।

समस्त गुरु नानक के अनुसार व्यक्ति की स्थिति द्वयात्मक है अर्थात् शरीर तथा आत्मा का संयोग व्यक्ति का निर्माण करता है। इसके साथ साथ यह भी स्पष्ट है कि समग्र भारतीय चिन्तन की भाँति गुरु नानक ने भी व्यक्ति के आध्यात्मिक तत्व को ही प्राथमिकता प्रदान की है तथा शरीर को गौण स्वीकार किया है। परिणामतः आत्मसिद्धि की सार्थकता परामौतिक जगत

रह गयी है। इस सन्दर्भ में गुरु नानक वाणी में वर्णित आत्म-तत्व का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है।

गुरु - कवि ने एक स्थान पर बताया है कि व्यक्ति के लिये अपने गुरु को जान लेना अत्यावश्यक है अन्यथा वह पशु है।[1] वस्तुतः व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवन में अपनी वास्तविक स्वरूप को समझ पाने में असमर्थ रहता है तथा नश्वर देह को ही गुरु समझने लगता है।[2] उन्होंने इस भ्रम का कारण "माया" बताया है,[3] माया के ही कारण वह नाम स्वरूप ज्ञान को अन्तिम सत्य मान लेने की भूल करने की ओर अग्रसर होता है। व्यक्ति के अस्तित्व को इस माया रूप मिथ्यात्व ने एक दीवार के रूप में आच्छादित किया हुआ है जिसे गिराना आवश्यक है तभी व्यक्ति सत्य के विराट प्रसार को देख पाने में समर्थ हो सकता है। जपुजी में बताया गया है :-

"बिन सचिआरा होई है
बिन कूड़े तुटै पालि।[4]

यहां "सचिआरा" होने की समस्या की ओर संकेत किया गया है जिसमें व्यक्ति सत्य को धारण करता हुआ अपने वास्तविक गुरु को पहचानने की ओर अग्रसर होता है परन्तु माया से ग्रसित व्यक्ति (साकत) अपने आत्म स्वरूप को पहचान पाने में असमर्थ रहता है।[5] नश्वर देह में व्यक्ति के आत्म - स्वरूप ब्रह्म का निवास होता है परन्तु इसमें विराट ब्रह्म की संपूर्ण सुषमता रहस्यमयी रूप में विद्यमान रहती है। इस तथ्य को गुरु नानक ने सागर तथा बूंद के दृष्टान्त द्वारा

1:- "गुरु न चीनहि आपणा से पशुआ से ढोर जीउ।" आदि ग्रन्थ, पृ० 791
2:- हरि गुरु न बुझहि आपणा अन्न सोदा आए गवाइदेन। पृ० 468
3:- माया माया भरमि भुलाए भरमि भुलि लोहागणी जग पिर छडि समाए। पृ० 60
4:- आदि ग्रन्थ, पृ० ।
5:- साकत निरगुणि आखिआ आपणा गुरु पछाणु
रतनु बिंदु का खड़ु तजी आनी पासि विराणु।
पलने के सिरि देवुरी मसकति खड़ु नी साणु।। पृ० 63

प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है।[1] बूँद और समुद्र के भेद - अभेद के माध्यम से गुरु नानक ने अनेक अन्य स्थलों पर इस अभेदता को व्यक्त किया है :-

: आतम महि रामु
राम महि आतमु चीनसि गुर वीचारा ।[2]
जिनी आतमु चीनिआ
परमातमु सोई ।[3]
सोई भेदु न कोई जाणै ।[4]

आत्मा - परमात्मा की अभेदता को प्रतिपादित करते हुए "सोई" शब्द का प्रयोग उपनिषदों में अनेक स्थलों पर किया गया है। यहाँ यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि गुरु नानक ने इसी आत्मतत्त्व को, अभेदता को अन्य आत्मसिद्धि के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय चिन्तन परम्परा में इसे पारिभाषिक शब्दावली में मोक्ष | आत्मज्ञानेन तत्त्वेन मोक्षः | कहा गया है। गुरु नानक ने इस शब्द का तथा इस भाव को व्यक्त करने वाले अन्य अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग अपनी वाणी में अनेक स्थलों पर किया है।

इस प्रकार आत्मसिद्धि के इस परमोक्ष - मोक्ष - का स्वरूप निरूपण किया जाना हमारे आगामी अध्ययन के लिये सहायक हो सकता है। मोक्ष का अर्थ है मुक्ति, छुटकारा।[5] भारतीय चिन्तन में मानव - जीवन को एक ऐसा बन्धन माना गया है जिससे छुटकारा प्राप्त करना परमोक्ष है। यह बन्धन केवल मृत्यु से ही समाप्त नहीं हो जाता अपितु पुनर्जन्म की धारणा के अनुसार एक जन्म से दूसरे जन्म में निरन्तर गतिमान रहता है। जब तक व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त नहीं होता, यह जन्म - मृत्यु का चक्कर चलता रहता है। अतएव इस आवागमन से छूट जाने को ही मोक्ष माना जाता है। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त

1:- सागरमति बूँद बूँद मति सागर ।।
2:- पृ० 1153
3:- पृ० 421
4:- पृ० 599
5:- भाई कान्ह सिंह, महान कोश, पृ० 747

समस्त भारतीय चिन्तन धारा में किसी न किसी रूप में मोक्ष की धारणा को स्वीकार किया गया है।

यहाँ इस पर विचार किया जा सकता है कि "मोक्ष" को नैतिक - प्रतिमान स्वीकार किये जाने की सार्थकता क्या है। पहली बात तो यह है कि आत्मसिद्धि-सिद्धान्त में व्यक्ति के परम लक्ष्य की ओर ध्यान दिया जाता है तथा उसमें व्यवहार की उचितता की अपेक्षा व्यवहार के "शुभ" होने को सामने रखा जाता है। गुरु नानक के लिये व्यक्ति का परम लक्ष्य मोक्ष - प्राप्ति है जिसे अभिप्राय आत्मा परमात्मा की अभेदता है। मानव जीवन के व्यावहारिक स्तर पर यह अभेदता किसी रहस्यानुभूति के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है। दार्शनिक दृष्टिकोण से मोक्ष का अर्थ आवागमन से छुटकारा प्राप्त करना है। अल्बर्ट श्वेत्जर[1] का मत है कि भारतीय चिन्तन की मूल प्रकृति रहस्यवादी थी जिसमें कालान्तर में उपनिषद काल तक पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी सम्मिलित कर लिया गया। पुनर्जन्म का आधार कर्मफल भोग है जो रूढ़ नैतिक धारणा है जबकि रहस्यवाद एक अति-नैतिक धारणा है। इन धारणाओं के समन्वय ने इस मोक्ष की धारणा को आरंभिक नैतिक रूप प्रदान किया है। "मोक्ष" को नैतिक प्रतिमान स्वीकार कर लिये जाने के पक्ष में यही सब से बड़ा तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है।

हमें आगे चलकर यह देखने का पर्याप्त अवसर मिलेगा कि गुरु नानक ने अपने काव्य में मोक्ष के इस त्रिकालीय रूपक का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। इसके साथ साथ गुरु कवि ने इसमें निवारण के तृतीय पक्ष को सम्मिलित करते हुए मोक्ष धारणा को और भी अधिक नैतिक रूप प्रदान कर दिया है। आत्मसिद्धि का मार्ग प्रारम्भ में आत्मोत्सर्ग[2] में से होता हुआ अन्तर होता है जिसे आधुनिक शब्दों में आत्म - परात्परता कहा जा सकता है। वस्तुतः गुरु नानक के आत्मसिद्धिवाद में आत्म-परात्परता का रूप इतना अधिक सहायक है जिसे देखते हुए "आत्म - परात्परता" को ही नैतिक प्रतिमान के रूप में स्वीकार करना अधिक उचित है।

1:- 1:- अल्बर्ट श्वेत्जर, इण्डियन थोट एण्ड इट्स डेवेलपमेन्ट, पृ० 55

2:- "आपु गवाए सेवा करे
ता किछु पावे मानु"

आदि ग्रन्थ, पृ० 474

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गुरु नानक नैतिकता में सुखवादी स्तर भी है देवी विधान भी है तथा इसके साथ साथ आत्मसिद्धि का आत्म - परात्परता मूलक सिद्धान्त भी विद्यमान है। जहाँ तक सुखवाद का सम्बन्ध है हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि गुरु नानक वाणी में इसका स्थान गौण है। दूसरे यह सुखवाद की प्रकृति आध्यात्मिक आनन्द की कोटि की है। यह ब्रह्मानन्द सहोदर है। वस्तुतः परम आध्यात्मिक उपलब्धि में आनन्द सहज रूप में ही विद्यमान रहता है। भारतीय चिन्तन में परमार्थ सत्ता को सत्-चित्-आनन्द स्वरूप माना गया है।, आत्मा - परमात्मा की अभेदता में प्राणी आनन्द को सहज रूप में ही प्राप्त कर लेता है। नानक के सुखवाद को उनकी आत्मसिद्धि के आदर्श का एक अभिन्न अंग स्वीकार किया जा सकता है। मोक्षावस्था में दुःख रूपी बंधन समाप्त हो जाते हैं और जीव पूर्ण ब्रह्मानन्द की स्थिति में पहुँच जाता है। हमें इन दोनों नैतिक प्रतिमानों का एक समन्वित रूप देखने को मिल जाता है। आत्मसिद्धि मानव जीवन का साध्य है, आनन्द उसका अनिवार्य परिणाम।

वास्तविक समस्या देवी विधान तथा आत्मसिद्धि के प्रतिमानों के परस्पर सम्बन्धों को निरूपित करने में उत्पन्न होती प्रतीत होती है। देवी विधान के लिये नैतिकता का प्रामाणिक आधार सर्वव्यापक ईश्वरीय इच्छा पर निर्भर करता है जो किसी बाह्य अधिकारिता को स्वीकार करने के तुल्य है। परन्तु आत्मसिद्धि में मनुष्य के परमश्रेय को आधार माना जाता है जिसमें नैतिक प्रतिमान मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति से सम्बन्ध रखता है।

इस सन्दर्भ में हमारा सबसे प्रथम ध्यान "हुकम", "रज़ा" तथा "भाणे" की धारणा की ओर जाता है। गहनता से देखने पर गुरु नानक भी विचारधारा में इन शब्दों का प्रयोग किसी रूढ़ धार्मिक परम्परा की ओर लक्ष्य नहीं करता ये धारणाएँ उनकी रहस्यानुभूति का एक अंग हैं। "जपुजी" में "हुकम" के इस पक्ष की ओर स्पष्ट रूप से संकेत किया गया है :-

हुकमि रजाई चलणा, नानक लिखिआ नालि।[1]

1:- आदि ग्रन्थ, पृ0।

डा० गोपाल सिंह ने "सिखिआ साखि" का अर्थ करते हुए बताया है कि "हुकम" को व्यक्ति की अन्तरात्मा में अंकित हुआ माना जाना चाहिये।[1] अर्थात् परमात्मा के "हुकम" को जान लेने के लिये व्यक्ति को अपनी आत्मा के भीतर झांकने की आवश्यकता है।

आत्म - परात्परता के प्रतिमान से भी देवी विज्ञान की धारणा का विरोध नहीं जान पड़ता। गुरु - वाणी के अनुसार जो "हुकम" को जान लेता है वह व्यक्ति "हारमें" नहीं कर सकता।[2] यहां "हुकम" को जान लेना अपने सीमित अस्तित्व से असीम की ओर जाने का प्रतीक है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गुरु नानक मैस्टिसिज्म में सुखवाद अर्थात् आनन्दवाद, देवी विज्ञान, आत्मसिद्धि तथा आत्म - परात्परता के प्रतिमानों में पर्याप्त मात्रा में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। जहां मोक्ष एवं व्यक्तिगत मौक्ष सिद्धि का परमोद्देश्य, व्यक्ति की आत्मा में विद्यमान ब्रह्मात्मैक्य भावना की ओर प्रेरित करता है तथा एक सर्वोच्च अन्तर्गत मूल्य की उपलब्धि का आधार स्थापित करता है वहां देवी विज्ञान के अन्तर्गत मैस्टिक कर्तव्य को भाव वैयक्तिक मान लिये जाने की चेतावनी भी देता है। "हुकम" के अनुसार कर्म करने की बात करते हुए गुरु नानक ने व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा की बात सुनने पर बल दिया है।

1:- गोपाल सिंह : श्री गुरु ग्रन्थ साहिब दर्शन, पृ० 10

2:- नानक हुकमे जे बुझै ता हउमै कहै न कोइ "

जपजी, पृ० 1

गुरु नानक काव्य का साहित्यिक अध्ययन

सप्तम अध्याय :-

गुरु नानक काव्य : शैली का वैशिष्ट्य

सप्तम अध्याय :-

गुरु नानक काव्य : वैयक्तिक नैतिक मूल्य :-

वैयक्तिक नैतिकता का आधार व्यक्ति का व्यक्तित्व है। व्यक्ति का व्यक्तित्व मूल्यों का गतिशील केन्द्र है, जिसमें अनेक आकांक्षाएँ, सहज मनोवृत्तियाँ, प्रयोजन तथा आदर्श होते हैं। उन्हें हम व्यक्ति के चरित्र का आन्तरिक स्त्रोत कह सकते हैं। इस सन्दर्भ में सबसे पहले व्यक्ति के परमश्रेय की व्याख्या कर लेना अनिवार्य है क्योंकि व्यक्तिगत नैतिकता को निर्धारित करने के लिये उसके परमश्रेय की ही मुख्य भूमिका होती है।

परम श्रेय :-

परम श्रेय मानव - जीवन के सर्वोच्च - ध्येय का सूचक है।[1] गुरु नानक ने भारतीय दर्शन की अनेक मूल धारणाओं को अपने मौलिक दृष्टि - कोण से ग्रहण करते हुए " परम श्रेय " की शाश्वत परम्परा को भी स्वीकार

1:- एन्स. डिक्शनरी आफ फिलोसफी. पृ0 308

किया है जो " मोक्ष " के रूप में प्रचलित है। भारतीय दर्शन में, विशेष रूप से दुःखवाद में मानव जीवन को दुःखमय मानते हुए[1] उसे दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिये "निर्वाण" की कल्पना की गयी है। समस्त भारतीय दर्शन पद्धतियों में संभवतः सबसे अधिक साहित्य "मोक्ष" की आधारा पर है।[2]

भारतीय साहित्य में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को ही सर्वोत्तम माना गया है और उसकी प्राप्ति को मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ अथवा प्रमुख उद्देश्य माना जाता रहा है। यद्यपि मोक्ष के स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है, तथापि एक बात पर सभी सहमत हैं कि मोक्ष उस स्थिति का सूचक है, जब मनुष्य विविध दुःखों अर्थात आध्यात्मिक, अधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मोक्ष मनुष्य के त्रिविधि दुःखों का आत्यन्तिक अभाव है। अधिकांश दर्शन सभी दुःखों के निरोध के उपरान्त पूर्णता में लीन होने की अवस्था मानते हैं। भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने अपने - अपने दृष्टिकोण और अनुभव के अनुसार इस अवस्था को मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य, अपवर्ग, परमपद, परमशान्ति, परमसुख आदि अभिधान दिए हैं।

प्रारम्भ में मृत्यु - भय से छुटकारा पाने को मुक्ति समझा जाता था और इस छुटकारे को प्राप्त कराने में देवताओं को समर्थ माना जाता था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये ही अनेक प्रकार की उपासना - विधियाँ प्रचलित हुईं। उपनिषदों में ज्ञान का महत्व स्वीकार किया गया तथा अज्ञान रूपी बंधन से निवृत्ति और ज्ञान द्वारा जीव और ब्रह्म की अभेद स्थिति को मुक्ति कहा गया। सांख्य के अनुसार जीव और पुरुष का संयोग बंधन है और जीव का पुरुष से अलग होना मोक्ष है। पुरुष से वियोग तभी हो सकता है यदि नए पुरुष का प्रवेश रुक जाये और शरीर में पहले से ही प्रविष्ट पुरुष जीर्ण

1:- शर्मा, आर०एन०, "भारतीय फिलोसफी आफ रिलिजन", पृ० 99

2 "As philosophy and religion, in India can hardly be repeated it is but natural that we should find the idea of an infinite quest for a supreme end which has been expressed in the form of final liberation dominating almost all the systems of thought". Dass-Gupta. S. Development of moral philosophy in India. P.S.

3 डा० सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय: भारतीय दर्शन पृ-67

4 वही पृ-135

5 डा० उमेश मिश्र: भारतीय दर्शन पृ 187

हो जाए।[1] और मत सारे मोक्ष के लिए "निर्वाण" शब्द का प्रयोग करते हैं। न्याय दर्शन में मोक्ष दुःख के पूर्ण निरोध की अवस्था है, से वह "अपवर्ग" कहते हैं। "अपवर्ग" से तात्पर्य शरीर और इन्द्रियों के बन्धनों से आत्मा का मुक्त होना है। जब तक आत्मा शरीर[2] ग्रस्त रहता है तब तक उसके लिए दुःखों का पूर्ण निवारण संभव नहीं है। शरीर, मन सहित छः इन्द्रियां तथा उन इन्द्रियों के छः रूप, रस आदि विषय एवं उनके रूप ज्ञान, आदि छः ज्ञान तथा सुख एवं दुःख, इन इक्कीसों से दुःख उत्पन्न होता है।[3] शरीर से मुक्त होने से आत्मा के केवल दुःखों का ही अन्त नहीं होता, अपितु सुख भी समाप्त हो जाते हैं।

सांख्य - दर्शन में मुक्ति को न्याय के समान "अपवर्ग" कहा गया है। इस मत के अनुसार, पुरुष की प्रकृति से अलग स्थिति "अपवर्ग" है।[4] मोक्ष का अर्थ है पुरुष को निज स्वरूप का ज्ञान होना। जीव को जब यह अनुभूति हो जाती है, उसका शरीर या मन विकारों से प्रभावित होना बन्द हो जाता है और वह केवल उनका साक्षी रूप होकर रहता है। डा० उमेश मिश्र ने "पुरुष" और "प्रकृति" के काल्पित तथा आरोपित सम्बन्ध को "बंधन" कहा है। इसी "बंधन" को दूर करना, "पुरुष" का अपने आप को पहचानना, प्रकृति को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाना ही "विवेक बुद्धि" है। यही "मुक्ति" है।

योग - दर्शन के अनुसार पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना "कैवल्य" है अथवा चिति शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना "कैवल्य" है।[6] जब तक चित्त में विकार और परिणाम होते रहते हैं तब तक उन पर आत्मा का प्रकाश पड़ता रहता है और विवेक ज्ञान के के अभाव में आत्मा उन्हीं में अपने को देखने लगता है। परिणाम स्वरूप वह सांसारिक

1:- डा० सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय: भारतीय दर्शन : पृ० 67
2:- वही, पृ० 135
3:- डा० उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० 187
4:- पुरुषस्यदर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य :।।सांख्यकारिका 56।।
5:- डा० उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० 310
6:- पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।।योग सूत्र 4/34।।

विषयों से सुख - दुःख का अनुभव करने लगता है और उनमें राग - द्वेष के भाव रखने लगता है।[1] यही आत्मा का बन्धन है। इस बन्धन से मुक्ति पाकर आत्म - साक्षात्कार प्राप्त करना योग का प्रमुख उद्देश्य है।

मीमांसकों[2] के अनुसार जागतिक दुःखों से आत्मा के सम्बन्ध के चिरकाल के लिए विच्छेद का नाम "मोक्ष" है। वस्तुतः शरीरावच्छिन्न होकर आत्मा इन्द्रियों की सहायता से बाह्य विषयों का अनुभव करता है। योगदर्शन, भोग - प्रकरण तथा भोगविषय - इन तीन क्लेशों का आत्यन्तिक नाश ही "मोक्ष" है।[3] अद्वैत - वेदान्त - दर्शन का मत है कि जीवात्मा और परमात्मा में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, परन्तु अज्ञान दोनों की अलग - अलग सत्ता समझी जाती है। जब भ्रम का आवरण हट जाता है तब जीवात्मा और परमात्मा की एकता हो जाती है। यही "मुक्ति" अथवा "मोक्ष" है। काश्मीरी शैवमत में आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होना "मुक्ति" है।[4] आत्म ज्ञान का अभाव जागतिक बन्धनों का कारण है।[5]

गीता[6] पूर्ण आत्म - ज्ञान को मोक्ष मानती है क्योंकि जिसने इन्द्रियों, मन और बुद्धि का संयम कर लिया है और जिसका भय, इच्छा और क्रोध समाप्त हो गया है, वह सदैव मुक्त रहता है। योग दार्शनिक में सभी अवस्थाओं से अलग होने से चित्त का निर्मल हो जाना और अज्ञान से उत्पन्न अंधकार रूप मिथ्या गाँठ का खुल जाना ही मोक्ष है।[7] पुराणों में जीव और ब्रह्म की एकता को मुक्ति कहा गया है। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र[8] में निष्काम भाव से भक्ति

1:- डा0 सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय: भारतीय दर्शन, पृ0 189
2:- प्रपंच संबन्धविलयो मोक्ष: । [शास्त्र दीपिका, पृ0 357]
3:- स्वरूप निर्विलयापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्ष: । [शास्त्रदीपिका, पृ0 358]
4:- अत्रैव सम्यक् स्वरूप ज्ञानात् एतो मुक्ति: । प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ0 51
5:- शैवमत, डा0 यदुवंशी, पृ0 173
6:- गीता, 5.28
7:- अज्ञानस्य महाग्रन्थे: क्रियायोगेन यत्क्षयः ।
ब्रह्मात्मैक्यप्रबोधस्य भेदो मोक्ष इति स्मृतः ।। [6/3, 20/17]
8:- शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, 3·2·4

के द्वारा जीव के अन्तःकरण के आत्यंतिक नाश हो जाने से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति को मुक्ति माना गया है। बौद्ध तान्त्रिकों की दृष्टि में चित्त का मुक्त अवस्था स्थित होना ही निर्वाण है।[1] नाथ - पंथी निरंजन पद में मनके लय होने को मुक्ति मानते हैं। इसी प्रकार अन्य भी कई दार्शनिकों एवं विद्वानों ने मुक्ति को मनुष्य के जीवन का सबसे प्रमुख लक्ष्य माना है। सूफी साधकों की "फनेफ" होने की भावना मुक्ति से अनुप्राणित प्रतीत होती है और "फना - बका" में मुक्ति के प्रकाशात्मक रूप को देखा जा सकता है। "कुछ सूफी साधक मानते हैं कि यह अवस्था मृत्यु के बाद ही है, लेकिन कतिपय विद्वान इसी जीवन में इस अवस्था के प्राप्त होने की बात कहते हैं।[2]

इसी प्रकार गुरु नानक ने भी परम श्रेयस के रूप में "मोक्ष" के आदर्श को स्वीकार किया है। गुरु नानक सांसारिक बंधनों से छुटकारा प्राप्त करने को "मुक्ति" मानते हैं।[3] इन बन्धनों को उन्होंने "कूड़ की दीवार" अर्थात् "मिथ्या आवरण"[4] तथा सांसारिक प्रपंचों का भ्रम कहा है।[5] साधना द्वारा इन बन्धनों को काट कर निर्बंध होना ही मुक्ति है। जागतिक प्रपंचों से ऊपर उठकर जिज्ञासु का गुरु के श्रेय से परमात्मा को पहचानना अर्थात् आत्म - ज्ञान प्राप्त करना ही मोक्ष - द्वार है।[6]

गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति के परम श्रेयस् "मोक्ष" के मार्ग में व्यक्ति के मनोविकार सबसे बड़ी बाधा उपस्थित करते हैं। इन मनोविकारों में परम्परागत रूप से काम, क्रोध, लोभ मोह, अहंकार की गणना की जाती है जिनका काव्यात्मक वर्णन पंच चोर, पंच अग्नि, पंच दूत, पंच तस्कर,

---

1:- दोहा कोष, संपादक, डा० बागची, पृ० 24,28

2:- श्री रामपूजन तिवारी, सूफी मत साधना और साहित्य, पृ० 304

3:- मुकति भई जीअ गुरि खोलहे सबदि सुरति पति पारं। मलार पदे 4/3 पृ० 1255

4:- बिन कूड़े तुटे पालि। आदि ग्रन्थ, पृ०।

5:- बिनु गुर सबदे मुकति न होई पचपचु करि भरमोई है। मारू सोलहे 4/10 पृ० 1024

6:- गुर मिलिऐ जानु पछानीऐ जगु नानक मोख दुआरु।

मारू, अष्टपदी 2/8 पृ० 1010

"पंच दोख" आदि विभिन्न उपमानों एवं काव्य - प्रतीकों के के माध्यम से किया गया है।[1] इन मनोविकारों की काव्य - शैली गुरु भ्यानकता प्रदर्शित करते हुए इनका त्याग करने का उपदेश दिया गया है।[2]

गीता में इन विकारों का बड़ा विशद वर्णन किया गया है।[3] भगवान श्री कृष्ण ने गीता में इन पाँच मनोविकारों की क्रमिक उत्पत्ति तथा इनका भयानक परिणाम वर्णित किया है। उनका कथन है कि इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने से उनसे अनुराग पैदा हो जाता है, अनुराग के कारण काम पैदा होता है, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति का भ्रम तथा उससे बुद्धि का विनाश हो जाता है। बुद्धि विनाश से व्यक्ति नष्ट हो जाता है।[4] गुरु नानक की वाणी में इन पाँच विकारों का विस्तार सहित वर्णन किया गया है।

काम :-

इन पाँच मनोविकारों में "काम" प्रमुख है। "काम" का विकार रूप में गुरु नानक वाणी में बड़ा विस्तृत वर्णन किया गया है परन्तु इसके अर्थ तत्व के सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। "काम" को व्यक्ति के मैतिक सन्तुलन को भंग करने वाला बताया गया है। गुरु नानक का कथन है कि काम, क्रोध आदि इस शरीर को उस प्रकार गला देते हैं जिस प्रकार सोहागा सोने को द्रवित कर देता है।[5] इस अर्थ में "काम" अत्यन्त घातक वृत्ति है। एक अन्य स्थ

1:- "एक नगरी पंच चोर वसीअले" आदि ग्रन्थ, पृ० 903
काइआ आलंबु मनु सिधि लोभा पंच अग्नि तिसु लागि रही। वही, पृ० 990
"पंच दूत मुहरि सैंतारा" " आदि ग्रन्थ, पृ० 113
"पंच भूत सबल है देही" वही पृ० 983

2:- सिआपता सिआपतु नीका कामु क्रोधु लोभु सिआपता॥ वही, पृ० 1018

3:- गीता 16/21

4:- 2/62,63 वही,

5:- काम क्रोध काइआ का गाले। जिउ कंचन सोहागा ढाले॥" वही, पृ० 932

रूप पर गुरु - कवि ने "छिटे कामु न पुछै जाति" कहकर नाम की प्रबल शक्ति को प्रदर्शित किया है। गुरु वाणी में सर्वत्र काम को निन्दनीय घोषित किया गया है। गुरु अर्जुन देव ने काम का बड़ा भयानक स्वरूप चित्रित किया है। उनका कथन है कि काम के कारण व्यक्ति को नर्क में निवास करना पड़ता है अनेक योनियों में भटकना पड़ता है। काम मन को क्षतीभूत करते हुए जप,तप,शील को नष्ट कर देता है।[1] गुरु नानक वाणी में काम सम्बन्धी दृष्टिकोण के सन्दर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि गुरु -कवि काम को परकीया सम्बन्धों में ही निन्दनीय मानते हैं। वे स्वयं भी गृहस्थी थे तथा दाम्पत्य - जीवन के पवित्र सम्बन्धों में विश्वास रखते थे। उनका धर्म प्रवृत्ति मार्गीय था। उनकी दृष्टि में परकीया काम सम्बन्ध ही अनैतिक हैं :-

अवरी सुतु सेजड़ा परत्रिअ/परधन रतु ।
आदि ग्रन्थ, पृ० 472

परत्रिअ रूप न पेखै नेत्र
वही, पृ० 278

तजहि नारि पराईआ भुजि अंदरि लालणी ।
आदि ग्रन्थ, पृ० 319

क्रोध :-

क्रोध मनोविकार को निन्दनीय घोषित करते हुए गुरु - वाणी में बताया गया है कि क्रोध जड़ों की जड़ है, इसे कभी क्षमा नहीं जाती, इसने सांसारिक जीवों को खा में कर रखा है, इसके सामने लोग मन्दर के समान नाचते हैं। क्रोध के क्षतीभूत हो जाने वाले जीवों को कठोर दंड दिया जाता है तथा वे अधम स्थिति में रहते हैं।[2] एक अन्य स्थल पर गुरु नानक अपने मौलिक

1:- " हे काम नख शिखाम" पृ० 1358
2:- आदि ग्रन्थ, पृ० 150

चिन्तन में क्रोध के विकराल रूप का चित्रण करते हैं ,[1] उनके अनुसार काम तथा क्रोध अन्तर्मन को पुरा लेते हैं[2] तथा काम व क्रोध शरीर का विनाश कर देते हैं ।[3] क्रोध को "जल का मूल" कहा गया है ।[4]

लोभ :-

लोभ की भी पाँच विकारों में गणना की गयी है । गुरु नानक ने अनेक स्थलों पर लोभ से जीव को सावधान करते हुए बताया है कि यह लोभ ,सुख का बोध कराता है परन्तु अन्ततोगत्वा उसे मिट्टी में मिला देता है ।[5] लोभ पागल कुत्ते की भाँति जीव को पागल बना देता है ।[6] जिन के हृदय में लोभ रूपी विकार उत्पन्न हो जाता है वे परमात्मा को भूल जाते हैं ।[7] लोभी एक ऐसा पागल कुत्ता होता है जो चारों ओर भागता है, तथा भक्ष - अभक्ष का भक्षण करता है ।[8] लोभी का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए । अन्त में लोभी अंकित होता है तथा उसका जन्म व्यर्थ चला जाता है ।[9] इस प्रकार गुरु नानक ने अनेक अन्य स्थलों द्वारा लोभ का भयावह रूप चित्रित किया है ।

मोह :-

व्यक्ति के मैत्रिक विकास के लिए गुरु नानक ने मोह का भी खंडन किया है । मोह, ममता, ममत्व सांसारिक दुःखों का मूल कारण है ।

1:- आदि ग्रन्थ, पृ0 630
2:- कामु क्रोधु अंतरि बहु चिरे , आदि ग्रन्थ, पृ0 332
3:- कामु क्रोधु काइआ का गाले । आदि ग्रन्थ, पृ0 932
4:- कामि दुरी संसारि बाधे मधीऐ " वही, पृ0 142
5:- तू काइआ मे रलदो देखी जिउ वह उपर आवै । वही पृ0 154
6:- लोभ लहरि सभि सुकानु छडुवे " पृ0 903
7:- लोभ विकार जिस मन लागा हरि विसारिआ पुरखु वीरा , आ:ग्र : पृ0711
8:- "जिउ कुतु बहुरिआ" आदि ग्रन्थ, पृ0 30
9:- मुह काले तिस लोभीआ जासनि जनमु गवाइ । वही, पृ0 1417

गुरु नानक देव का कथन है कि मोह, प्रीति स्वाद है, अंधे है, दाग है।[1] मोह के कारण बार बार योनियों में भटकना पड़ता है। इसलिए मोह मिथ्या है, भ्रम है।[2]

अहंकार :-

गुरु नानक काव्य में अहंकार का वर्णन हउमे के अन्तर्गत किया गया है। गुरु नानक ने "हउमें" को एक रोग बताया है। उनका कथन है कि हउमे रोग बहुत भयानक और बुरा है। सर्वत्र उसकी वेदना का विस्तार है। उसके प्रभाव के फल स्वरूप पाँच महाभूत रोगी हैं, माता - पिता, शरीर और कुटुम्ब भी रोगी हैं। त्रिलोकों तक उसके रूग्ण हैं। मंदिर, समुद्र, खंड, पाताल सभी रोगी हैं। छः प्रकार के भेष - धारी योगी, कई प्रकार के सही - सिद्धी भी हउमे के कारण रोगी हैं। ये रोग इतने विस्तृत और गंभीर हैं कि वेद और असंख्य ग्रन्थों में किसी एक का भेद भी नहीं पा सकते। दृष्टिदोष भोजन करने वाले, कंद मूल खाने वाले, तीर्थ - यात्रा करने वाले, पठन - पाठन करने वाले भी इन रोगों से मुक्त नहीं, क्योंकि कर्म काण्डों और तपश्चर्या - क्रियाओं से तो उल्टा "दुविधा" बढ़ती है। इस प्रकार व्यक्ति हउमे के रोगों में ग्रस्त होकर माया का दास बन जाता है।[3]

"हउमें" का स्वरूप बड़ा व्यापक है, अतः उसके प्रकारों अथवा भेद - प्रभेदों सम्बन्धी कुछ निश्चय का पाना सरल नहीं है। मनुष्य की सभी वासनाएं प्रकारान्तर से हउमे से ही प्रेरित होती हैं, अतः वासनाओं की अनन्तता ही के सदृश हउमे के भेद भी अनन्त हैं। डा० जगदीश मिश्र ने स्थूल दृष्टि से सात प्रकार की "हउमें" का उल्लेख किया है - धार्मिक तथा आध्यात्मिक अहंकार,

---

1:- जेता मोहु परीति सुआद। तेता का लउ दागा दाग।। आ.ग्र: पृ० 662
2:- मोहु कूड़ै मोहु सभ कार। मोहु तुम तजहु सची वेपरवा। वही पृ० 356
3:- भैरउ, अष्टपदी 11/9, पृ० 1153

शिक्षागत अहंकार, वर्णकर्म और वर्ण सम्बन्धी अहंकार, धन - सम्पत्ति अहंकार, जाति सम्बन्धी अहंकार, परिवार सम्बन्धी अहंकार, रूप - यौवन सम्बन्धी अहंकार।[1]

गुरु नानक देव ने अपने मौलिक व्यक्तित्व के द्वारा के दुष्परिणामों से बचने के लिये सबसे पहले द्वारा की विभीषिका का वर्णन किया है। उनका कथन है कि द्वारा से सुख की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि मनमत अथवा द्वारा दुःख अथवा असत्य है। वास्तविक सत्य केवल परमात्मा ही है। जो व्यक्ति द्वारा के फलस्वरूप अपनी स्वतन्त्र सत्ता मानने लगते हैं वे अपने अस्तित्व के फलस्वरूप नष्ट हो जाते हैं। इस संसार में द्वारा से मुक्त होकर वास्तविक साधना सही कर सकता है, जिसके भाग्य में ऐसा लिखा गया हो।[2] गुरु नानक ने द्वारा करने वाले व्यक्ति के लिए परमार्थ - सत्य को समझना असंभव बताया है, क्योंकि द्वारा से सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। मैं मैं करता हुआ जो मरता है, वह भला क्या प्राप्त कर सकता है।[3] द्वारा का परिणाम जीवन है और जीवन में जीव व्यक्ति बार बार जन्म धारण करता है।[4] वस्तुतः गर्व करना कभी ठीक नहीं।[5] गउड़ी राग की नौवीं अष्टपदी में गुरु नानक ने गर्व को संसार की विशेष बुराई बताया है। अपने कथन की पुष्टि के लिये इतिहास और पुराण के उदाहरण पर गुरु नानक ने स्पष्ट किया है कि प्रह्लाद ने अभिमान किया और परमात्मा का स्मरण न किया, परन्तु जब देवों के चोरी हो जाने की स्थिति में वह पीड़ा, तब मन में पश्चात्ताप करने लगा। इसी प्रकार बलि राजा माया के प्रभाव के फलस्वरूप बहुत अहंकारी हो गया, परन्तु गुरु की शिक्षा न मानने के कारण उसे पाताल में जाना पड़ा। गुरु नानक ने इसी प्रसंग में हरिश्चन्द्र, हिरण्यकशिपु, रावण, सहस्रबाहु, सूखेत्र, महिषासुर, जरासंध, कालयवन, रक्तबीज, कालनेमि, दुर्योधन, उग्रसेन, कंस, केशी, चाणूर आदि अहंकारी

1:- नानक बाणी, पृ0 52-55

2:- द्वारा करिआ मत सुख होवइ मनमति दुखी सदा सोइ।
सबद सिखहु भाई हो। सो कमावै धुरि लिखिआ होइ। गउड़ी अष्टपदी 4/2 पृ0 222

3:- गउड़ी, अष्टपदी 13 आदि ग्रन्थ, पृ0 226-27

4:- "द्वारा जीअ जंत्र भरमाये।" गउड़ी अष्टपदी 13/6 वही, पृ0 227

5:- गउड़ी पदे 10/2 वही, पृ0 154

व्यक्तियों के विनाश के मूल कारण की ओर संकेत करते हुए बड़े कलात्मक ढंग से व्यक्ति को गर्व अथवा अहंकार त्याग देने की प्रेरणा दी है। गुरु नानक का पूर्ण विश्वास है कि जो व्यक्ति अपने - आप को नहीं जानता, वह परमात्मा के द्वार पर शोभित नहीं हो सकता।[1] क्योंकि वाद-विवाद और अहंकार के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।[2] मन को मारने से ही सुखदायक नाम प्राप्त होता है।

नैतिक जीवन के लिये गुरु नानक के अनुसार हमे का विनाश अनिवार्य है परन्तु परमात्मा की कृपा से ही हमे का विनाश किया जा सकता है।[3] परमात्मा की कृपा से गुरु का साक्षात्कार होता है और गुरु के मिलने से अन्त अथवा हमे का विनाश हो जाता है।[4] हमे के नष्ट होने पर शोक - संताप मिट जाता है।[5] हमें के टूटने के बिना सिद्धावस्था को प्राप्त करने में कोई साधना कभी सहायक नहीं होती। हमे तभी टूटती है जब गुरु से भेंट होती है।[6]

हमे के विनाश के लिए गुरु नानक ने गुरु - शब्द पर भी बहुत बल दिया है। जीव की उत्पत्ति के लिये कारण - रूप हमे का विष तभी नष्ट हो सकता है, यदि गुरु का शब्द मन में बस जाए।[7] गुरु के शब्द रूपी अनहद बानी की प्राप्ति से हमे का तुरन्त विनाश होता है।[8] गुरु के शब्द द्वारा हमे को जो मार लेता है, वह फिर दूसरी बार नहीं मरता। क्योंकि गुरु की मति द्वारा जो - जीवन रूप परमात्मा मन में बस जाता है,

---

1:- जपु, पउड़ी 21 आदि ग्रन्थ, पृ0 4-5

2:- पउड़ी, अष्टपदी 13/4 आदि ग्रन्थ, 226

3:- जा हरि प्रभि किरपा धारी। ता हमे विचु मारी। रामकली पदे 10/1 आ:ग्र: ,पृ0 879

4:- पउड़ी अष्टपदी 13/6 आ:ग्र:, पृ0 226

5:- हमे गुरि खोई पवणु होई चूके सोग संतापे।। तुखारी छंत 5/4 आ:ग्र:,पृ0 1111

6:- आसा, पदे 16/2 आदि ग्रन्थ, पृ0 353

7:- हमे विचु जाए जापु, उपाजा सबदु ओ विचु जाए। माझ, अष्टपदी आ:ग्र: पृ0 1009

8:- अनहद बाणी पाईऐ तह हमे होइ विनासु। सिरी पदे 18/3 वही,पृ0 21

जिस के फलस्वरूप वह व्यक्ति सम्पूर्ण कुल का उद्धार करने योग्य हो जाता है।[1] हउमै को चौपड़ के उपमान द्वारा चित्रित करते हुए गुरु नानक ने समस्त जगत को इसमें पराजित होते बताया गया है और केवल गुरु के शब्द पर विचार करने वाला ही इस बाजी में विजयी हो सकता है।[2]

इस प्रकार गुरु - बाणी हउमै के विनाश से अनेक उपलब्धियों का भी उल्लेख करते हैं। इससे गुरु में आस्था दृढ़ हो जाती है, तथा विरोधी शक्तियाँ व्यक्ति के अनुकूल हो जाती हैं।[3] जो व्यक्ति अपने भीतर से अहं भावना को नष्ट कर देता है, वह सदा सुखी जीवन व्यतीत करता है और हरि के अंक में समा जाने के कारण उसे कभी वियोग और वियोग का अनुभव नहीं करना पड़ता।[4]

हउमै के वास्तविक रूप को अन्तर्दृष्टि के द्वारा समझ लेने से साधक को परमात्मा के आदेश का बोध होता है,[5] परमपद की प्राप्ति होती है[6] और वह जिज्ञासा के द्वारा पति-परमात्मा में समा जाने का सुअवसर जिसता है।[7] इस प्रकार अंतःकरण में परमात्मा विलास करता है और शरीर रूपी घर में सहजावस्था व्याप्त होती है। परमगति की प्राप्ति से भ्रम दूर हो जाता है और निर्भय परमात्मा में सच्ची लगन लग जाती है।[8] गुरु की शिक्षा के द्वारा जब हउमै नष्ट हो जाती है तब साधक दृष्टि (हरि) के नाम की आराधना करता है और परमसुख प्राप्त करता है[9] अर्थात मुक्त हो जाता है।[10]

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1:- हउमै मेरा मैंरी गइ मरि जमे सारोधार। गुर के सबदे से मरे फिरि न मुही हरि।
गुरमती जा जीवतु मरि रहे सभि कुल उधारणहार। मारू,अष्टपदी 1/4 पृ0 1009

2:- आसा, अष्टपदी 22/3 पृ0 422

3:- भवी सरीरि उबरी हउमै गुरु वरादु। दुख को फिरि ढुकरी सुखिआर का वेसाहु
सुखीए सदा सोहणे जिन्ह अंदरु गवादु। तिन्ह सोगु किसाहु कदे
मती जो हरि के अंक समाइ, मलार की वार श्लोक 7 पृ0 1289

4:- हउमै खुसे सा दरु खुसे। आसा की वार, श्लोक 13, आ:ग्र: ,पृ0 466

5:- हउमै जाइ परमपदु पाईऐ। गउड़ी,अष्टपदी 13/रहाउ, वही, पृ0 226

6:- हउमै जाई ता जीउ समाई। सा कामणि पिरहि सचि पाई। सूही,अष्टपदी 1/6 वही,पृ0 750

7:- गउड़ी, अष्टपदी, वही पृ0 226
8:- आसा की वार, श्लोक 6 वही पृ0 140
9:- मारू अष्टपदी 1/4 पृ0 1153

हमे के नष्ट होने पर शरीर रूपी बेला सच्चा सार्थक सिद्ध हो जाता है, अर्थात् जन्म सफल हो जाता है। गुरु जरा हमे के नष्ट हो जाने से शोक एवं दुःख नष्ट हो जाते हैं। जीवात्मा की ज्योति परमात्मा की शाश्वत ज्योति में लीन हो जाती है और जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेती है। लोक परलोक में वह सुखी और सशक्त हो जाता है। उसकी हर प्रकार की रिक्तता समाप्त हो जाती है।[1] हमे से विमुक्त साधक जीवन्मुक्त की पदवी प्राप्त कर लेता है। उसको पुनः दुःखावस्था दुःखी नहीं करती, क्योंकि उसकी निज सत्ता सत्य में लीन रहती है।[2]

"कर्म" का स्वरूप :-

गुरु देव ने व्यक्ति के परम श्रेय के लिये कर्मों के महत्व पर विशेष बल दिया है। गुरुवाणी के रचयिता कर्म योगी थे। सांसारिक जीवनयापन करते हुए व्यक्ति के नैतिक अभ्युत्थान के लिये प्रयत्न शील थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने काव्य में कर्मों का विस्तार सहित वर्णन किया है। गुरु नानक ने निर्गुण ब्रह्म का जो चित्रण किया है, उसमें कर्म का, उन्होंने अभाव स्वीकार किया है[3] परन्तु जब परमात्मा के हुक्मानुसार शून्यता की अवस्था से अवतारों, देवताओं, दैत्यों, आदि की रचना हुई, तभी कर्मों की रचना भी हुई क्योंकि सभी परमात्मा द्वारा निर्धारित कर्मों के अनुसार ही कार्य करते हैं।

फलभोग की दृष्टि से कर्म तीन प्रकार बताये गये हैं :- संचित, प्रारब्ध तथा वर्तमान। पूर्व जन्म कर्म "संचित" कर्म है।[5] पूर्वजन्म के जिन कर्मों का फल -

---

1:- तुखारी, छंत 4/3 पृ० 1111

2:- जरा जोबि न सकई सचि रते बिगत बाहे। जीवन मुकतु सु आखीऐ जिसु बिबहु हुकमु जाहे॥ मारू, अष्टपदी 2/6, वही, पृ० 1010

3:- करम धरम नहीं भाखदा माखी। मारू, सोलहे 15/8 वही, पृ० 1028

4:- मारू, सोलहे 17/2 पृ० 1022

5:- अनेक जन्म संजातं प्राक्तनं संचितं स्मृतम्। ॥देवी भागवत पुराण 6/10/9॥

भोग हो रहा है वे "प्रारब्ध" कर्म हैं।[1] जो कर्म इस जन्म में एकत्रित हो रहे हैं वे "वर्तमान कर्म" हैं।[2] "वर्तमान" कर्म आगामी जन्म के लिए "संचित" कर्म बनते जाते हैं और फल भोग के समय ये प्रारब्ध कर्म कहे जाते हैं। इस प्रकार ये कर्म एक चक्कर में घूमते हुए फल - वर्तन करते हैं। इन सब कर्मों की वासनाएँ जन्मान्तरों तक बनी रहती हैं और जब तक चित्तवृत्तियों का आत्यंतिक निरोध नहीं हो जाता, तब तक जीवन के कर्म - जन्य संस्कार बने रहते हैं। "संस्कार" की सामान्य रूप से व्याख्या करते हुए डा० भारद्वाज लिखते हैं कि जिस प्रकार रेत पर चलने से पैरों के चिन्ह पड़ जाते हैं, उसी प्रकार मन में से गुजरते हुए संकल्प अपने चिन्ह छोड़ जाते हैं। चिन्ह रूप संस्कार पुनर्चिंतन से गहरे होकर आदत बन जाते हैं और आदतें ही धीरे धीरे पक कर स्वभाव का रूप धारण करती हैं। यह स्वभाव ही हमारे दुःख - सुख का कारण बनता है। जितनी क्रियाओं में हम सब प्रवृत्त होते हैं, वह अधिकतर स्वभाव के कारण होती है और स्वभाव, गत- कर्मों का फल है। इस प्रकार गत -कर्म स्वभाव के द्वारा हमारे आगामी जीवन पर प्रभाव डालते हैं और इनके जाल में तो मनुष्य का निकलना कठिन हो जाता है।[3] वस्तुतः "किरत" कर्म जिस प्रकार जीव को कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं, उसी प्रकार वह कर्म में प्रवृत्त होता है।[4] गुरु नानक ने गत जन्मों में किए गए कर्मों वाले परम्परागत भाव अर्थात् लिंग - शरीर को "किरत" कर्म के द्वारा अभिव्यक्ति की है। गुरुदेव का मत है कि किरत- कर्म किसी प्रकार भी मिटाए नहीं जा सकते।[5] राम जैसे अवतार भी इन कर्मों को मिटा नहीं सके और इनके फल स्वरूप उन्हें

1:- संचितानां पुनर्भोग्यात्समादृत्य क्रियोद्यतः। देहारम्भे च समये कालः प्रेरयतीव तत्। प्रारब्धं कर्म विदुषां ... [देवी भागवत पुराण 6/10/13-14]

2:- क्रियमाणं च यत्कर्म वर्तमानं तदुच्यते। देवी भागवत पुराण 6/10/12

3:- गुरमत निर्णय, पृ० 23।

4:- जिउ जिउ किरतु चलाए तिउ चलीऐ तउ गुण नाही अंतु हरे।
मारू, पदे 3/1 पृ० 990

5:- किरतु पइआ मनि मेटे कोइ। गउड़ी, पदे 10/1 पृ० 151
जनम मरणु न सुझई किरतु न मेटिआ जाइ [मारू, अष्टपदी 2/3] पृ० 1009

सीता और लक्ष्मण का वियोग सहन करना पड़ा।[1] "आरतमाहा" नामक कृति के आरम्भ में परमात्मा को सम्बोधन करते हुए गुरु नानक का कथन है कि विगत - कर्मों के अनुसार प्रत्येक जीव दुःख - सुख सहन करता है।[2]

मनमुख व्यक्ति इन अंकित कर्मों के करने से और भी अधिक दुःख पाता है और गुरमुख व्यक्ति को इनके करने से छुटकारा मिलती है।[3] कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने सांसारिक रूप में ध्यान न लगा सकने के कारण आवा गमन के चक्कर में पड़े रहते हैं और विगत - कर्मों में ही पापार्जन करते रहते हैं। उन अंधों को कोई सुख - सुख नहीं होती, वे लोभ और अहंकार में फंसे रहते हैं।[4] सच तो यह है कि समस्त जीव अपने विगत - कर्मों के अनुसार नाचते रहते हैं।[5] कर्मों के फलभोग के समय यही प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं।

वस्तुतः गुरु नानक ने परमात्मा को ही कर्मों का फल प्रदान करने वाला बताया है। उसके दरबार में कोई हेर - फेर नहीं होता। शुभ कर्म करने वालों का उद्धार होता है और बुरे पापियों का तिरस्कार होता है।[6] परन्तु अहंकार वश कर्म करने में अपने आप को स्वतन्त्र समझने वाला व्यक्ति दुष्कर्मों के फलों को भोगता नहीं जानता।[7] गुरु देव ने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है कि मनुष्य जो दुःख - सुख भोगता है, वह अपने पूर्वजन्म के किए हुए विगत-कर्मों अथवा प्रारब्ध -कर्मों के परिणाम स्वरूप है। उसका दोष किसी अन्य को नहीं

1:- श्लोक वारां ते वधीक , 26 , पृ0 1412

2:- तू सुणि विगत करंमा पुरबि न कमाइआ।
सिरि सिरि सुख सहंमा देहि तू तू भणा। तुखारी, बारह माहा, 1,पृ0 1107

3:- रामकली, पदे 16/3 आदि ग्रन्थ, पृ0 156

4:- मारू, सोलहे 9/4 वही, पृ0 1024

5:- पहिरि विगति नचे सभु कोइ। आसा की वार, श्लोक 10 पृ0 467

6:- आसा की वार, पउड़ी 2, वही, पृ0 463

7:- कउड़ा कोई न मागै मीठा सभ मागै।
सभु कोइ मीठा मंगि देखे जेवंमे भावै सो करे। रामकली, ओअं 1/4 वही, पृ0 966

देना चाहिए। अपनी इच्छानुसार किये कर्मों का कठोर दुःख रूपी फल स्वयं ही खाना पड़ता है।[1]

इस प्रकार कर्मों की सैद्धान्तिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए गुरु-कवि ने अपने नैतिक व्यक्ति के परम श्रेय की उपलब्धि के लिए उसे अशुभ कर्मों के प्रति पूर्णतया सेतावनी दी है। कर्मों के अन्तर्गत अशुभ कर्म वे हैं जो मनुष्य को सांसारिक बंधनों में डालते हैं, जो भक्ति और ज्ञान में बाधा प्रस्तुत करते हैं, जिनको करने से मन विषय वासनाओं में जकड़कर माया की शक्ति को ओर बढ़ता है और जिनके करने से आत्मा गमन का चक्कर चलता रहता है। अशुभ कर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति के लिये गुरु नानक ने प्रायः "मनमुख" संज्ञा का प्रयोग किया है। उनका कथन है कि मनमुख व्यक्ति दुख में जलता है और अंधकार में नष्ट होता है। प्राणी को परनिंदा ईर्ष्या, काम, क्रोध, अहंकार, लपटता आदि को छोड़कर गुरु की शरण में जाना चाहिए, तभी वह संसार से तर सकता है।[2]

इस प्रकार गुरु नानक अशुभ कर्मों का खण्डन करने के साथ साथ उन आदर्श कर्मों को प्रस्तुत करते हैं जिनको अपनाते हुए व्यक्ति का नैतिक अभ्युत्थान हो सकता है और व्यक्ति अपने परम श्रेय को उपलब्ध करने की ओर अग्रसर हो सकता है। गुरु नानक क्योंकि आध्यात्मिक साधक थे, इसलिए उनकी वाणी में आध्यात्मिक उन्नति एवं विकास में सहायक सिद्ध होने वाले कर्मों पर ही बल दिया गया है।[3] अध्यात्म कर्मों पर अत्यधिक बल देने का मूल कारण यह है कि ऐसे कर्म करने से ही मनुष्य सच्चा हो सकता है। इसके भिन्न रूपों द्वारा मनुष्य कच्चा है। वह मुक्ति के भेद को नहीं जानता।[4]

अध्यात्म - कर्मों के स्वरूप पर गुरु नानक ने अनेक स्थलों पर प्रकाश डाला है। यदि उन सभी उक्तियों का एक रूप में समीकरण किया जाये तो

1:- जो दीसु न देऊ किसे दीसु करंमा आपणिया।
जो मे कीआ सो मै पाइआ दोसु न दीजै अवर जना।। पट्टी पृ0 433

2:- माझ , सोलहे 6/6-8 आदि ग्रन्थ, पृ0 1026

3:- अध्यातम करमे करे दिनु राती। निरमल जोति निरंतर जाती।
माझ , सोलहे 18/9 आदि ग्रन्थ, पृ0 1030

4:- अध्यातम करम करे ता साधा। मुकति भेदु किआ जाणे काचा।।
गउड़ी, अष्टपदी- वही पृ0 223

आध्यात्मिक कर्मों का विवरण इस प्रकार होगा - काम, क्रोध, लोभ मोह आदि को मारना,[1] हृदय में सत्य को धारण करना, गुरु के शब्द की भिक्षा मांगना, परमात्मा के भय में रहना,[2] गुरु कृपा में दृढ़ विश्वास रखना[3] और गुरु - सेवा करना,[4] अहंकार को मारना,[5] गुरु की शरण में जाना, सत्संगति में हरि नाम का यश कर्म करना,[6] हरि गुणों का गायन करना,[7] परमात्मा के हुक्म और रज़ा में चलना[8] आदि। परन्तु गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित अध्यात्म कर्मों की सीमा निश्चित करना सरल नहीं है। वस्तुतः परमात्मा की प्राप्ति के सम्बन्ध में अहंकार - रहित जो कर्म भी किया जाए, वह अध्यात्म कर्म है। पुण्य, दान, स्नान, पूजा, अर्चा आदि शुभ कर्मों के अन्तर्गत न रखे जा सकते हैं, यदि वे रूढ़ और सात्विक भाव से किये जायें।

अनुग्रह :-

व्यक्ति के नैतिक विकास के सन्दर्भ में गुरु नानक की वाणी में वर्णित भक्तानुग्रह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गुरु - भक्ति में सर्वत्र बड़ी दृढ़ता से इस मान्यता की स्थापना की है कि परम श्रेयस् की प्राप्ति केवल उसकी अपनी कृपा, सतगुरु अथवा करम से ही संभव है।[9] कर्मों के फल स्वरूप केवल मनुष्य जन्म

1:- मारू, सोलहे 21/1 आदि ग्रन्थ, पृ० 1032

2:- मानस जिन्ह मनि भउ तिन्ह । मन भाउ। आसा की वार, श्लोक 10 वही, पृ० 467

3:- गुर पर सादी हरि पाईऐ मनु को भरमि भुलाहि। रामकली अंजुलि 47 वही, पृ० 936

4:- गुर परसादि परमपदु पाए। गउड़ी, अष्टपदी, वही, पृ० 223

5:- गउड़ी अष्टपदी, आदि ग्रन्थ, पृ० 224

6:- मारू, सोलहे 6/8 वही, पृ० 1026

7:- आसा, अष्टपदी 7/5 वही, पृ० 414

8:- जपु, पउड़ी। वही, पृ०।

9:- करमि मिले ता पाइये हरि सिमरति कुमु सुआर।
आसा की वार, श्लोक 8, आ:ग्र:, पृ० 465

सेवा है, परन्तु प्रभु की कृपा से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] पूर्व कर्मों से भले ही भक्ति प्राप्त हो जाये, परन्तु सद्भागय से उदार परमात्मा की कृपा-दृष्टि से ही सेवा हो सकता है।[2] परमात्मा अपनी कृपा - दृष्टि से मुक्ति प्रदान करता है और सेवक व्यक्ति को उसकी सेवा के उपलक्ष्य में प्राप्त हुए सुख में रखता है।[3] उसकी कृपा - दृष्टि द्वारा ही मुक्ति और संयोग सुख की उपलब्धि हो सकती है।[4] प्रभु की कृपा से गुरु के शब्द की प्राप्ति होती है। आशाएं, आकांक्षाएं और अहंकार आदि विकार शब्द द्वारा नष्ट हो जाते हैं।[5] शब्द का शरीर में निवास होता है और मनुष्य के सभी भीतरी भ्रम मिट जाते हैं।[6] शांति की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।[7] इससे अतिरिक्त, प्रभु की कृपा से प्रामाणिकता का ऐसा चिन्ह प्राप्त हो जाता है जिससे व्यक्ति पुनः विचलित नहीं होता।[8]

परमात्मा की कृपा - दृष्टि से जो वंचित हैं, उनका न तो मन दान में रुचि लेता है और न ही वे नाम की आराधना करते हैं।[9] वे कहीं भी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाते।[10] सच तो यह है कि यदि परमात्मा अपनी कृपा दृष्टि उलट दे तो बड़े - बड़े आडम्बरों को धिक्कारे का जीवन व्यतीत करना

1:- करमी आवै कपड़ा नदरी मोखु दुआरु। जपु पउड़ी 4, आदि ग्रन्थ, पृ0 2

2:- नानक करमी होवती नदरि तेवाए पारि। सारंग, श्लोक 16 वही, पृ0 1246

3:- सुख सेजा अंदरि थ्रविये आपणी नदरि करहि निहालु जीउ। सिरी, जोगी अंदरि 112 पृ0 71

4:- नदरि प्रभु मे हटीए नदरी मेलि मिलाइ जीउ। सूही, अष्टपदी 2/6 वही पृ0730

5:- नानक नदरि करे सो पाए। आस अंदेसे तेरे भागे सहजि समाए। आसा की वार, श्लोक 17 पृ0 469

6:- नदरि करे सबदु वसै मनि तनि सचु भरमु गवाए। रामकली, सिध गोसटि 39 पृ0 944

7:- नदरि करे तां संजमा चलै। माझ की वार, पउड़ी 26 पृ0 150

8:- करमि पवै नीसानु न छोडवा। माझ की वार, पउड़ी 26 पृ0 150

9:- नानक नदरी बाहरे, बाहरि दाति न माह। सिरी, पदे 4/4 वही, पृ0 15

10:-नानक नदरी बाहरे अहि न पाहहिं मानु। सूही, श्लोक 9 पृ0 789

पड़ता है। केवल इतना ही नहीं, उन्हें द्वार द्वार पर भिक्षा मांगने पर विवश होना पड़ता है।[1] ऐसे व्यक्तियों की कोई सार तक नहीं पूछता।[2] इसका तात्पर्य यह नहीं कि परमात्मा की कृपा किसी प्रकार के अन्याय पर आधारित है, अपितु गुरु नानक के अनुसार यह कृपा - दृष्टि केवल उन्हीं के ऊपर होती है जो सत्य मार्ग के अनुगामी होते हैं। जो सत्य मार्ग को त्याग कर कुमार्ग पर चलते हैं, वे सदा के लिए परमात्मा की कृपा से वंचित हो जाते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों के सन्दर्भ में हमने देखा है कि प्रसाद और कृपा के स्थान पर कई स्थलों पर गुरु नानक ने "करम" शब्द का प्रयोग भी किया है। "करम" अरबी का शब्द है और इसका सीधा रूप में व्यावहारिक अर्थ है - मेहर, इनायत, कृपा, दया, अनुग्रह, फ़ज़्ल। "करम" करने वाले {कृपालु} को "करीम" कहा जाता है। अल्लाह के लिये करीम शब्द कुरान में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है, परन्तु "करम" शब्द का प्रयोग उक्त अर्थों में कुरान में नहीं हुआ। परवर्ती इस्लामिक साहित्य में इसका प्रयोग अवश्य हुआ है। "करम" के बहुवचन रूप को "करामात" कहा जाता है। अपने विशेष अर्थों में करामात प्रभु की ओर से संतों के परित्राण और सहायता हेतु की गयी कृपामयी चमत्कार प्रधान क्रिया है।[3] वैसे तो समस्त इस्लामिक विचारधारा में "करम" की भावना पर बहुत बल दिया गया है परन्तु इस्लाम के रहस्यवादी सूफी साधकों में "करम" {फ़ज़्ल} को सत्य सिद्धि का एक मात्र उपाय माना गया है। अल्लाह के अतिरिक्त रसूल और मुर्शिदों की कृपा को भी महत्व दिया गया है।

परमात्मा की कृपा के साथ - साथ व्यक्ति के नैतिक विकास तथा परम क्षेत्र के लिये गुरुमुख गुरु वाणी में गुरु की कृपा पर भी बल दिया गया है।

1:- नदरि उपठी जे करे सुलतानां वासु करायदा। आसा की वार पउड़ी 16 पृ0 472

2:- जे सिधु नदरि न आवई त वात न पुछे के। जपु, पउड़ी 7, आदि ग्रन्थ, पृ02

3:- शार्टर इन्साइक्लोपिडिया आफ इस्लाम, पृ0 216

गुरु नानक से बहुत पहले गोरखनाथ ने गुरु कृपा जनित चन्द्रमा " की स्थिरता मानी है।[1] अथवा गुरु की कृपा से ही नाम जाप में लीन होना मानता है।[2] संत कबीर जी गुरु की कृपा द्वारा ही समस्त ज्ञान की उपलब्धि होती है।[3] और केवल नाम रूपी धन प्राप्त होता है जो मृत्युपरान्त भी साथ जा सकता है।[4] सूरदास ने जहाँ " सूरदास प्रभु तुम्हारी कृपा से पाए सुख दु लोरे "[5] कहा है, वहाँ साथ ही "गुरु प्रसाद होत यह दर्शन सरसत सरस प्रवीन "[6] कहकर गुरु की कृपा का आधार महत्व स्थापित किया है। डा० तुलसी राम शर्मा के मतानुसार नारद - भक्ति सूत्र (38) में जिसको महद् - कृपा कहा गया है, वह महान् पुरुषों की कृपा गुरु - कृपा ही है। परन्तु कृ यह कृपा भी भगवद् - कृपा से ही प्राप्त होती है। प्रभु की केवल मात्र कृपा दृष्टि भी यदि भक्त को प्राप्त हो जाए तो गुरु - कृपा भी सहज हो जाती है और सिद्धि भी सुलभ बन जाती है।[7] अन्य सन्तों और भक्तों की वाणी में भी प्रभु और गुरु - कृपा से सम्बन्धित अनेक उक्तियाँ मिल जाती हैं। तुलसी के "राम -कृपा " प्रसंग में डा० मुरारीराम शर्मा ने लिखा है कि प्रभु जिस पर दया करते हैं, उसको लगातार शुभ-कुशल और कल्याण की प्राप्ति होती है। मनुष्य ,मुनि और देवता उस पर प्रसन्न रहते हैं। वह गुण - सागर, विनम्रशील और विजयी बनता है और उसका सुयश तीन लोकों में फैलता है।[8]

1:- सोलह कला संपूरण चंदा। गुर परसादे सिध भया। गोरख बानी, पृ० 189
2:- गुर परसादे सिध सिध की जे। (नाथ सिद्धों की बानी, पृ० 204)
3:- गुर प्रसादि मे सभु किछु सुणिआ। आदि ग्रन्थ, पृ० 476
4:- हरि जीउ कृपा करे जिस नालि सोई हरि हरि नामु लीउ।
गुरपरसादी हरि प्रभु पाइओ जैसी का दिआ नालि चलिओ।। आ:ग्र:,पृ० 479
5:- सूरसागर, सम्पादक राधा कृष्ण दास, पृ० 170
6:- सूरसागर सारावली, सम्पादक बाबू राधाकृष्ण दास, पृ० 170
7:- भक्ति का विकास, पृ० 695
8:- वही, पृ० 374

वस्तुतः भक्ति साधना के समूचे साहित्य में मनुष्य के नैतिक विकास, मोक्ष तथा प्रभु - प्राप्ति में गुरु का महत्वपूर्ण योगदान बताया जाता रहा है। अद्वयतारकोपनिषद् में 'गुरु' शब्द की अनेक व्याख्या करते हुए "गु" का अर्थ अन्धकार और "रु" का अर्थ दूर करने वाला किया गया है। इस व्याख्या के अनुसार गुरु वह है जो जिज्ञासु के अज्ञान अंधकार को दूर करे।[1] प्रत्येक प्रकार के अज्ञान को दूर करने वाला और ज्ञान का प्रदाता गुरु है।

गुरु नानक वाणी में गुरु की अत्यन्त आवश्यकता बताई गई है। उसके बिना मनुष्य सब कुछ होता हुआ भी कुछ नहीं है। क्योंकि गुरु के बिना उसे न लौकिक और न ही पारलौकिक लाभ प्राप्त हो सकता है। गुरु नानक ने बताया है कि गुरु के बिना परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।[2] व्यक्ति को सारतत्विक मार्ग नहीं सूझता, व्यर्थ में प्राणी उलझा रहता है,[3] मुक्ति अथवा तुरीयावस्था की प्राप्ति नहीं होती,[4] ज्ञान प्राप्त नहीं होता,[5] भक्ति और प्रेम की भावना उत्पन्न नहीं होती और न ही अहंकार का मैल स्वच्छ होता है,[6] गुरु के बिना व्यक्ति को प्रतिष्ठा नहीं मिलती।[7]

"सिद्धगोसटि" के अंत में गुरु के महत्व का प्रतिपादन करते हुए गुरु नानक ने निष्कर्ष रूप में कहा है कि गुरु ही सभी वस्तुओं की प्राप्ति स्रोत है।[8] अतः गुरु में अडिग श्रद्धा और निष्ठा रखनी चाहिए, क्योंकि गुरु के बिना न योग में सिद्धि मिलती है, न मुक्ति होती है और न ही नाम की उपलब्धि होती है।

1:- गु शब्दस्त्वन्धकारः स्याद् रु शब्द स्तन्निरोधकः। अंधकार निरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥6॥
2:- सोरठ, अष्टपदी 4/7, आदि ग्रन्थ, पृ0 637
3:- मारू, सोलहे 6/1। वही, पृ0 1030
4:- वडंस, पदे 12/रहाउ वही, पृ0 1172
5:- सिरी, अष्टपदी 10/रहाउ वही, पृ0 59
6:- गूजरी, अष्टपदी 3/2 वही, पृ0 505
7:- माझ की वार, श्लोक 4 वही, पृ0 139
8:- रामकली, सिध गोसटि 69 आदि ग्रन्थ, पृ0 945

बिना सद्गुरु की प्राप्ति के व्यक्ति को अत्यन्त दुःख सहन करना पड़ता है। ऐसा व्यक्ति जीवन के खेल में हार कर और सांसारिक प्रपंचों में उलझ कर अंततोगत्वा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।[1] गुरु के बिना सारा संसार दुखा हुआ ही समझना चाहिए।[2] गुरु - विहीन छोटे - से - छोटे और शक्तिशाली देवता, राजा, राक्षस आदि को भी कष्ट सहन करना पड़ता है। क्या ब्रह्मा, क्या शिव और क्या राजा हरिश्चन्द्र, हिरण्यकशिपु, दुर्योधन, जन्मेजय, कंस, रावण, पाण्डव आदि सब के चरित्र इस बात के प्रमाण हैं कि गर्व करने के कारण ही वे अपने प्रभु गुरु को पहचान न सके। गुरु के बिना उनकी रक्षा किसी ने नहीं की और गुरु के मिले बिना उनके गर्व का निवारण भी न हो सका।[3] वस्तुतः जिस अमृत सागर की प्राप्ति के निमित्त व्यक्ति जन्म धारण कर इस जगत् में आया है, वह अमृत गुरु के पास है।[4] गुरु के दर्शन मात्र से अनेक तीर्थों के स्नान का फल प्राप्त हो जाता है[5] और उसकी शिक्षा मात्र सुनने से मनुष्य की सामान्य बुद्धि ही रत्न, जवाहर और माणिक्य का कोश हो सकती है।[6] गुरु के स्वरूप का चित्रण करते हुए गुरु नानक ने कई स्थलों पर परमात्मा की समस्त शक्तियों और गुणों को भी गुरु में आरोपित करने का प्रयत्न किया है। ऐसे प्रसंगों में गुरु और गोविन्द में जैसा मानो भेद भी नहीं रहा है। वह व्यक्ति के लिए पृथ्वी लोक पर विधाता का रूप स्वयं परमात्मा है। तात्पर्य यह है कि गुरु और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। ऐसे गुरु की प्राप्ति भी प्रभु की कृपा दृष्टि से ही संभव हो सकती है।[7]

1:- बिनु सतिगुर सेवे जोगु न होई। बिनु सतिगुर भेटे सुगति न कोई।
बिनु सतिगुर भेटे नाम पाइआ न जाई। बिनु सतिगुर भेटे गइआ दुखु पाई।
आ:ग्रं:, पृ0 945

2:- जगु गुरु दुखा संसार। माझ की वार, श्लोक 2 वही, पृ0 138

3:- गउड़ी, अष्टपदी 8 आदि ग्रन्थ, पृ0 224

4:- बिनु जल निधि कारणि तुम जगि आए सो अंमृतु गुर पाही जिउ ॥
सोरठ, पदे 9/1 वही, 598

5:- अनगढ़ि सोरठ मजना गुर वसतु परापति होइ। सोरठ पदे 7/2 वही, पृ0 597

6:- मति विचि रतन जवाहर माणिक जे इक गुर की सिख सुणी, जपु, पउड़ी 6
वही, पृ0 2

7:- आदरि करे सा सतिगुरु मिले। प्रणवति नानक भवजलु तरे।
आसा, पदे 18/4 वही, पृ0 354

सेवा - भावना :-

गुरु वाणी में सेवा का अत्यधिक महत्व प्रतिपादित किया गया है। सिख - गुरुओं ने जीवन - यापन के लिये कर्म पर विशेष बल दिया है। प्रथम चार गुरुओं की उत्तराधिकार परम्परा में गुरु नाम की प्राप्ति में सेवा - भाव को प्रमुख स्वीकार किया जाता रहा है। लोक कल्याण के प्रत्येक पक्ष में सेवा का महत्व स्पष्ट है। सिख के किसी भी प्रमुख आचार शास्त्र में इसे देखा जा सकता है। यह एक प्रकार की सही जीवी साधना है। मनुष्य का प्रत्येक कार्य अहंकार - युक्त होता है। सेवा की भावना ही अहंकार को नष्ट कर सकती है क्योंकि अहंकार शुद्ध - गुलाब के समान है और सेवा प्रकाश है। अहंकार अपने - आप के लिए अथवा अपनेपन में जीना है सेवा से दूसरों के लिए जीवित रहा जाता है। जब तक व्यक्ति अहंकार तथा अपनेपन की भावना को नष्ट नहीं करता तब तक वह सेवा करने का गौरव प्राप्त नहीं कर सकता। सेवा करने की वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति के मन में उत्पन्न नहीं हो सकती। इसकी प्राप्ति के लिये बड़े ऊंचे आचरण की आवश्यकता है। उसमें कोई संतोषी व्यक्ति ही सम्पन्न हो सकता है, जिसने सत्य स्वरूप परमात्मा की आराधना की हो, जिसने कभी बुरे कर्मों वाले मार्ग पर पांव न रखा हो, जिसने सदैव धर्मानुप्राणित कार्य किया हो, जिस ने सांसारिक बन्धनों को तोड़ दिया हो और जो अन्धकार में अपने जीवन की अवधि काट रहा हो।

- - - - - - - - - - - - - - - -

।:- सेव कीती संतोखीऐ जिनी सचो सचु धिआइआ।
जोती मैं पेरु न रखिओ करि सुरिति अरपु कमाइआ।
ओही दुनीआ सीऐ ओहा अंनु धानी भोड़ा आइआ।
हूं बलीसी आला मित देखहि छडि सलाइआ।
सतिगुरि सचा पाइआ।
आसा की वार पउड़ी 7 आदि ग्रन्थ, पृ0 465

सेवा के एक और महत्व पर प्रकाश डालते हुए गुरु देव ने बताया है कि बिना सेवा के मनुष्य वास्तविक सुख अथवा मोक्ष - पद को प्राप्त नहीं कर सकता। सेवा ही श्रेष्ठ कर्म है।[1] इसके द्वारा परमात्मा का सेवक बना जा सकता है।[2] सेवा का कार्य प्रत्येक व्यक्ति करने की सामर्थ्य नहीं रखता। सेवा वही कर पाता है जिसे परमात्मा स्वयं प्रेरणा प्रदान करता है और सेवा के बिना परम तत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता।[3] सेवा - कार्य द्वारा ही परम सुख प्राप्त होता है।[4] इस प्रकार गुरु नानक ने संसार में व्यक्ति के नैतिक - विकास तथा परम श्रेय की प्राप्ति के लिये सेवा कार्य पर अधिक बल दिया है।[5]

आदर्श व्यक्ति :-

गुरु नानक किसी विशिष्ट मानव - आदर्श की स्थापना के लिए संघर्षशील थे। उनके सम्मुख सबसे बड़ी समस्या "कूड़ की पालि" [6] कूड़ की दीवार। को छिन्न - भिन्न कर मनुष्य को सदा चारी बनाना था। गुरु नानक ने ऐसे सर्व गुण सम्पन्न आदर्श व्यक्ति को " गुरमुख" की संज्ञा से अभिहित किया है। संसार के महान विचारकों ने जिस व्यक्ति में अपने निर्धारित आदर्शों को आरोपित किया है, प्रायः कोई -अ - कोई विशेष नाम भी देने का प्रयत्न किया है।

1:- बिनु सेवा फलु कबहु न पावसि सेवा करणी सारी। माझ, पदे 10/2 पृ0992
2:- जैसे जीअ तैसे सभि तेरे बिनु सेवा फलु किसे नाही॥ आसा, पदे 9/4 पृ0 354
3:- सेवा करे सु चाकर होइ। सूही, पद 2/3 वही, पृ0 728
3:- तेरी सेवा सो करे जिस नो लेहि तु लाई।
बिनु सेवा किने न पाइआ हुणे भरमि लुकाई। माझ, अष्टपदी 5/3 पृ0 101।
4:- सुख होवे सेव कमाईआ। सिरी, पदे 33/3 , आदि ग्रन्थ, पृ0 26
5:- सिरि दुनीआ सेव कमाईऐ। ता दरगह बैसणु पाईऐ।
कहु नानक बाह लुडाईऐ। सिरी पदे 33/4 आदि ग्रन्थ , पृ0 26
6:- जिथ सचिआरा होईऐ तिथ कूड़े तुटै पालि। जपु, पउड़ी। ,वही,पृ0।

कहीं उसे Superior man ,कहीं Wise man , कहीं High Souled man कहीं Superman तथा कहीं पुरुषोत्तम तथा परम मनुष्य कहा गया है । गुरु नानक ने अपने आदर्शों का जिस व्यक्ति में आरोपण किया है वह "गुरमुख" है ।

गुरु नानक का कथन है कि माया में रहकर माया से अतीत रहना गुरमुख व्यक्ति का सर्वप्रमुख गुण है ।[1] "सिध गोसटि" में गुरु कवि ने योगियों को आदर्श योगी बनने के लिए जो उपदेश दिया है, वह उनके आदर्श पुरुष की कल्पना का स्पष्ट परिचय प्रस्तुत करता है । जैसे जल में रहते हुए भी कमल निर्लिप्त रहता है और जैसे मुर्गाबी नदी में तैरते हुए भी अनभिज्ञ रहता है उसी प्रकार आदर्श योगी अपनी "सुरति" को "शब्द" में टिका कर माया के प्रभाव से मुक्त रहते हुए भवसागर तर जाता है ।[2] परन्तु गुरु नानक का आदर्श व्यक्ति केवल अपनी उन्मुक्ति अथवा मुक्ति से सन्तुष्ट नहीं, वह एक सामाजिक प्राणी है, अतः अपने जन्म को वह तभी सफल और सार्थक समझता है यदि वह अपनी मुक्ति के साथ - साथ संगति और कुल का भी उद्धार करता है ।[3]

गुरु नानक का आदर्श व्यक्ति वह है जो अहर्निश गुरु की संगति प्राप्त करता हुआ प्रभु के प्रेम - रंग में रंगा रहता है, जो किसी अन्य सत्ता को न मान कर शब्द द्वारा हरि को पहचानता है, जो अपने पन की भावना को मार कर अनन्य में अनुरक्त होता है और जो गुरु द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्य का पालन करता है ।[4] गुरु मुख व्यक्ति सत्यस्वरूप परमात्मा से जुड़ता है, पवित्र परमपद को प्राप्त

1:- अंजन माहि निरंजन रहीऐ जोग जुगति इव पाईऐ ।सूही,पदे 8/। पृ0 73।

2:- जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैसाणे ।
सुरति सबदि भवसागरु तरीऐ नानक नामु वखाणे । रामकली,सिधगोसटि 5 पृ0 938

3:- ऐसे जन विरले संसारे ।गुर सबद वीचारहि रहहि निरारे ।
आपि तरहि संगति कुल तारहि तिन सफल जनमु जगि आइआ । मारू,सोलहे 18/1। पृ0 1032

4:- गुरमुखि रामनामु ,जपि हिरदै सबद सेती धरि जाइसि ।१हरा ।
रागु भैरउ पृ0 1125
गुरमुखि [illegible] साचा सबदि सलाहे मनि साचा तितु रोगु गइआ ।

नानक हरि जन अभिन्नु भिन्नका जिउ कउमि नीसाणु पइआ ।

राग भैरउ पृ0 1127

करता है , रोम-रोम से हरि का ध्यान करता है और सत्य स्वरूप हरि में ही समाहित हो जाता है ।[1] वह अष्टसिद्धियों और समस्त बुद्धि का स्वामी होता है, सच्ची विवेक बुद्धि का होने के कारण वह भवसागर से तर जाता है, अच्छे बुरे की चाल को समझता है, प्रवृत्ति ,निवृत्ति मार्गों को भी भांति जानता है, दूसरों के भवसागर से पार उतारता है और शब्द के द्वारा स्वयं मुक्ति प्राप्त करता है[2]

गुरमुख शास्त्रों ,स्मृतियों और वेदों के ज्ञान से परिपक्व है, घटभीतर का भेद जानता है, जन्म-वियोग की सभी चिंताओं को समाप्त कर देता है, राम-नाम के रंग में रंगा हुआ परमात्मा रूपी स्वामी को पहचानता है ।[3] वह नित्य निरंजन के नाम को प्राप्त कर अहंकार को शब्द के द्वारा नष्ट कर देता है, सत्यस्वरूप परमात्मा के गुणों को गाता हुआ उसी में अन्तर्हित रहता है । उसकी सत्यनाम से प्रतिष्ठा बढ़ती है और उसे सभी लोकों की सूझ प्राप्त होती है ।[4] गुरमुख यम - काल के प्रभाव को नष्ट कर जीव को जीत लेता है और उसे परमात्मा के द्वार पर पराजित नहीं होना पड़ता ।[5]

1:- गुरमुखि साचेका भउ पावै । गुरमुखि (वाणी) अहं चढ़ावै ।
गुरमुखि निरमल हरि गुण गावै । गुरमुखि पवित्र परमपदु पावै ।
गुरमुखि रोमि रोमि हरि धिआवै । नानक गुरमुखि साचि समावै । रामकली, सिद्ध गोसटि 29 पृ0 941

2:- गुरमुखि अवर सिखी सभि बुधी । गुरमुखि भवजलु तरीऐ सचु सुधी ।
गुरमुखि सर अपसर सिधि जाणै । गुरमुखि परविरति नरविरति पछाणै ।।
गुरमुखि तारे पारि उतारे । नानक गुरमुखि सबदि निसतारे । रामकली, सिद्ध गोसटि 31 पृ0 941

3:- रामकली, सिद्ध गोसटि, 37 पृ0 942

4:- वही 42 पृ0 942

5:- वही 71 पृ0 946
गुरमुखि मनु जीता हउमै मारि ।
गुरमुखि साचु रखिआ उरधारि ।
गुरमुखि जमु जीता जमकालु मारि सिकदारि ।
गुरमुखि दरगह मंनु आवै सारि ।
गुरमुखि मेलि मिलाए सो जाणै ।
नानक गुरमुखि सबदि पछाणै । रामकली, सिद्ध गोसटि 71।
आदि ग्रन्थ, पृ0 946

गुरु नानक ने भी रामचन्द्र के लंका पर विजय प्राप्त करने की घटना के रूपक द्वारा गुरुमुख का महत्व प्रतिपादित करते हुए बताया है कि गुरमुख ने विद्याता की कृपा का सेतु बाँधकर देह रूपी लंका जीत ली है। उसने कामादिक वासनाओं रूपी दैत्यों को बहुत दुःख दिया है। गुरमुख राम ने अहंकार रूपी रावण को मार दिया है। यहाँ विभीषण का भेद बताना गुरु का उपदेश है। वस्तुतः गुरु मुखों ने समुद्र से पापियों रूपी पत्थरों को तार दिया है और तैंतीस करोड़ मनुष्यों का उद्धार किया है।[1]

गुरमुख को कुछ अच्छा नहीं[2] लगता, क्योंकि जो सत्यस्वरूप में अनुरक्त हैं उनको सत्य ही रुचिकर लगता है। गुरमुख व्यक्ति को कभी पराजय का मुँह देखना नहीं[3] पड़ता। वह गुरु की शिक्षा में विश्वास रखकर संसार में अपने - आप को अलिप्त के समान समझता है। वह हरि रस में मग्न हुआ परमात्मा के द्वार पर स्वीकृत होता है।[4] ऐसा व्यक्ति न जन्मता है न मरता है और न ही आवागमन के चक्कर में पड़ता है। वह परमात्मा के द्वार पर प्रतिष्ठा सहित और मर्यादा - पूर्वक जाता है।[5] वह व्यक्ति आत्मज्ञान के खड्ग को लेकर अविद्या जागता रहता है।[6] अर्थात हरि - भक्ति के लिए सदैव सचेत रहता है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1:- गुरमुखि जाणिओ सेतु बिधाते। लंका लूटी लेत सीताये।
रामचंदि मारिओ अहि रावणु। भेदु भभीखण गुरमुखि परधाणु।
गुरमुखि सागरि पाहण तारे। गुरमुखि कोटि तेतीस उधारे।
रामकली सिद्ध गोसटि 40, गुरबाः ग्रः पृ0942

2:- तिलंग, पदे 21/4 वही, पृ0 22

3:- गुरमति महा सुख गुर सबदु बीचारि
गुरमुखि कदे न आवै हारि। रामकली, सिद्ध गोसटि 39, वही, पृ0 942

4:- जैत, अष्ट पदी 8/7 आदि ग्रंथ पृ0 1191

5:- तिलंग, पदे 14/4 वही, पृ0 19

6:- मारू, सोलहे 5/4 वही, पृ0 1030

गुरमुख व्यक्ति के लिये गुरु नानक ने राग - द्वेष तथा अन्य स्वादों का त्याग भी आवश्यक माना है। उसका मन भक्ति में लगा हुआ अज्ञान की निद्रा से जागता है।[1] उसको किसी प्रकार का चोर लूट नहीं सकता।[2] जबकि स्वेच्छाचारी अज्ञान की निद्रा में सोया रहता है आवागमन में भटकता रहता है।[3] दुःख - सुख से बचने के लिए गुरमुख के पास संतोष रूपी धन का अक्षय भंडार रहता है,[4] जिसको धारण करने से वह अमर होकर सांसारिक सुख - दुःख से निर्लिप्त हो जाता है और अपना वास्तविक घर प्राप्त कर लेता है।[5]

गुरु नानक ने गुरमुख के स्वरूप का प्रतिपादन रूपकात्मक शैली में भी किया है। दुकान के रूपक के द्वारा उन्होंने गुरमुख के वाणिज्य - व्यापार को स्पष्ट करते हुए बताया है कि उसका तन वार है, मन धन जारा है और वहाँ सहज स्वाभाविक ढंग से सत्य का व्यापार हो रहा है।[6] ऊँचे सौदे में तो हानि की संभावना हो सकती है, परन्तु गुरमुख का वाणिज्य प्रभु की कृपा के अनुसार होता है, अतएव उसमें मूलधन की राशि सदैव रक्षित रहती है और उसको धन के भय रूपी हानि की संभावना कभी-कभी समाप्त हो जाती है।[7]

खेती के रूपक द्वारा भी गुरु नानक ने गुरमुख की महानता पर प्रकाश डाला है। गुरमुख की खेती में परमात्मा का भय भूमि है, पवित्रता, सींचने के लिए जल है, सत्य और संतोष, जोतने के लिए हल हैं, नम्रता बल है, चित्त बल

1:- गुरमुखि राग सुवाद सब तिआगे। गुरमुखि दुइ मल भाती जागे॥
आसा, अष्टपदी 8/1 आदि ग्रन्थ, पृ0 415

2:- सूही, अष्टपदी 4/6 आदि ग्रन्थ पृ0 752

3:- रामकली, अष्टपदी 5/6 वही, पृ0 903

4:- दुःख सुख ही ते भय निराले गुरमुखि सीतु सलाहा है। माझ, सोलहे 22/ 8 पृ0 1032

5:- सुख दुःख ही ते अमर अतीता गुरमुखि निज घर पाइआ। माझ, सोलहे 17/8 पृ0 1033

6:- रामकली, सिध गोसटि 38 पृ0 942

7:- माझ, सोलहे 12/10 पृ0 1032

चलाने वाला है , परमात्मा का ध्यान भूमि की नमी वाली अवस्था है, परमात्मा को मिलने की भावना बोने की सही ऋतु है, हरि का नाम बीज है, परमात्मा की कृपा जल-युक्त भूमि का ढेर है । ऐसी खेती को छोड़कर दुनिया का शेष सारा कार्य-व्यापार मिथ्या है ।[1]

उक्त रूपकों के अतिरिक्त गुरु जी ने गुरमुख व्यक्ति के आध्यात्मिक विवाह और परिवार का चित्रण भी किया है । गुरमुख की बुद्धि माता है, संतोष पिता है परिवक्ता उसका सगा भाई है, लज्जा और सुरति सास-ससुर है, स्नेह-शुभ करनी स्त्री है, सबकी का प्रेम विवाह का लग्न है, सांसारिक विषय -वासनाओं का वियोग अथवा त्याग विवाह है और सत्य उस विवाह से उत्पन्न सन्तान है ।[2]

सच्चे रूप से गुरमुख व्यक्ति का अंतःकरण हंसनी रूपी सत्य के समान कोमल है, परन्तु बाहर से सरलता रूपी कूड़ा प्रतीत होता है । उसका परमात्मा से प्रेम होता है और परमात्मा के दर्शनों की प्राप्ति के विचार में वह सदा लीन रहता है । वह परमात्मा के प्रेम में कभी हँसता है, कभी रोता है और कभी घूम भी कर आता है । सत्यस्वरूप स्वामी के अतिरिक्त गुरमुख को किसी अन्य की पसन्द नहीं है । वह परमात्मा के प्यार को जाने वाले मार्ग पर चलता है, उसी से मार्ग का खर्च माँगता है और जब परमात्मा देता है तभी वह खाता है ।[3] सच तो यह है कि जिन्होंने एकाग्र मन से परमात्मा का ध्यान किया है, उन्होंने ही इस संसार

1:- रामकली, श्लोक 13, पृ० 935

2:- माता मति पिता संतोखु । सतु भाई कार पतु सिजेखु ।
करणा हेकु वहनु मन जाउ । सचु सुरति की मति नहीं पाउ ।
सरम सुरति दुइ सहुर भए । करणी कामणि करि मन लए ।
साझा सजोगु सीआवा विजोगु । सचु संतति कहु नानक जोगु ।
गउड़ी, पदे 3 आदि ग्रन्थ, पृ० 152

3:- आसा की वार, श्लोक पउड़ी, वही, पृ० 474

में सुख प्राप्त किया है। ऐसे व्यक्ति संसार में विरले हैं, उनके समीप यमराज भी नहीं आ पाता। गुरु - शब्द की कमाई के द्वारा जो हरि के चरणों से जुड़ जाते हैं, उनका जन्म - मरण समाप्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति गुरुमत द्वारा हरि का नाम हृदय में धारण करके हरि-रस और हरि - फल प्राप्त कर लेते हैं।[1] गुरु मुख प्रत्येक व्यक्ति नहीं बन सकता। वही पुरुष इस सौभाग्य को प्राप्त कर सकते हैं, जिन पर परमात्मा की कृपा - दृष्टि होती है। ऐसे पुरुष निर्मल, अपरम्पार और परिपूर्ण होते हैं और वस्तुतः ये संसार में गुरु और गोविंद का ही रूप होते हैं।[2] जिस परमात्मा को ये जान अथवा पहचान लेते हैं, अंतर्लोगत्व उसी के समान हो जाते हैं और उनका मनुष्य शरीर सार्थक हो जाता है।[3]

1:- आसा, छंत 4/2 आदि ग्रन्थ, पृ० 438

2:- गुरमुखि राम नाम गुण गावहि जावड हरि प्रभु मदरि करे।
ते निरमल पुरख अपरम्पर पूरे से जग महिपुर सभे गोविंद हरे।
मारू, अष्टपदी 8/1। पृ० 1014

3:- जिमि जाला सो सिल्प ही जेहा। अति निरमाल्यु सीजसि देहा।
रामकली, ओंकार 10, वही, पृ० 931

गुरु नानक काव्य का साहित्यिक अध्ययन

प्रथम अध्याय :-

गुरु नानक काव्य : सामाजिक नैतिक मूल्य

अष्टम अध्याय:-

गुरु नानक काव्य: सामाजिक नैतिक मूल्य :-

सामाजिक नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के सामूहिक जीवन से रहता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति में परस्पर सामंजस्य स्थापित रखने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता का कुछ अंश समाज के लिये त्याग करना पड़ता है। समाज में रहते हुए व्यक्ति निर्बाध भाव से अपनी इच्छा पूर्ति नहीं कर सकता क्योंकि उसे अन्य व्यक्तियों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का भी ध्यान रखना पड़ता है। सामाजिक व्यवस्था के सुधार तथा समुचित स्थायित्व के लिए नैतिक मूल्यों का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

गुरु नानक की सामाजिक नैतिकता का आधार सच्चा मानव-धर्म है। इस दृष्टि से उनका अध्ययन तत्कालीन सामाजिक परिवेश में किया जा सकता है। गुरु नानक का अवतरण ऐसे समय में हुआ था जब भारतीय जनता अधःपतन के गर्त में थी। उस समय देश में मुसलमानों का राज्य निरन्तर दृढ़ होता जा रहा था। उदार से उदार मुसलमान शासक में भी असहिष्णुता कूट कूट कर भरी हुई थी। "तारीख-ए-दाऊदी" के लेखक ने सिकन्दर लोदी की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है, "

सुलतान सिकन्दर अत्यन्त धार्मिक शासक था। उसका स्वभाव अत्यन्त उदार था। वह अपनी उदारता, कीर्ति और महत्ता के लिए प्रसिद्ध था। उसे सूफ़ी - भक्त जनता - संसार में कोई रुचि नहीं थी। धार्मिक और गुणी व्यक्तियों से वह सम्बन्ध रखता था।[1] किन्तु श्री वर्मा के अनुसार सिकन्दर की यह न्याय - प्रियता और उदारता संकीर्णता से युक्त थी। उसकी यह न्यायप्रियता और उदारता अपने सहधर्मियों तक ही सीमित थी।[2] इस तथाकथित उदार सुलतान के राज्य में ही बीजल को मृत्युदंड दिया गया था जिसका अपराध केवल इतना (कि उसने पद् पढ़ने का दुस्साहस किया था कि उसका धर्म उतना ही सत्य है जितना कि इस्लाम।

गुरु नानक ने इस पतनोन्मुख स्थिति का वर्णन अपने काव्य में बड़ी स्पष्टता तथा निर्भयता से किया है :-

कलि काती राजे कासाई
धरमु पंख करि उडरिआ।
कूडु अमावसि सचु चंदमा
दीसे नाही कह चडिआ
लुकी मासि विछुंनी सोई
"आधेरै" राहु न कोई ।।[3]

एक अन्य स्थल पर गुरु नानक ने वर्णन किया है कि कलियुग में लोग कुत्ते के मुँह वाले हो गये हैं और उनका खाद्य वस्तु मुरदे का मांस हो गयी है। अर्थात् इस युग में लोग कुत्तों के समान लालची हो गये हैं और निरक्षता तथा बेईमानी से पेशा खाते हैं। ये झूठ - बोल-बोल कर भूँकते हैं :-

कलि होई कुत्ते मुही
खादु खोजा मुरदारु
कूडु बोलि बोलि भउकदा

1:- एतुहासिक खोज का खाजाना, खाण्ड्य, । इन्दु भूषण बेनर्जी, पृ० 29
2:- लाल त्रिलोकी नारंग, ट्रेजडी आफ दा सल्तनत, पृ० 191
3:- आदि ग्रन्थ, पृ० 145 { तार मास }

भूखा अवन बीचाक ।
जिन जीवंदिआ पति नही
मुआ मंदी होय
लिखिआ होवै नान्का ।
करता करे सु होय ।।
रंना होईआ बोधीआ
पुरस होय संइआद ।
सील संजमु सुच भंनी ।
खाणा खाज अहाजु ।
सरमु गइआ घरि आपणै
पति उठि चली नालि ।*[1]

भारतीय जीवन में धर्म को नैतिक मूल्यों का आधार माना जाता है । जब धर्म की स्थिति पतनोन्मुख हो रही हो तो सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व भी संकट ग्रस्त हो जाता है । इस प्रकार के अन्धकारपूर्ण युग में मानवीय सम्बन्धों की परस्पर रागात्मकता का लुप्तप्राय होना स्वाभाविक है :-

"नानक दुनीआ कैसी होई ।
सालकु मितु न रहीओ कोई
भाई बंधी हेतु चुकाइआ
दुनीआ कारणि दीनु गवाइआ ।। "[2]

इस सामाजिक पतन का एक कारण तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था थी । गुरु नानक एक स्थल पर लिखते हैं कि इस समय राजागण सिंह के समान [हिंसक] तथा चौधरी कुत्ते के समान लोभी हैं, जो अकारण शान्तिपूर्वक सोई हुई जनता को जगाकर पीड़ित करते हैं । राज्य के सेवक और नौकर अपने नाखूनों से प्रजा को चीर - चीर कर उसका खून करते हैं ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1:- आदि ग्रन्थ , पृ0 1242 [राग सारंग सारी]

2:- आदि ग्रन्थ, पृ0 1410 [सलोक वारां ते वधीक]

राजे सीह मुकदम कुते । जाह जगाइन बैठे सुते ।
चाकर नहदा पाइन्हि घाउ रतु पितु कुति गो घटि जाइ ।।[1]

गुरु नानक ने इसी भाव को एक अन्य स्थल पर भी प्रस्तुत किया है :-

लबु पापु दुइ राजा मकदा
कूडु होआ सिकदारु ।
कामु नेहु सदि पुछीऐ
बहि बहि करे बीचारु ।
ओही रयति गिआन विहूणी
भाहि भरे मुकदारु ।[2]

गुरु नानक के इस वर्णन में तत्कालीन राजाओं और उनकी शासन-व्यवस्था का पूरा - पूरा यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुआ है । इस चित्रण को परम्परागत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह वर्णन न केवल अत्यन्त सजीव है अपितु इसकी पुष्टि इतिहास से सरलता से की जा सकती है । यह सही है कि उस समय सत्ता मुसलमान शासकों के हाथ में थी, किन्तु गुरु नानक अपने वर्णन में सत्तारूढ़ व्यक्तियों का पक्षपात नहीं करते कि वे मुसलमान थे बल्कि गुरु नानक उन सभी शासकों और शासन-व्यवस्थाओं के विरोधी थे, जो अपना कर्तव्य भूल कर अन्याय पथ पर अग्रसर थी ।

इस समय बाबर के आक्रमण[3] ने भारतीय समाज की स्थिति को अत्यधिक दयनीय बना दिया था । सन् 1521 ई० में इसने ऐमनाबाद पर आक्रमण

1:- आदि ग्रन्थ पृ० 1288 । वार मलार ।
2:- आदि ग्रन्थ पृ० 468 । राग आसा ।
3:- खुरासन खसमाना कीआ हिंदुसतानु डराइआ ।
आपै दोसु न देई करता जमु करि मुगलु चड़ाइआ
एती मार पई कुरलाणे तैं की दरदु न आइआ ।
करता तूं सभना का सोई ।
जे सकता सकते कउ मारे ता मनि रोसु न होई । राग आसा
सकता सीहु मारे पै वगै । खसमै सा पुर सारै ।।
आदि ग्रन्थ, पृ० 360 । राग आसा ।

करके उसे नष्ट - भ्रष्ट कर दिया । स्त्रियों की दुर्दशा की गयी । गुरु नानक ने ऐमनाबाद के आक्रमण को स्वयं देखा था । उन्होंने उस रोमांचकारी दृश्य का बड़ा हृदय विदारक चित्रण किया है । वे वर्णन करते हैं कि जिन स्त्रियों के सिर की मांग में पट्टी थी और उस मांग में सिन्दूर डाला गया था , उनके सिरों की केश राशि कैंची से कुंठ दी गयी और वे धूलि धूसरित हो रही हैं । जो स्त्रियां महलों में निवास करती थी , उन्हें अब बाहर भी झांकने का स्थान नहीं मिलता है । जो स्त्रियां गलीचों पर सेजों पर शयन करती थीं, उनके गले में रस्सी- रस्सी पड़ी हुई है और उनके मोती की लड़ियां टूट रही हैं ।[1] गुरु नानक ने बताया है कि मुगलों ने हिन्दुओं अथवा मुसलमानों किसी को भी नहीं छोड़ा । गुरु नानक का कथन है कि "जिन स्त्रियों की दुर्दशा मुगलों ने की, उनमें से कुछ तो हिन्दू स्त्रियां थीं, कुछ तुर्क स्त्रियां , कुछ भाटिनें तथा कुछ ठकुरानियां थीं । इनमें कुछ स्त्रियों अर्थात् मुस्लिम स्त्रियों के कुछ सिर से पैर तक फाड़ दिए गए और कुछ को अर्थात् हिन्दू स्त्रियों को मौत के घाट उतार दिया गया ।[2]

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1:- जिन सिरि सोहनि पटीआ मांगी पाइ सिंदूरु ।
से सिर काती मुंनीअनि गल विचि आवै धूड़ि ।
महला अंदरि होदीआ हुणि बहणि न मिलनि हदूरि ।
. . . . . .
सिधु गइआ सिकदार पाइआ तुरनि मोती लड़ीआ ।
अजु जोबनु दुख सेंदरी होए जिनी रंगे रंगु लाइ ।
दुखा नो सुखमाइआ से छडे पति गवाइ ।। आसा, अष्टपदी 11/1-4 पृ0 417

2:- इक सिंञाणी अवर सुहाणी भटिआणी ठकुराणी ।
इकना पैरण सिर खुर पाटे इकना वासु मसाणी ।
जिन्हे घरी न आवदा तिन फिरि वेलि विहाणी ।।
आसा, अष्टपदी 12/6 आदि ग्रन्थ, 418

पराजित पक्ष की दयनीय स्थिति के अतिरिक्त गुरु नानक ने उस अत्याचार का उल्लेख भी किया है जो भारतीय नारियों को आक्रमण कारियों के दुर्व्यवहार के फलस्वरूप सहन करना पड़ा। बाबर के सैनिकों ने मुसलमान अथवा हिन्दू नारियों में किसी प्रकार का अन्तर न मानकर इन दोनों को एक समान अपनी वासना पूर्ति का साधन बनाया गुरु जी के अनुसार बाबर पाप अथवा जुल्म की बारात लेकर काबुल से आक्रमण करने के लिए आया है और जबरदस्ती दान माँगता है। शर्म और धर्म दोनों छिप गये हैं और सत्य झूठ की प्रधानता सीना फिर रहा है। काज़ियों और ब्राह्मणों को कोई नहीं पूछता। उनके स्थान पर शिकार का कार्य - सम्पादन शैतान कर रहा है। मुस्लिम नारियाँ दुःखी होकर कुरान पढ़ती हैं। उसके अतिरिक्त अन्य जाति और नीची हिन्दू जाति की नारियों की भी यही दुर्दशा हो रही है।[1]

गुरु नानक के मतानुसार इस आक्रमण का कारण हमारे पाप हैं। बाबर तो निमित्त मात्र है। इससे स्पष्ट है कि गुरु नानक सामाजिक नैतिक मूल्यों को प्रमुख स्थान देते हैं। यदि सम्पूर्ण भारतवासियों का सामाजिक आचरण पतन न होता, वे स्वार्थी न बन गये होते तो कोई कारण नहीं था कि वे बाबर से पराजित होते या सम्भव था कि बाबर आक्रमण करने का दुःसाहस ही न कर पाता। लोग मध्यकालीन वृत्ति के थे, परस्पर फूट खसोट मच चुकी थी। गुरु नानक ने इस प्रवृत्ति का तिरस्कार करते हुए एक स्थान पर कहा है :-

> जहु जरि कारणि हली दिलली लख जर होरी सुआई।
> पापा बाझु होवै नाही मुलवा साथि न जाई।
> जिस नो आपि खुआए करता खुसिआए धरि आई।[2]

1:- पाप की जंञ ले काबलु धाइआ जोरी मंगु दानु ले जाला।
सरमु धरमु दुइ छपि खलोए कूड़ फिरै परधानु ले जाला।
काजीआ ब्रामणा की गति एकी जापु पड़े सैतानु ले जाला।
मुसलमानीआ पड़हि कतेब मसि करहि खुदाइ ले जाला
जाति सनाती होरि हिंदवाणीआ इक पड़हि भी लेखे लाइदे जाला।

तिलंग पदे 5/1 पृ0 722

2:- आसा, अष्टपदी 12/3 वही पृ0 417

इसी प्रकार छल-कपट की स्थिति ने शासकों को विलासी बना दिया था।[1] वे अपने कर्तव्य से विमुख होकर दीन - हीन जनता की ओर कदाचित ध्यान नहीं दे पा रहे थे। इस प्रकार की राजनीतिक परिस्थिति में समाज के समस्त अंगों में एक अराजकता का वातावरण व्याप्त था। जिस राजनीतिक शैथिल्य से समाज में न्याय तथा व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा की जानी चाहिए यदि वही दमन - शोषण का साधन बन जाये तो सामाजिक ढाँचे के नैतिक मूल्यों में असन्तुलन होना स्वाभाविक है। गुरु नानक ने इस संकट ग्रस्त सामाजिक स्थिति को सुधारने का भरसक प्रयास किया।

गुरु नानक के समय भारतीय जनता मुख्यतः धर्मों के प्रभाव में दो सामाजिक खंडों में विभक्त थी - हिन्दू और मुसलमान। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गुरु नानक ने यत्र - तत्र मुसलमानों की सामाजिक स्थिति और स्वरूप पर प्रकाश डाला है किन्तु अधिक समय हिन्दू समाज के स्वरूप चित्रण पर लगा है। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से समाज का कोई पक्ष भी बच नहीं सका। गुरु नानक मात्र समाज सुधारक नहीं थे, उनका वास्तविक कार्य मानवधर्म की स्थापना करना था। मनुष्य का आध्यात्मिक कल्याण उनके जीवन का सर्वप्रमुख उद्देश्य था। किन्तु धर्म सुधार से समाज - नैतिकता को अलग नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण समाज की धारणा करने वाले तत्व धर्म हैं और समाज के कर्तव्य का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों का समष्टि रूप। कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन करने वाला शास्त्र नीति शास्त्र कहलाता है। नीति शास्त्र धर्म का प्रधान अंग है। सामाजिक व्यक्ति का धर्म के इस अंग से पूर्ण परिचित होना परमावश्यक है। इस प्रकार व्यक्ति समाज और धर्म दोनों का मिलन बिंदु है। यही कारण है कि जब धर्म का ह्रास होने लगता है। तब समाज भी दूषित हो जाता है।[2] गुरु नानक देव के समय में राजनैतिक एवं सामाजिक संकीर्णता एवं अत्याचारों और अनाचारों का मूल

1:- साहाँ सुरति गवाइआ रंगि तमासे चाइ।
बाबर वाणी फिरि गई कुइर न रोटी खाइ। आसा राग पृ० 417

2:- कबीर की विचारधारा : डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० 318

कारण धार्मिक संकीर्णता थी । उस काल के हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने धर्म की उदार सार्वभौमिक मान्यताओं को भूलकर साम्प्रदायिकता के गड्ढे में पड़ गए थे । इन बातों का प्रभाव सामाजिक संगठन पर पड़ना आवश्यक था । मुसलमानों के अत्याचारों ने हिन्दुओं के अनुदार धर्म को और अधिक अनुदार बनाकर धर्म व्यवस्था को संकीर्ण और असहिष्णु बना दिया । सामाजिक रूढ़ियों के प्रभाव ने धर्म के सामान्य आधारों को कृत्य के रूप में वाह्याडम्बरों में बदल दिया ।

धर्म के संकीर्ण स्वरूप के ढ़े प्रचलन हो जाने पर धर्म का सामान्य रूप दब जाता है । उसका मुख्य उद्देश्य क्रमशः विस्मृत हो जाता है । साध्य का स्थान साधन ले लेता है । यह धर्म का वस्तुतः विकृत रूप है । किन्तु जैसे - जैसे संकीर्ण धर्म अधिक विकृत होने लगता है तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में धर्म का साधारण - सहज रूप पुनः जन पकड़ता है । जैसे मानवधर्म की पुनः प्रतिष्ठा होने लगती है । गुरु नानक के समय धर्म का सहज अथवा साधारण रूप पूर्णतया नष्ट हो चुका था । और उसके स्थान पर हिन्दू और मुसलमान धर्मों का पाखंडपूर्ण रूप ही प्रतिष्ठित हुआ था । सर्वत्र निविड़ अंधकार व्याप्त था । गुरु - कवि ने अपने समकालीन युग को कलियुग[2] मानते हुए उस समय के धर्म का बड़ा व्यापक वर्णन किया है ।

1:- उत्तरी भारत की संत परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी , पृ० 406

2:- सती पापु करि सतु कमाहि । गुर दीखिआ दानु जपि ।
तितरी पूरबे अछिअे भाइ । भावे आवउ भावे जाउ ।।
सास्तु बेदु न माने कोइ । आपो आपे पूजा होइ ।।
काजी सोइ जे बहे निआइ । पैझे तखती करे खुदाइ ।
बदी ले के छपु गवाए । जे को पुछे ता पड़ि सुणाए ।
तुरक मंत्र कनि रिदे समाहि । लोक मुहावरि चाड़ी जाहि ।
चउका दे के सुधा होइ । ऐसा बिदु वेखहु कोइ । ।
जोगी गिरही जटा बिभूत । आगे पाछे रोवहि पूत ।।
जोगु न पाइआ जुगति गवाई । बिनु करणी सिरि छारु पाई ।
नानक कलि का एहु परवाणु । आपे आवणु आपे जाणु ।।
रामकली, श्लोक पृ० 951

3:- सारंग ,श्लोक 21 आदि ग्रन्थ,पृ० । 242

गुरु नानक ने ब्राह्मणों अथवा पण्डितों के आडम्बर - पूर्ण और सारहीन जीवन - प्रणाली का तीव्र खंडन करते हुए बताया है कि ये धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करते हैं, किन्तु उनमें निहित रहस्य को समझने का प्रयत्न नहीं करते।[1] उनकी करनी झूठ पर आधारित होती है, ये परमात्मा की भक्ति में लीन नहीं होते।[2] ये मूर्तियों को स्नान कराते और धोते हैं और सत्यस्वरूप उनकी पूजा में प्रवृत्त होते हैं, परन्तु जब तक गर्व का निवारण नहीं करते तब तक परमात्मा के साथ उनका साक्षी मिलन नहीं होता।[3] ऐसी भक्ति के कारण ये व्यर्थ में रोरी वाली भूमि के सींच रहे हैं।[4] कर्म - ग्रन्थों के पाठ, तीर्थ - स्नान, पूजा आदि सब मिथ्या हैं।[5] वस्तुतः सच्चे नाम के बिना तिलक और यज्ञोपवीत का कोई महत्व नहीं है।[6]

अंधविश्वासी ब्राह्मणों के कृत्यों पर प्रकाश डालते हुए गुरु नानक ने बताया है कि ये मस्तक पर टीका लगाते हैं, कमर में धोती पहनते हैं किन्तु उन के हाथ में छुरी है और जीव के लिए यमदूत के समान हैं। ये नीले वस्त्र पहनकर तुर्कों के दरबारों में मान्यता प्राप्त करते हैं, म्लेच्छों से प्राप्त अन्न का सेवन करके भी पुराणों का पाठ करते हैं। मुसलमान रसोइयों के यहाँ खाना पका कर खाना फिर जनेऊ का माला खाते हुए भी अपने आप को पवित्र समझते हैं। धोखा देकर संगीत सीख लेते हैं और किसी का चर्चा नहीं करते जिससे कि अशुद्ध न हो जाये। वस्तुतः ये अपवित्र शरीर से मलिन कार्य करते हैं, ये मन से झूठे हैं किन्तु दूसरे अन्नय करते हैं। सत्यस्वरूप की आराधना के बिना ये वास्तविक पवित्रता

1:- सिरी, अष्टपदी 5/6-7, आदि ग्रन्थ, पृ० 1242

2:- बिलावल, अष्टपदी 2/4 वही पृ० 832

3:- रामकली, अष्टपदी 4/3 पृ० 904

4:- आसा वार 9/1 पृ० 1171

5:- गल बिरालम्बन का कर लावहु गोबरि सतगुरु जाई।
धोती टिका ते जमगाला जानु मोणा जाई।
अंतरि पूजा पड़हि जंजीआ संजमु तुरका भाई।
छोडीले पाखंडा।। आसा की वार श्लोक 33 पृ० 471

6:- नानक सचे नाम बिनु किआ टिका किआ जनु। वही पृ० 472

को प्राप्त नहीं कर पाते ।

गुरु नानक ने ब्राह्मणों के लिये नैतिक आधारों का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए बताया है कि ब्राह्मण जनेऊ तो तभी तक कायम है जब तक ज्योति शरीर में विद्यमान है । इसलिए मांस भक्षण के छोती और टीका बनाओ क्योंकि यही परलोक में सहायक होगा । माथा को जलाकर पूजा और प्रेम बनाओ और एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी को मत देखो । तब की पहचान को गगन दिखा शब्द और की प्राप्ति समझो । भाव को भोजन बनाओ जिससे भय और भ्रम नष्ट हो जाएंगे । ब्रह्म - अग्नि को अपना रक्त बनाओ, उसे कामाग्नि और नहीं लगेगी । एक प्रभु को जानना जनेऊ का तिलक बनाओ और अन्तर में ब्रह्म चिंतन को तिलक बनाओ । क्योंकि न तो परमात्मा आचारों अथवा कर्म काण्डों से आकृष्ट किया जा सकता है और नहीं धर्म पुस्तकों के पाठ से परमात्मा का मूल्यांकन किया जा सकता है । अट्ठारह पुराण, चार वेद जो परमात्मा के भेद को नहीं पा सके । केवल सद्गुरु ही ब्रह्म का साक्षात्कार करा सकता

।:- इहि हुरी जात का सार ।
नील रतनु परिहरि होरहि पतलाणु । मनेह जानु से पूजहि पुराण ।।
अभाखिआ काकुटा करहु जागा । पहले उपरि किसे न जागा ।
दे के चलहा कटी कार । उपरि आइ बैठे वृहिआर ।
मासु भिटे ते मासु भिटे । सबु अंनु जाता भिटे ।
तभि भिटे पैड़ करेनि । तभि छुटे पुरी न्होनि ।।
कहु नानक सचु विआपीऐ । सुचि होवै ता सचु पाईऐ ।

आसा की वार, पृ० 472

है।[1] एक अन्य प्रकरण में गुरु देव ने खेती के रूपक द्वारा पंडित को आध्यात्मिक कर्मों का सम्पादन कर सन्मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है कि तीनों अवस्था रूपी - वृत्ति को कूएं की माला बनाओ और उसमें मन को जुत करो तथा हरि नाम रूपी अमृत से क्यारी को सींचो और भरो, तभी तुम आध्यात्मिक माली के धन पाओगे। काम - क्रोध को सुआ बनाओ और उन्हीं से धरती गोड़ो[2]। ऐसा करने से सुख की प्राप्ति होगी और साधना कभी व्यर्थ नहीं जाएगी। एक अन्य

1:- काचवा ब्रह्मा मनु है जोती। तिआनु जनेऊ तिआनु कुलराती।
हरि नामा जपु जाचा माउ। गुर परसादी ब्रह्मि समाउ।
पाडे ऐसा ब्रह्म बीचारु। नामे सुचि नामो पड़ु नामे चपु आचारु॥
आदरि जनेऊ जिअ जोति है नालि। जोती तिआनामु समालि।
अंध अंधे ओंधै खिटली नालि। तिजु नाते होरि करम न नालि॥
पूजा प्रेम माचवा पराजाति। एको देखु अवरु न भाति।
बीजे लतु गम का दुआरा। हरि मुखि पाठ पढ़े बीचारु॥
भोजन भाउ भरमु भउ भागै। पाडुअरा छुहि छोहु न लागै।
तिलकु तिआगि जाणै प्रभु एकु। दुखु हउमै अंदरि विवेकु।
आचारी नही जीतिआ जाइ। पाठ पढ़े नही कीमति पाइ॥
अटवली चपु भेखु न पाचवा। नानक सतिगुरि ब्रह्मु दिखाचवा॥

आसा राग पदे, 20 , पृ० 355

2:- कर हरिदल माल हिरदै परोवउ तिसु भीतरि मनु जोवउ।
अंमृतु सिंचउ भरउ तिआरे तउ माली के होवउ।
काम क्रोधु दुइ करउ बलोले गोडउ धरती भाई।
तिउ गोडउ तिउ तुम्ह सुख पावहु किरतु न मेटिआ जाइ॥

आसा, पदे 9/2-3, पृ० 1171

पद्धति में भी गुरु जी ने ब्राह्मण के नैतिक आचार के अनुरूप उसके स्वरूप का चित्र अंकित किया है।

उसके अतिरिक्त गुरु नानक ने सन्यासियों और साधुओं में व्याप्त पाखंड पूर्ण आचरण का खंडन करते हुए उनके लिये भी नैतिक आचार का प्रतिपादन किया है। एक स्थल पर उन्होंने बताया है कि "मनमुख" सन्यासी किसी अनिष्ट वैराग्य पूर्ण आवेश के कारण अपना घर त्याग देता है और पुनः उदर पूर्ति के लिए दूसरों के घरों की ओर ताकता है। इस प्रकार वह अपने गृहस्थ धर्म को नष्ट कर देता है। सतगुरु के मेल के बिना वह दुर्बुद्धि के भँवर में विलीन रहता है। देश - देशान्तरों में भटकता है, धर्म - ग्रन्थों का पठन - पाठन करता है परन्तु शान्ति के विपरीत उसकी तृष्णा और भी अधिक बढ़ती जाती है। वह इस नाशवान शरीर के लिए शब्द को नहीं पहचानता और पशुओं के समान केवल अपने पेट को ही भरता है। गेरुआ धोकर वह अपने वस्त्र रंग लेता है और भिक्षुक का वेश बना लेता है। वह वस्त्रों को फाड़कर कंथा और जोगी का रूप दे लेता है और स्वयं घर - घर में भीख माँगने पर भी लोगों को त्याग का उपदेश देता है। वह वस्तुतः मन से अंधा है और उसने अपनी प्रतिष्ठा नष्ट कर दी है। माया से अभिभूत होने के कारण वह शब्द को नहीं पहचानता और इस प्रकार अपने जीवन रूपी पुर के खेल में हार जाता है। ऐसे मनुष्य के भीतर तो वस्तुतः तृष्णा की आग जल रही है, परन्तु इस रहस्य का ज्ञान गुरु के द्वारा प्राप्त होता है। वह सन्यासीवाद त्यागकर शरीर पर विभूति मलता है और माया का मार्ग त्यागता

1:- सो ब्रह्मणु जो बिंदै ब्रह्मु।
जपु तपु संजमु कमावै करणी।
सील संतोखु का रखै धरणी।
अंजन लीजै सोचै मुलु।
सोई ब्राह्मणु फूकु धूलु।

रामकली वारां से अंक 16 पृ0 141।

है । वह एक परमात्मा को अन्दर - बाहर नहीं देखता और यदि कोई उसे वास्तविकता का बोध कराए तो वह क्रुद्ध हो उठता है । पाठ करने के साथ - साथ वह मुख से कुछ भी बोलता है । वह नाम स्मरण नहीं करता और सेवा किए बिना भला वह कैसे सुख प्राप्त कर सकता है ।

इसी प्रकार गुरु नानक ने काबड़ी , मोनी आदि साधुओं का भी चित्रण किया है :-

काबली साधु :-

साध कमधु का पड़ीआ मसि तुलना उधी भारी ।
लखवी तसि करि काम्मि चितारिआ चितु लाइआ पलारी ।
लिख करे करि सबदु न बीने लेटु है बाजारी ।
अंतरि चितु बाहरि निभराती लाजवु करे छुआरी ।।[2]

मोनी साधु :-

मुंदु मुलाइ जपु सिख आसी मोनि रहे अभिमाना ।
मनूआ डोले दहदिस धावै चितु रता आलम गिआना ।
अमृतु छोडि महा बिखु पीवै माइआ का धेआना ।
जितु न मिटै हुकमु न बूझै पड़ुआ माहि समाना ।[3]

इस प्रकार गुरु - कवि ने अपने इन प्रतिनिधियों के दुराचरण का खंडन करते हुए उनके लिये नैतिक आदर्श प्रस्तुत किए । गुरु देव के अनुसार सच्चे संन्यासी का स्वरूप इस प्रकार होना चाहिए :-

---

1:- मारू, अष्टपदी 1/1-4 आदि ग्रन्थ , पृ0 1013
2:- मारू, अष्टपदी 1/6 वही पृ0 1013
3:- मारू, अष्टपदी 1/3 वही पृ0 1013

सो सम्प्रदायी जो सतिगुर सेवे दिवसु राति गवाए ।
छादन भोजन की आस न करई उपदेसु मिले सो पाए ।
बैठे न जोले बिना हरि बोले लाग्यु नामि जाए ।
हरि गिरही सम्प्रदायी जोगी जिहरि बाणी दिहु नाए ।
आस निरास रहे सम्प्रदायी एकु सिउ लिव लाए ।
हरि रसु पीवे ता सहजि आवे जिन हरि साड़ी लाए ।
मनूआ न डोले गुरमती खोजे आतमु परमु रवाए ।
दिहु सतीक गुरमती होवे सचु पदारथु पाए ।[1]

इसके अतिरिक्त गुरु नानक ने पाखंडी, उदासी, अवधूत आदि साधुओं के लिये भी नैतिक आदर्श प्रतिपादित किए हैं :-

पाखंडी :-

सो पाखंडी जि काइआ पखाले ।
काइआ की अगनि ब्रहमु पजाले ।
सुपने बिन्दु न देई जाला ।
तिसु पाखंडी जरा न मराला ।[2]

उदासी :-

सो उदासी जि पाले उदासु ।
अरध उरध करे बीर निरासु ।
बेद सुरत की पाए गति ।
तिसु उदासी का पड़े न खेहु ।[3]

1:- माझ, अष्टपदी 7/1-8 पृ० 1013
2:- रामकली, शलोक 7 पृ० 932
3:- रामकली, शलोक 6 पृ० 932

अवधूत :-

सो अवधूती जो धुरे आपु ।
भिखिआ भोजनु करे संतापु ।
अठसठ परण मधि भीखिआ करै ।
सो अवधूत सिवपुरि चढै ।

वैरागी :-

सो वैरागी जिउलटे इहमनु ।
गगनु मंडल मधि दीपे धूंनु ।
अहिनिसि अंतरि रहै चिरातु 2
ते वैरागी सहज समानि ।

गुरु नानक ने तत्कालीन जैन धर्म के बाह्याडम्बरों पर भी तर्क की है । एक स्थल पर उन्होंने बताया है कि वे सिर के बाल नोच कर गन्दा पानी पीते हैं और जूठा भोजन माँग माँग कर खाते हैं । वे अपना मल फेंककर मुँह से उसकी दुर्गन्ध लेते हैं । पानी देखकर सहम जाते हैं और भेड़ों के समान बाल बुनवाते हैं ।वे किसी प्रकार की सामाजिक मर्यादा का पालन नहीं करते । शोकाकुल व्यक्तियों के सदृश सदैव दुःखी अवस्था में बैठते हैं । उनकी कमर से चाबी बन्धी रहती है और हाथों में ऊन की बनी मार्जनी होती है । आगे पीछे परिव्रजन रूप में चलते हैं । न तो वे ओगी हैं, न जैन, न काज़ी हैं न मुल्ला । परमात्मा के मारे हुए वे तिरस्कृत अवस्था में रहते हैं । उनका समूचा सम्प्रदाय ही बिगड़ा हुआ है । वे यह नहीं समझते कि जीवों को मारने और जीवित करने वाला तो परमात्मा स्वयं ही है । परमात्मा के बिना अन्य कोई भी जीवों की रक्षा नहीं कर

1:- रामकली, श्लोक 5, आदि ग्रन्थ, पृ0 932
2:- रामकली, श्लोक 8, वही पृ0 933

सकता । सिंह के भय्कर से स्नानादि भी नहीं करते । वस्तुतः मनुष्य के जीवन में जप का क्या महत्व है, यह लक्ष्य से नहीं बच सके । [1] "मलार की वार" में गुरु नानक ने इस प्रकार जप वैष्णवों का स्वरूप वर्णन करते हुए उन्हें शब्द - साधना का महत्व बताकर उनके लिये भी नैतिक आदर्श की स्थापना की है :-

तिन जाति न पति न वरणु जमु गलाज्जा ।
मनि छूटे सै जाति छुटा जाज्जा ।
सिधु सबदे साधक न सिखी पाइआ,[2]
गुरमुखि ओंकारु सबदि समाज्जा ।।

हिन्दू धर्म के समान गुरु नानक को इस्लाम - मत की भी यथेष्ट जानकारी थी । कुरान - शरीफ की अनुकरणीयता और परमोत्कृष्टता प्रस्तुत उदहरण में द्रष्टव्य है ।[3] गुरु देव का दृष्टिकोण हिन्दू - धर्म तथा इस्लाम दोनों के प्रति समान रहा है हिन्दू धर्म ग्रन्थों के लोक साथ इस्लामिक धर्म - ग्रन्थों का भी उन्होंने उल्लेख किया है । इसी प्रकार हिन्दू

1:- मल की वार, श्लोक 88 45 आदि ग्रन्थ, पृ० 130
2:- मलार की वार, पउड़ी 16 , वही पृ० 1285
3:- आखा जीवु वला विगाड़ । पाकीनाई पाव भार सचा परवाडिगार ।
तेरा हुक्मु न जाणी केहड़ा सिफति न जाणे कोइ ।
जे सउ सादर मेलीअहि सिधु न पुजावहि रोइ ।
कीमति किनै न पाईआ सभि सुणि सुणि आखहि लोइ ।
पीर पै कामल सालक साबक सुहदे अक सहीद ।
सेख मसाइ काजी मुला केहि वेखे खलीद ।
अरकति तिन का काली पहदे रहनि खाद ।
सिरी, अष्टपदी , आदि ग्रन्थ, पृ० 93
4:- सेख म पाईआ पंडती जि होवै लेखु पुराणु ।
वसतु न पाइओ कादीआ जि लिखनि लेखु कुराणु ।
जपु पउड़ी 21 , पृ० 5

और इस्लामिक विश्वासों और रीतियों का भी एक - साथ चित्र चित्रित हुआ है। [1] वह धार्मिक विधि - विधानों के प्रति गुरु नानक को किसी प्रकार की कोई श्रद्धा नहीं थी, भले ही वे किसी भी धर्म से सम्बन्धित क्यों न हों।

गुरु नानक ने इस्लाम धर्म के समकालीन मुल्लियों, अर्थात् काजियों और मुल्ला लोगों का आचरण बहुत निम्न कोटि का बताया है। काजी लोग तसबीह | माला | फेरते हैं और न्याय का धन्धा करते हैं, परन्तु घूस लेकर सच को झूठा देते हैं और यदि ऐसा करने पर उन्हें पूछा जाता है तो कोई न कोई शास्त्रों की बात सुनाकर सन्तुष्ट कर देते हैं। [2] वे कुछ बोलकर शैतान की कमाई खाते हैं। [3] गुरु नानक के लिए इस प्रकार का भ्रष्टाचार असह्य है। अतः उन्होंने अनेक स्थलों पर इन काजियों के नैतिक आचरण को ऊँचा उठाने के लिये अपने विचारों को प्रतिपादित किया है। [4] उनका कथन है कि सच्चा काजी सच्चा मुल्ला वही है जो परमात्मा का नाम जानता है, जिसने अपने - मन का त्याग कर दिया है और जिसने नाम को ही एक मात्र आधार बना लिया है। [5] जो माया से अपने चित्त को उलट लेता है और गुरु की कृपा से जीवित अवस्था में ही अहंभाव को मारकर मर जाता है। [6]

गुरु नानक ने एक मुसलमान के लिए भी नैतिक आदर्शों की स्थापना की है। उनके मतानुसार मुसलमान कहलाना बहुत कठिन है, क्योंकि यदि कोई सच्चा मुसलमान है, तभी वह अपने - आप को मुसलमान कहलाने का अधिकारी बन सकता है। वास्तविक मुसलमान बनने के लिए सर्व प्रथम आवश्यकता होगिया

1:- जपु पउड़ी 11, आदि ग्रन्थ, पृ० 3

2:- काजी सोइ जे जुगति पछाणै। पैसे हकी कहै निताणै।
सटी सेती जे रुचु गवाए। जेते पुछै तेता पढ़ि सुणाए।
रामकली, रलोक, 1, पृ० 951

3:- काजी कूडु बोलि मुरदारु। आसादी, पदे 1/2 आदि ग्रन्थ, पृ० 662

4:- माझ की वार, रलोक 8 वही पृ० 141

5:- सिरी, पदे 28/2-3 आदि ग्रन्थ पृ० 24

6:- काजी सो जो उलटी करै। गुरपरसादी जीवतु मरै। आसादी, पदे 1/3
पृ० 662

के दीन को प्रेम करना है। दूसरे, उसे अपनी कमाई में से गरीबों को दान आदि देकर उसे अपने को पेशा नेक बनाना चाहिए जैसे मोटे कपड़े उतार कर जो साफ किया जाता है। तीसरे, दीन के अनुकूल चलकर सही मुसलमान बने और जन्म मरण के भ्रम को नष्ट कर दे। चौथे, परमात्मा की रजा को शिरोधार्य करे। पांचवें, परमात्मा को सर्वांपुरुष मानकर अपने मन की भावना को नष्ट करे और छठे, समस्त प्राणियों के प्रति दया की भावना मन में रखे।[1] तभी वह सच्चा मुसलमान बन सकता है। इसके साथ साथ गुरु नानक ने समकालीन छुरी रोजों का चित्रण करते हुए भी उनके लिये नैतिक मान दंडों की स्थापना की। उदाहरणार्थ पुण्यात्मा रोजेदार बनने के लिए गुरु नानक का कथन है कि सत्य की छुरी को जिसका लोहा सत्य का हो और जिसे प्रभु ने स्वयं बनाया हो, शब्द की सान पर पैनी करके शुभ गुणों की म्यान में रख जाये। यदि इस प्रकार की छुरी से रोजे का हनन किया जाये तो उसका लोभ रूपी रक्त निकल जायेगा। इस प्रकार वह रोजेदार होकर क्षमा में समाधिस्त हो जाता है।[2] यहाँ गुरु नानक का सदाचरण की ओर स्पष्ट संकेत दे रहे हैं।

1:- मुसलमाणु कहावणु मुसकलु जा होवै ता मुसलमाणु कहावै ।।
आपि उपाइ दीनु करि सिठा मुसलु मारणा मनु मुसावै ।
होवै मुसलिमु दीन मुहाणै मरण जीवण का भरमु चुकावै ।
रब की रजाइ मने सिर उपरि करता मनै आपु गवावै ।
तउ नानक सरब जीआ बिखसमिति होवै त मुसलमाणु कहावै ।।
माझ की वार, रसोक, आसादी, पदे पृ० १५।

2:- रब की काती रबु सबु साकु । आपे रिजकी आपे आपु ।
सबदे साण चढाई लाइ । गुण की बेधे विधि समाइ ।
रिजकु चुगा होवै सेतु । होइ सबु रिजकु देतु
होवै खाकु त आपि जाइ । नानक हरि दीदारु समाइ ।।
रामकली रसोक, पृ० ९३८

गुरु नानक ने नमाज़ के आदर्श तथा वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए बताया है कि मुसलमानों की पाँच नमाजें हैं, उनके पाँच समय और पाँच विभिन्न नाम हैं, परन्तु वास्तविक नमाज़ों का रूप इस प्रकार होना चाहिए - सत्य इसका ख्याल है, हक की कमाई दूसरी, परमात्मा से सभी का भला मांगना तीसरी, नीयत को साफ रखना चौथी तथा प्रभु की प्रशंसा करना पाँचवी नमाज है। और यदि इस प्रकार की नमाजों के साथ शुभ कार्यों तथा श्रेष्ठ आचरण का जामा पढ़ा जाए तभी वास्तविक मुसलमान बनने का अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।[1] इसी प्रकार गुरु नानक देव ने मुस्लिम धर्म के सभी अन्य चिन्हों का भी मौलिक तथा आदर्श रूप प्रतिपादित किया है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि गुरु नानक ने धर्म में सदाचरण को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। वस्तुतः उनके मानवधर्म का मूलाधार सदाचरण और शुभ कर्म हैं। उनकी सहज साधना अथवा सहज धर्म सद्वृत्तियों का पुंजीभूत रूप है। इस साधना को सम्पन्न करने वाला साधक गुरमुख है जो गुरु नानक का आदर्श पुरुष है। इस प्रकार सदाचरण ही सहज धर्म है। गुरु नानक संसार के सभी धर्मों को सत्य से भिन्न रूप का मानते हुए सत्य से ओतप्रोत आधार का स्थान निर्धारित

1:- पंजि निवाजा वखत पंजि पंजा पंजे नाउ।
पहिला सचु हलालु दुइ तीजा हेत सुभाउ।
चउथी नीअति रासि मनु पंजवी सिफति सनाउ।
करणी कलमा आखि कै ता मुसलमाणु सदाउ।
नानक होर कुहिआर कुछे कुंडी पाउ।

माझ की वार, श्लोक, पृ० 141

2:- सिहर मकीति सिदकु मुसला हकु हलालु कुराणु।
सरम सुंनति सीलु रोजा होहु मुसलमाणु।
करणी काबा सचु पीरु कलमा करम निवाज।
तसबी सा तिसु भावसी नानक रखै लाज।

माझ की वार, श्लोक, पृ० 140

करते हैं।[1] खेती के एक रूपक द्वारा वे व्यक्ति को नैतिक आचरण का उपदेश देते हुए कहते हैं कि अब शरीर को धरती और शुभ कर्मों को बीज बनाया जाय, परमात्मा को सींचने का जल समझा जाय मन ही किसान हो, और हरि नाम धन को हृदय में जमा किया जाये तभी परम श्रेयस मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[2] इसके विपरीत सदाचरण न करने वाले के आचार का भी खेती के रूपक द्वारा चित्रण करते हुए गुरु नानक ने बताया है कि रात और दिन उसकी खरीफ और रबी नामक फसलें हैं, काम और क्रोध बीजने के लिए खेत हैं। लोभ पानी है, झूठ बीज है और मोह उसे खाने वाला किसान है तथा विकारयुक्त विचार फल है। वह व्यक्ति इस प्रकार की खेती उत्पन्न करता और खाता है। परन्तु जब उसके कर्मों का लेखा मांगा जाता है तो उसका जीवन सदाचरण के अभाव में व्यर्थ सिद्ध होता है।[3]

गुरु नानक ने किसी का भी अधिकार छीनने का विरोध किया है। उनके अनुसार पराया धन, परस्त्रीगमन के लिये बहुत बड़ा तथा हिन्दू के लिये गाय - हत्या के समान है। गुरु अंगद और किसी व्यक्ति का तभी समर्थन करते हैं, यदि

1:- 1:- सचु धोरे सतु धरणी उपरि सचु आचारु ।। सिरी, अष्टपदी 1/3 पृ० 62

2:- सचु सतु धरती बीजु करमा करो सलिल आपाउ सारिंग पाणी ।
मनु किरसाणु खसि-दि हरि निवै फुलाउ मे एह पाकसि गहु निसराणी ।।
सिरी, पदे 26/1 पृ० 23

3:- लाहणु रासि अलाहु दिहु कामु क्रोधु दुइ खेत ।
लहु एह धरोगु बीजु ताली राचसु खेत ।
लहु बीजाउ विकार फल दुखी खाये जाइ ।
नानक लेखै मंगिऐ अउतु जोदा जाइ ।
रामकली, ओअंकार आदि ग्रन्थ, पृ० 955

सब छूटे ढोंग से , अनाचरण पूर्ण रीति से की गई कमाई पर अपने - आप को निर्भर न करे । केवल बातों से धर्म की प्राप्ति नहीं होती, सच्ची कमाई से ही मुक्ति संभव है । अनुचित ढंग से अनार्जन कभी नहीं हो सकता । झूठी बातों से झूठ ही प्राप्त होता है ।[1] वस्तुतः सत्य और धर्म द्वारा जो व्यक्ति नाम रूपी धन को प्राप्त कर लेता है, जिसके हृदय में परमात्मा का निवास है वही गुरु समदर्शी और गंभीर है । सांसारिक धन के कारण व्यक्ति को दंडित होना पड़ता है, यह धन व्यक्ति का सहायक नहीं हो सकता । जिन लोगों के पास इस प्रकार का धन है, वे वास्तव में निर्धन हैं ।[2]

अतः स्पष्ट है कि गुरु नानक ने अपनी धर्म - साधना में सदाचरण को विशिष्ट स्थान दिया है । सदाचरण के भी आगे दो रूप देखे जा सकते हैं - एक नैतिक आचरण ,यथा , शौचत्व, संतोष , संयम , परोपकार, क्षमा, दान, दया, नम्रता, समदर्शिता, निर्भयता, निर्वैरता, परस्पर प्रेम भाव, उदारता सहकारीता आदि । और दूसरे निषिद्ध आचरण का त्याग, यथा - कामादिक वासनाएं, मान, कपट, तृष्णा आदि का निषेध । गुरु जी ने अपनी वाणी में सर्वत्र नैतिक आचरणों के पालन पर बल दिया है और निषिद्ध कर्मों के त्याग में ही मनुष्यता का कल्याण बताया है ।

1:- झूठु पराछा नानका झूठु सूअर झूठु गाइ ।
गुरमीरि हामा सा भले जा मुखबाल न जाइ ।
गली भिसति न जाईऐ छुटै सचु कमाइ ।
मारण पाहि हराम महि होर हलालु न जाइ ।
माझ की वार, श्लोक आदि ग्रन्थ, पृ० 141

2:- सचु धनु वेस नानका जो धनु पले पाइ ।
सो धनु निहचु न कांढीऐ वे जिथु सिरि चोटा खाइ ।
जिन के पले धनु सचे तिन्हा नाउ फकीर
जिन के हिरदे सचु खरि से नर गुणी गहीर ।
मलार की वार ,श्लोक, सही पृ० 1288

सत्य कहने की बात है कि गुरु नानक एक आध्यात्मिक पुरुष होते हुए भी, उन्होंने सम्पूर्ण समाज के नैतिक विकास की ओर विशिष्ट ध्यान दिया है। उपर्युक्त अध्ययन से हम स्पष्ट कर चुके हैं कि मध्यकालीन समाज के नैतिक विकास का केन्द्र बिन्दु धर्म था, अतः गुरु नानक ने धर्म के माध्यम से ही समाज के सम्मुख मंच के लिए सदाचरण अर्थात नैतिक मूल्यों की प्रतिस्थापना पर बल दिया। इसी सन्दर्भ में वे धर्म के प्रतिनिधि पंडित, काज़ी, मुल्ला, शेख के आडम्बरों तथा अनैतिक आचरण का विरोध करते हुए एक सदाचरण मूल्य को प्रतिपादित करते हैं। वे सीधे रूप में किसी धर्म का विरोध नहीं करते हैं अपितु व्यक्ति के एक धर्म में, सम्प्रदाय में रहते हुए ही उसके नैतिक मानदंड का स्वरूप निर्धारित करते प्रतीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त गुरु नानक ने सामाजिक नैतिकता के प्रतिपादन के लिये सीधे समाज, क्षेत्र से सम्बन्धित प्रश्नों पर भी अपने विचार व्यक्त कर दिए हैं। वर्ण - व्यवस्था भारतीय समाज का पैतृकभिन्न की रही है। वर्ण - व्यवस्था के मूल में मानव जीवन के उन्नयन औरकल्याण उत्थान सम्बन्धी भले ही कतिपय तत्व सुरक्षित रहे हों, किन्तु कालांतर में उसका वास्तविक स्वरूप और भावना समाप्त हो गई थी और उसका स्थान जाति - पाति के भेद भाव ने ले लिया था। मनुष्य मनुष्य न रहकर केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बन गया था। डॉ० त्रिवेदी ने बताया है कि यदि इन निर्गुण पंथ संतों की वाणियों का सामाजिक अध्ययन के लिए विश्लेषण किया जाये तो एक बात स्पष्ट- स्पष्ट हो जायेगी कि इन वाणियों को रच देने में मध्यकालीन स्तर भेद की कठोरता का बड़ा हाथ है।[1] गुरु नानक ने संत कबीर के समान इस भेदभाव का कठोर विरोध किया।[2] वस्तुतः

1:- मध्यकालीन धर्म - साधना, डॉ० हजारी प्रसाद त्रिवेदी, पृ० 108

2:- गल विचि कपड़ा कछ कर मांसु गोचरि लइयु न जाई।
बोली छिजै ते जपमाली आपु मोहणं हारै।
अंतरि पूजा पड़हि कलेवा संजमु तुलसी भारै।
छोलीले पाखंडा। नामि नहीं जाहि तरंदा।

आसा की वार, श्लोक 33, पृ० 471

से किसी को उत्तम अथवा नीच न मानकर सभी का समान मानते थे।[1] उनके अनुसार नीच वह है जो अपने मालिक अथवा सत्य स्वरूप परमात्मा को भुला देता है।[2] जाति का कोई महत्व नहीं है, परमात्मा ही सत्य की परख करते हैं। जातीय अहंकार विष के समान है और जिसके पास यह विष है वह उसे ग्रहण करने पर अवश्य ही मर जायगा।[3] डा० भाई जोध सिंह ने गुरु - काव्य के सन्दर्भ में कहा है, "प्रत्येक मनुष्य समान है, इसलिए जाति - पाँति का भेद समाप्त होना चाहिए। यह प्रथम भ्रातृत्व प्रेम का सिद्धान्त था जिसे गुरमति ने दृढ़ता से स्थापित किया।"[5] गुरु नानक ने निस्संकोच भाव से जाति - पाँति के विभाजन को दूर तथा व्यर्थ बताया है।

"कहु जाती पकड़ि राखै। समा धीआ कउ छडाइ"[4] गुरु नानक का कथन है कि आगे जाकर मृत्युपरान्त परलोक में जाति की रक्षा के लिए कोई स्थान नहीं है।[5] उस स्थिति में सब में एक परमात्मा की ज्योति को विद्यमान समझना चाहिए, किसी की जाति नहीं पूछनी चाहिए।[6] गुरु नानक ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि प्रभु के यहाँ जाति - जन्म का प्रश्न नहीं पूछा जाता, इसलिए व्यक्ति को नैतिक गुणों का विकास करना चाहिए। व्यक्ति के कर्म ही उसकी जाति हैं।[7]

गुरु नानक आश्रम व्यवस्था को भी व्यक्ति के सतत नैतिक विकास के लिये अनावश्यक मानते थे। समाज में नैतिक मूल्यों के प्रतिपादन के लिये, समाज को सुचारु रूप से गतिमान करने के उद्देश्य से उन्होंने गृहस्थाश्रम को सर्व श्रेष्ठ

1:- नानक उतमु नीचु न कोइ। जपु पउड़ी 33 पृ०
2:- सलम सिमारहि से वड जाति। आसा, वार 2/4 पृ० 349
3:- जाती दै किआ चलि सहु पछाणै। सुहरा होवै मरीए चाणै।
माझ की वार पउड़ी 10 पृ० 145
4:-"गुरमति निरणय" पृ० 213
5:- आदि ग्रन्थ पृ० 83
6:- "को जाति न जोनि है को जीअ नो"। पृ० 469
7:- जातु जनेउ न पूछीऐ सच घरु लेहु बताइ"। वही पृ० 1330

स्वीकार किया है। वे स्वयं शिक्षित थे तथा उनके सभी अनुयायी इस सामाजिक मान्यता का सही निष्ठा से पालन करते थे। क्योंकि गुरु वेश जाल से वे जो मन - मुख व्यक्ति सेवाराम्य की अन्तिम लहर के आवेश में अपना घर - बार त्याग देते हैं, वे पुनः उदरपूर्ति के लिये दूसरों के घरों की ओर ताकते हैं।[1] वे यति कहलाते हैं किन्तु वास्तविक यति बनने की युक्ति को नहीं जानते और व्यर्थ में अपना घर - बार छोड़ बैठते हैं।[2] इनके व्यर्थ कृत्यों पर प्रकाश डालते हुए नानक ने उनकी साधना को भी व्यर्थ माना है और उसके विपरीत गृहस्थी की भक्ति को सफल एवं कल्याणकारी स्वीकार किया है।[3]

गुरु नानक ने गृहस्थाश्रम को केवल पारिवारिक जीवन तक ही सीमित नहीं रखा। अपितु उसकी कर्तव्य सीमा भी निश्चित की है। उनके अनुसार वास्तविक गृहस्थी वह है जो इन्द्रियों आदि का निग्रह करता है जो परमात्मा से जप, तप और संयम की भिक्षा माँगता है, जो अपने शरीर को पुण्य दान से युक्त

1:- मनमुख यति घरि घरि फिरहि अंतरा हे घर हेरे।
गुर सबदु न चीनहि सति गुरु न भेटे दुरमति फिरन घेरे।। मारू, अष्टपदी 1/1 पृ0

2:- आसा की वार, श्लोक आदि ग्रन्थ, पृ0 473

3:- जोगी भोगी कापड़ी किआ गति तिसेर।
गुर का सबदु न चीनही सभु सारु निरासेर।
पतिसु पाहे जोगसी नित पढ़हि पुराणा।
अंतरि वसतु न जाणनी घरि ब्रहमु सुजाणा।
इकि तमसी मनि सभु करहि नित तीरथ वासा।
आपु न चीनहि लामसी कांवै भर उदासा।
इकि भिन्दु जतन करि राखदे से जती कहावहि।
बिनु गुर सबद न छूटसी फिरि आवहि जावहि।
इकि गिरही सेवक साधिका गुरमती लागे।
नानु दातै बखसिआ पूरे वडभागे।

आसा, अष्टपदी 14/3-4 पृ0 418-19

करता है। उस प्रकार का गृही गंगा जल के समान पवित्र होता है।[1]

गुरुग्रन्थ के अनुसार पति - पत्नी के नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन भी गुरु वाणी में किया गया है। गुरु - कवि का कथन है कि जो मात्र एक स्थान पर रहते हैं वे पति - पत्नी नहीं कहे जा सकते, पति - पत्नी तो दो शरीरों में एक रूप के समान, एक ज्योति के समान निवास करते हैं।[2] एक स्थल पर गुरु नानक ने आदर्श पत्नी का आधार भी वर्णित किया है। वे आदर्श पत्नी को सोहागणी[3] तथा अपने आदर्श से रहित पत्नी को दोहागणी[4] कहते हैं। नारी के प्रति गुरु नानक ने अन्य मध्यकालीन सन्तों के विपरीत बड़ी सकारात्मक भावनाओं का प्रतिपादन किया है। सामाजिक नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में सदैव प्रत्येक युग में नारी के प्रति दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण माना जाता रहा है। गुरु कवि ने नारी के प्रति तिरस्कार, घृणा तथा उपेक्षा के व्यवहार के विरुद्ध स्वर उठाया। उनके काव्य में स्त्री को समाज का अति समादृत अंग माना गया है। उनका कथन है कि जिसके कारण संसार में पुरुष का अस्तित्व संभव हुआ, जिसके गर्भ में शिशु लेकर मनुष्य ने जिस का प्रकार देखा, जिसके दूध (अमृत) समान दुग्ध - पान से अपने जीवन प्राप्त किया, उस सर्वजननी का तिरस्कार और अनीति तथा कृतघ्नता है।[5] गुरु नानक ने सदैव अपने नैतिक मूल्यों की स्थापना में स्त्री को संगिनी एवं सम्मानित पत्नी, पुत्री, माता तथा बहिन का रूप दिया है।

1:- सो गिरही जो निहचु करै। जपु तपु संजमु भीखिआ करै।
पुत्र कलत्र का करै सहीकु। सो गिरही गंगा का नीरु। रामकली, सलोक 4 पृ0952

2:- आदि ग्रन्थ, पृ0 788

3:- जा सोहागणि साधी जिन सचि पिआरु अपणा पिरु राखै सदा अरवारि। पृ0 363

4:- दोहागणी किआ मीआणीआ। खसमु पछाणै घरि निमाणीआ॥ आ:ग्र: पृ0 72

5:- भलि जमीऐ भलि निमीऐ भलि मोलु सीआवु।
भलु होवै दोवखी भलु पले राहु।
भलु पुता भलु भालीऐ भलि होवै संसारु।
सो किउ मंदा आखीऐ जितु जंमहि राजान।

आदि ग्रन्थ, पृ0 473

लक्ष्य करने की बात है कि मध्यकालीन सन्तों में गुरु नानक की वाणी में नारी के प्रत्येक रूप का बड़ा सम्मान जब दर्शन प्राप्त होता है। यही कारण है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में बाबर के आक्रमण के कारण स्त्रियों की करुण दशा देखकर हुं गुरु नानक द्रवित हो उठे थे।[1] नाथयोगियों ने स्त्री को पूरा, भग एवं सिरकार का सिद्ध माना है। योगियों ने नारी को माया के समान स्वीकार करते हुए उससे सतर्क बने रहने का उपदेश दिया है। सहजयोगी सन्तों की नारी सम्बन्धी विचारधारा पर भी योगियों का प्रभाव यत्र प्रतीत होता है। स्वयं कबीर ने नारी को माया माना है। गोरख नाथ के नाम पर उपलब्ध कतिपय पदों में स्त्री को साधिन कहा गया है, जो पुरुष के सतोगुण को क्षीण कर देती है।[2]

गुरु नानक से बहुत पहले हमारे यहाँ सती - प्रथा का प्रचलन न था। इस कुप्रथा ने समाज में न केवल नारी का अवमूल्यन ही कर दिया था, बल्कि पुरुष - विहीन स्त्री सत्ता का अस्तित्व ही अवांछित समझा जाने लगा था। इसका प्रचलन कैसे हुआ, यह तो नहीं कहा जा सकता। साहित्यिक अनुमान की दृष्टि से कहा जा सकता है कि कभी प्रेमोन्मत्त कोई पत्नी पति की चिता से कूद गयी होगी व फिर धीरे धीरे उसी दुर्घटना को रूढ़ बनाकर समाज ने मर्यादा और सम्मान देकर अन्य सब स्त्रियों को न चाहने पर भी[3] जीवित पति की चिता में जलने के लिए विवश करना आरम्भ कर दिया होगा। प्रथा बन जाने पर तो पति की मृत्यु के बाद लोग सोत्साह विधवा को सोलह शृंगार करवाते और उसके हाथ में

1:- जिन सिरी सोहनि पटीआ माँगि पाए सेंदूरु ... आदि ग्रन्थ, पृ० 417

2:- दामि काढ़ि बाधनि मे आखा। माई कहे मेरा पूत बिकाखा।
गोली लड़ी को पूत लाखा। तिल तागा टूटै सिर साखा।
बाधनि हमरी सिधि मे, बाधनि हमरी सिधि मे, बाधनि हमरी काखा
इन बाधनि मे जोगि खाई, बदिति गोरख राखा॥
गोरख बानी, सं० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल

3:- किरति खोइगि सती उठि होई।
देखा देखी मन यहि जसि आई।
पिय सगु न पावै बहु जोनि भवाई। आदि ग्रन्थ, पृ० 109

सिंदूर लगाकर नायिका बना देते। नायिका देने की रीति पूर्ण हो जाने पर तो उसके लिए जल मरना अनिवार्य हो जाता था। मृत्यु भय से यदि स्त्री देने में विचलित हो जाती तो उसे कूटा कहकर अति अपमानित किया जाता था।[1]

गुरु - कवि के अनुसार किसी को जल - मरने के लिए विवश करना बर्बर अत्याचार था। उन्होंने इस कुरीति का डट कर विरोध किया। जलें बाल बलिदान की भावना तो थी नहीं, न ही जल मरने से पति का मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसा मन का छल था, उसके लिए जल कर मर जाना कोई उपयुक्त समाधान नहीं माना जा सकता। पति को परमेश्वर मानते हुए उसकी स्मृति में सौहार्द्य कार देने वाली स्त्री का सती[2] प्रभु - चरणों में आदर पायेगा, ऐसा गुरु नानक का कथन था। अतः उनका विचार था कि पति की चिता में जल मरने वाली स्त्री सती नहीं, क्योंकि वह चितारोहण से मर रही हैं, सच्ची सती स्त्री तो पति का विरह सहन ही नहीं कर सकती, वह तो सती होने की स्थिति तक पहुँचने से पूर्व ही मर जाती[3]। जो स्त्रियाँ अपने पति को अपना समझती हैं, उन्हें पति के साथ चिता में जलने की क्या आवश्यकता है, ये तो जीती हुई भी पति की विरहाग्नि में जलती हैं, और जो पति को अपना नहीं मानती, उन्हें चिता में जलने का क्या लाभ? उनके लिए पति जीए या मरे, वे तो उससे दूर ही भागती हैं[4]।

1:- लागा छाडिऐ मन वसइ।
अउ सत जे मरै भिभि पाईऐ लीनो साथि सँघइ। आ:ग्र: पृ0 338

2:- जो न पाईऐ राम सनेही। बिरहि सँजोगि सती उठि होई।
ऐसा देही मन इहि जमि जाईऐ।
पिउ सेंदु न पाये बहु जोनि भवाईऐ। -
कहु नानक जिनि पिउ परमेसरु करि जानिआ।
सोइ सती वरगह परवानिआ। आदि ग्रन्थ, पृ0 103

3:- सतीआ एहि न आखीअनि जो मड़िआ सगि जलनि।
नानक सतीआ जाणीअनि जि बिरहे चोट मरनि। आ:ग्र: पृ0 787

4:- ऐसा नालि मोहीआ सेजि अगि जलउ।
जे जाणदि पिरु आपणा ता लगु दुखु सहाउ।
नानक जैसे न जाणनी से पिउ अगि जलउ।
भाभे जीवत के मरउ दुरदु ही भजि जाउ। आदि ग्रन्थ, पृ0 787

इसी प्रकार गुरु नानक ने सामाजिक नैतिक आदर्शों को प्रतिपादन करते हुए अनेक अन्य अनैतिक आचारों का विरोध किया। मृत प्रथा का विरोध करते हुए गुरु नानक ने बताया कि यदि चोरी करके अथवा अन्य किसी अनावश्यक अनुचित ढंग से कमाया धन पितरों के निमित्त दान में दिया गया तो आगे वास्तविकता का ज्ञान हो जाने पर परलोक में पितरों को घोर यातना दिया जायेगा और कानों के नाक कट जायेंगे।[1] अर्थात् संसार के व्यक्ति द्वारा अपने पूर्वजों के निमित्त दिया गया दान एक व्यर्थ ढोंग मात्र है। आगे चलकर वही कुछ प्राप्त होता है जो शुभाशुभ कर्म द्वारा इस संसार में व्यक्ति अर्जित करता है।

जन्मोत्सव तथा मरणोत्सव पर पुरोहितों द्वारा कराई गयी सूतक प्रथा को गुरु नानक ने न उचित स्वीकार किया है न युक्ति संगत। क्योंकि गोबर, लकड़ी, अनाज, जल आदि सब के अन्दर जीव विद्यमान हैं। यदि मरणोत्सव पर ही सूतक पड़ता है तो इन वस्तुओं को खाने पर पाक रसोई भी सूतक - युक्त हो सकती है।[2] गुरु नानक ने वस्तुतः तृष्णा को ही वास्तविक सूतक माना है क्योंकि उसी के द्वारा समस्त संसार का विनाश हो रहा है।[3] इसके अतिरिक्त गुरु नानक ने बताया है कि मन का सूतक लोभ, जिह्वा का झूठ, आँखों का परनारी के रूप - सौन्दर्य और पर-धन को देखना और कानों का सूतक दूसरों की निन्दा सुनना है।[4] यह सूतक मनुष्यों के क्रिया - कर्मों द्वारा

1:- ले मोआ का छुटै मुहे मुंहि पितरी देइ।
को वासु लिवाइयै पितरी घोर कोइ।
सहीजवि सभ काल के मुकी पवै कोइ।
नानक जो सो मिले जि लटै वाले वेस। आसा की वार रसोक 35 पृ0 472

2:- आसा, अष्टपदी 4/8 पृ0 413

3:- आसा की वार, रसोक 36 पृ0 473

4:- आसा की वार, रसोक 37 पृ0 473

नष्ट नहीं किया जा सकता, जो तो आत्म-ज्ञान ही उतार सकता है।[1] संत कबीर ने भी कहा है कि राम नाम को हृदय में बिठाने वाले पर यम का प्रभाव नहीं पड़ सकता।[2] यम को जैसा हम मानते हुए गुरु नानक ने जन्म लेना, मरना, खाना, पीना सभी ईश्वरीय रचना के अधीन माने हैं।[3]

गुरु नानक ने अध्ययन अध्यापन के नैतिक मानदंडों का भी प्रतिपादन किया है। उन्होंने केवल आध्यात्मिक शिक्षा को प्राप्त करने पर ही बल दिया है क्योंकि उससे भिन्न अन्य पढ़ना व्यर्थ है। मनुष्य पढ़ - पढ़ कर पुस्तकों को भले ही गाड़ियों अथवा कोठियों में भर ले, भले ही अनेक वर्षों तक निरन्तर वह पढ़ता रहे परन्तु वास्तव में नाम साधना का ही महत्व है।[4] सांसारिक व्यक्ति धर्म - पुस्तकों का अध्ययन करते हैं और स्मृतियों का पाठ करते हैं, लोग वेद पुराण पढ़ते और सुनते हैं, परन्तु परमात्म - ज्ञान-में अनुरक्त हुए बिना उनका मन भटकता फिरता रहता है।[5] पंडित लोग पढ़ - पढ़ कर तर्क-वितर्क करते हैं किन्तु भीतरी लक्ष्य रूपी वस्तु को नहीं जानते।[6] वस्तुतः जिस व्यक्ति में लोभ

1:- आसा की वार, श्लोक 37 आदि ग्रन्थ, पृ० 472

2:- कबि कबीर रामु रिदे बिचारे छलु तिले न छोरै। आदि ग्रन्थ, पृ० 331

3:- सभो छलु मलु है छुटे सो जाइ।
जनमु मरणा छलु है भाणे जाइ।
खाणा पीणा पविलु है बिनोनु बिबु सबाहि।
नानक जिन्ही गुरमुखि बुझिआ तिन्हा छलु नाहि। आसा की वार, श्लोक 18 पृ० 472

4:- पड़ि पड़ि गडी लदी अहि पड़ि पड़ि भरी अहि साथ।
पड़ि पड़ि बेड़ी पाखी पड़ि पड़ि गडी अहि खाल।
पढ़ी अहि जेते अखर अखर पढ़ी अहि जेते नाल।
पढ़ी अहि जेती आखजा पढ़ी अहि जेते साल।।
नानक लेखे इक गल होर छलमे लेखा जाइ। आसा की वार, श्लोक, पृ० 470

5:- पड़ि पड़ि पोथी सिमृति पाठ। • • • • गउड़ी अष्टपदी 11/1
पृ० 226

6:- पड़ि पड़ि पंडितु बादु बखाणे।
भीतरि दोखी छलु न जाणे। गउड़ी, अष्टपदी 4/3 पृ० 223

और अलंकार आदि विकार हैं, उन पढ़े हुए को भी भूल जाना चाहिए। गुरु द्वारा दिए उपदेश पर विचार कर केवल नाम को पढ़ना और समझना चाहिए।[1] गुरु नानक ब्रह्म - विद्या को ही महत्वपूर्ण स्वीकार करते हैं क्योंकि उनका मत है कि ब्रह्म विद्या पर विचार करने से ही मनुष्य परोपकारी बन सकता है।[2] और इस प्रकार के अध्ययन से उसकी मान-प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है।[3] सामाजिक रूप से पढ़ा - लिखा व्यक्ति तो संभवतः अपने कर्मों के कारण दंडित किया जाये परन्तु अशिक्षित साधु अपने पवित्र कर्मों के कारण कभी भी दंडित नहीं किया जाता।[4] क्योंकि वास्तविक शिक्षा तो केवल ब्रह्म ज्ञान ही है।[5] इस दृष्टिकोण से गुरु नानक के लिए सही अध्यापक भी वही है जो ब्रह्म - विद्या पर सहज भाव से विचार करता है।[6] सच्चा अध्यापक वही है जो अपने शिष्यों को सच्चा ज्ञान प्रदान करता है।[7] आदर्श विद्यार्थी के लिये भी गुरु नानक ने पापों से भय खाना, भाव - भक्ति की याचना करना और संतोष तथा संयम को धारण करना आदि नैतिक गुणों का निर्धारण किया है।[8] एक स्थान पर गुरु नानक ने बताया है कि मोह को जलाकर और पुनः उसे घिसकर स्याही बनायी जाये, बुद्धि को, लिखने के लिये श्रेष्ठ कागज़, प्रेम को लेखनी और चित्त को लेखक बनाया जाए और गुरु से पूछकर उस पर विचार - पूर्वक परमात्मा का नाम तथा

1:- पढ़िआ सुणिआ जाणीऐ जिस मनु लागै भाउ अकारा । माझ की वार, पउड़ी 6
2:- विदिआ वीचारी तां परउपकारी । आसा, पंने 29/1 आः ग्रः पृ० 356 पृ० 140
3:- गुरपरसादी विदिआ वीचारे पड़ि पड़ि पावै मानु । परभाती पंने 1329 ।
4:- पढ़िआ होवै गुनकारु ता ओमी साधु न मारीऐ । आसा की वार पउड़ी 12
5:- अंतरि ब्रह्म मनु सूझै ता कोई पढ़िआ पंडितु सोई । आसा पंने 469 पृ० 432
6:- रामकली ओंकार 33 आदि ग्रन्थ, पृ० 938
7:- स वही, ओंकार 33 पृ० 938
8:- सतिगुरु देखिआ दीखिआ दीनी
मनु तनु अरपिओ अंतरगति कीनी । पउड़ी, बसंतपंने 1174 पृ० 227

प्रस्तुत किया जाए जिसका कोई अन्त और पारावार नहीं है। जैसा लेखा लिखने की परमावश्यकता इसलिए है कि जो कर्मों का लेखा मांगा जायगा, वही सच्चे प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकेगा।[1]

इस प्रकार गुरु नानक ने सांसारिक विद्या अथवा ज्ञान की अपेक्षा आध्यात्मिक विद्या अथवा ब्रह्म - ज्ञान का महत्व प्रतिपादित किया है। इस प्रकार की विद्या में "क्रिया" और भाव - द्वित का प्रमुख स्थान है। विद्या और विद्यार्थी में भी कोई अन्तर न मानते हुए उन्हें सदैव सत्कर्मों की निरन्तर प्रेरणा, संयम, दया और सन्तोष को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1:- हिन्दी, पद्य ८। - रहास, पृ० 16

गुरु नानक काव्य का साहित्यिक अध्ययन

प्रथम अध्याय :-

गुरु नानक - काव्य : अभिधेयता विमर्श

चतुर्थ अध्याय :-

गुरु नानक काव्य : अभिव्यंजना शिल्प :-

भाषा:-

"संस्कृति" का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि संस्कृति किसी जाति की उन प्रवृत्तियों का नाम है जिन्हें वह सामाजिक सम्पर्क में कई युगों के परिष्कारों के उपरान्त प्राप्त करती है। भाषागत शब्द, वाक्य विन्यास, अभि - व्यक्ति - कोशल, लोकोक्तियों तथा विभिन्न वेशभूषा आदि सभी से संस्कृति के विभिन्न अंगों पर प्रकाश पड़ता है। एक-एक शब्द अपने गर्भ में जिस विचार-धारा को लिए हुए है वह हमारे पूर्वजों की क्रियाशीलता, विचार-पद्धति तथा व्यवहार-कुशलता की द्योतिका है। यदि ये शब्द जीवित है तो उनके साथ संबद्ध विचार धारा भी जीवित है, और उनके साथ हमारे वह परम्परा भी जीवित है जो युगों के अन्तराल को चीरती हुई अपनी स्वाभाविक जीवनोपयोगी सामर्थ्य रखती है। वैदिक युग के ऋषि, असुर, देव, राक्षस, सप्त, अग्नि, मित्र, सवन आदि शब्दों में हमें उन दिनों की प्रकृति-रहस्यता एवं गवेषणात्मक भाषा-शैली के दर्शन होते हैं। वैदिक ऋषि जिस चिंतन पद्धति को अपने साथ लिए है वह उसकी सामाजिकता का भी परिचय देती है। वे नहीं चाहते कि हमें कोई पाप का प्रलोभन हमारा राजा बने। वे चाहते हैं कि हमारे कर्म श्रेष्ठतम कर्म हों। परमात्मा जो हमारी जन्म, बन्धु, विधाता सभी कुछ है हमारी उपास्य देवी बने। उसके अतिरिक्त अन्य किसी का गुणगान व्यर्थ है। ब्रह्माण्ड भर का धन उसी का है, उसी ने हम सब को प्रदान किया है। शरीर और यह विराट जगत यज्ञ के रूप में है जिन्हें देख कर हमें अपना जीवन यज्ञ पराक्रम बनाना चाहिए।

की से आलोक विकीर्ण होता। यज्ञ के विशेष पक्ष का प्रधान अंग का हेतु है। ऐसे उदात्त समाज की कल्पना हम वैदिक भाषा में प्रयुक्त शब्दों से ही कर लेते हैं। यदि ये शब्द हमारे पास न होते तो हम आज ऐसे सुसंस्कृत समाज का अनुमान भी नहीं लगा सकते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के पारिभाषिक शब्दों की भरमार है जो उस युग की जातिगत विशिष्ट मनोवृत्ति की परिचायिका है। अतिमय शब्दों का भाव यद्यपि आज लुप्त हो चुका है तथापि आर्यों के मस्तिष्क से निःसृत तथा याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रदर्शित हमारे पूर्वजों की विशद विश्लेषण की ओर उन्मुख मनोवृत्ति उस युग की भाषा जानी जा सकती है। उपनिषद् एक भिन्न संस्कृति का दिग्दर्शन कराते हैं जिस में ब्रह्म चिन्तन की प्रधानता है। यज्ञों को जो संकेतात्मक द्रव्य यज्ञ का रूप धारण कर चुके थे और जो लक्ष्य से छिपा बहुत भी रहे हों - इन उपनिषदों में हेयदृष्टि से नहीं देखा गया। हमारी समस्त जातीय शक्ति को जोड़ कर देखना, उस परात्पर तत्व के साक्षात्कार करने में लीन की जिसे अणु से अणु महान् से महान् ईश्वरों का ईश्वर, देवताओं में परम देवता, रूपों में सर्वोत्कृष्ट रूप और भूमा भर का आराध्य देव कहा जाता है। "अन्न से ब्रह्म" से लेकर प्राण, मन, बुद्धि को पार करते हुए उस आनन्दमयी सत्ता की उपलब्धि ही हमारा लक्ष्य रही थी। सत्य सत्ता आत्मन था। और सब लिया "सर्वो खल्विदं ब्रह्म" की अभिव्यक्तिका महती साधना। भारतीय मनीषा से ही अध्यात्म प्रिय रहे हैं पर उपनिषद् का युग तो उन दिनों और प्रिया - जातियों से विशेष अध्यात्म प्रिय प्रतीत होता है।

रामायण और महाभारत ये दोनों महाकाव्य ग्रन्थ अपने - अपने युग की संस्कृतियों के परिचायक हैं। उस युग में दो प्रकार की संस्कृतियाँ विद्यमान थीं। एक आर्य संस्कृति और दूसरी अनार्य-संस्कृति। रामायण के राम आर्य - संस्कृति के पोषक और रावण अनार्य संस्कृति का पालक था। इसी प्रकार महाभारत के कृष्ण आर्य मर्यादाओं के प्रतिष्ठापक हैं। जबकि कंस और दुर्योधन के कार्य अनार्य प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने वाले पाये जाते हैं। रामायण पूर्ण आदर्शवादी व्यवस्था की सृष्टि करती है, पर महाभारत में ठोस यथार्थ के रूप का दर्शन होता है। भारतीय संस्कृति सम्बन्धी इन सूचनाओं को देने वाली महाकाव्यों की भाषा ही तो है। इसीलिए भाषा को मानव संस्कृति की संज्ञा दिया जाता है।[1] इसके अभाव में किसी भी

1 Oscar Luis Chavarria Aguilera.
Lectures in linguistics Page 11

संस्कृति का विकास एवं प्रसार अपेक्षित है।

जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे कितने ही प्रसंग आते हैं जहाँ हिंसा पर यज्ञों का विरोध किया गया है और अहिंसा के मार्ग को ही जीवन का कल्याणकारी मार्ग माना गया है। जैन धर्म में जीवन की कृच्छ्र साधना को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। उस पूजा की जैन धर्म की जगह में पलने वाली संस्कृति का रूप न ज्ञात हो पाता यदि जैन-ग्रन्थों की भाषा से उसके स्वरूप को सुरक्षित न रखा होता। इसी प्रकार बौद्धों के धर्मग्रन्थों में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि आदि शब्दों के द्वारा बौद्धकालीन धार्मिक व्यवस्था का परिचय प्राप्त होता है। कर्म बंधन का विरोध करने के लिए समाज में ये अष्टांगिक मार्ग प्रचलित थे। बौद्ध-साहित्य में पंचशील शब्द आता है। पंचशील के अन्तर्गत प्राणातिपातविरति, अदत्तादान-विरति, काम-मिथ्याचार विरति, मृषावाद-विरति, तथा सुरामेरेय-प्रमाद-स्थान-विरति सीखलाया होती है। पंचशील के इन शब्दों द्वारा आचार-परम्परा का ज्ञान होता है। यदि ये शब्द न होते तो आज हम कैसे जान सकते थे कि बौद्ध कालीन सभ्यता में धार्मिक व्यवस्था किस प्रकार की। इसी प्रकार अन्य कितने ही शब्द पूजा परक सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों की व्याख्या करते हैं। ये शब्द अपने में अपने पूजा का इतिहास लिए हुए चलते हैं।

भाषा समाज-सापेक्ष प्रणाली है, उसकी प्रत्येक गतिविधि समाज की गतिविधि बना करती है और समाज अपने क्रिया व्यापारों द्वारा संस्कृति के स्वरूप का निर्माण करता है। हम जिस प्रकार अपने भावों को व्यक्त करते हैं तथा दूसरे के भावों को सुनते हैं, अत्याचार और अनाचार के प्रति जिस आक्रोशमयी वाणी का प्रयोग करते हैं, दया-दाक्षिण्य उदार्य आदि के प्रति जिन उन्मादमयी स्वरों का संचार करते हैं, ये सब हमारे जीवन के स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं और यह अभिव्यक्ति ही सामाजिक रूप में संस्कृति का आभास प्रस्तुत करती है। प्रकारान्तर से हम यह कह सकते हैं कि हमारी संस्कृति को प्रेरणा प्रदान करती है।

भाषा का ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर विकास होता जाता है त्यों त्यों मनुष्य को अपने भावों के छिपाने की एक कला विशेष प्राप्त होती जाती है। सामान्यतः यह देखा जाता है कि जो अधिक बोलना नहीं जानते या जिनके पास भाषाकोश नहीं है, वे अपने हृदय के भाव को ज्यों का त्यों बिना किसी आवश्यक आवरण के स्पष्ट

कर देते हैं। पर जिन्हें भाषा की कला[1] का ज्ञान है वे अपनी वाणी में बड़ा ही आकर्षक चमत्कार - सिमान उत्पन्न करते हैं और मनचाहे ढंग से अपने भाव को व्यक्त कर देते हैं। ऐसी स्थिति में कभी-कभी सत्य पर एक बड़ा ही सोक्ष आवरण पड़ जाता है।

परस्पर संकेत की प्रक्रिया में हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसके द्वारा भी हमारी सभ्यता - संस्कृति के स्तर का अनुमान किया जा सकता है। जिस प्रकार संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है उसी प्रकार भाषा का भी। स्पष्ट तथा व्यक्ति का दाँधा नाद नहीं करता, नाद करने वाली - भाव का स्वरूप निर्धारण करने वाली उसकी आत्मा है। ज्यों - ज्यों आत्मा का विकास होता जाता है त्यों त्यों भाषा भी गतिमान होती जाती है। इस प्रकार भाषा वास्तविकता और उसके परे के प्रसार में एक गति के रूप में है यह संकेत नवीनाति नवीन रूपों में अपने को प्रकट करने के लिए मचलती रहती है। इस प्रकार भाषा की एक आध्यात्मिक सचाई भी है जिसके माध्यम से एक प्रकार की भावानुभूति को व्यक्त करने वाली अभिव्यक्तियों में साम्य एवं सानुकूलता के लक्षण होते हैं। भाषा एक प्रकार से मानवों के बीच प्रतिष्ठित एक परम्परा है। संस्कृति भी मानव-जाति को एक परम्परा के रूप में प्राप्त होती है। मानव की भाषा भी संस्कृति की परम्परा को अक्षुण्ण रखती हुई उसके भावी रूप का अभिनव शृंगार करने में सक्षम होती है।[2]

कवि की भाषा के सांस्कृतिक पक्ष का विवेचन उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों, लाक्षणिकों तथा लोकोक्तियों के आधार पर किया जा सकता है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं कि संस्कृति -" किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन - व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा - प्रदान करने वाले तत्व आदर्शों की समष्टि" का ही दूसरा नाम है। सामान्य अर्थ में संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जो मानव-व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं। सामाजिक अंग होने के कारण कवि का व्यक्तित्व देश विशेष की संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यही व्यक्तित्व भाषा के माध्यम से काव्य में प्रकट होता होता है। अतएव रूप में कवि की भाषा उसकी सांस्कृतिक विशेषताओं का

1:- लेंग्वेज इज एन आर्ट एण्ड दा आर्टस आर बेस्ट डिफाईन्ड एज लेंग्वेज।
एलीमेन्ट आफ लैंग्वेज, पृ0 3

2:- इन्साईक्लोपिडिया आफ सोशल साईंस, वा0 9 पृ0 15- 16।

प्रतिनिधित्व करती है। सांस्कृतिक पक्ष की दृष्टि से गुरु नानक क्षेत्र की भाषा अत्यन्त समृद्ध एवं महत्वपूर्ण है।

गुरु नानक देव के जीवन-वृत्तांत प्रकरण में हम देख चुके हैं कि गुरु - कवि अपने लगभग बत्तीस वर्ष पंजाब में ही निवास करते रहे। इस लम्बे समय में वे स्वाभाविक रूप से ही उस क्षेत्र की मातृभाषा पंजाबी में ही अपने विचार प्रकट करते रहे होंगे। यही कारण है कि उनकी अन्तिम समय तक मातृभाषा का प्रभाव समान रूप से विद्यमान रहा।[1] इसके साथ ही हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि गुरु नानक देव के समकालीन पंजाब में पंजाबी बोली अनेक प्रभावों को आत्मसात कर रही थी। उस समय की राज्य भाषा फारसी थी। इस भाषा का प्रभाव पंजाब निवासियों की आम बोल - चाल में लक्षित हो रहा था। उस समय की सांस्कृतिक विचारों के आदान प्रदान की भाषा संस्कृतनिष्ठ थी। इन संस्कृतनिष्ठ भाषा के अपने अपने क्षेत्रीय रूप थे। साथ ही गुरु नानक की भाषा को अत्यधिक प्रभावित किया था। उनके समय प्रचलित अन्तर्दाह ने। जिस क्षेत्र से भी गुरु - कवि गुज़रते, उस क्षेत्र के कुछ शब्द निश्चित रूप से उनकी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बन जाया करते थे। निस्सन्देह उनकी काव्य शब्दावली में प्रत्येक क्षेत्र के शब्द ढूँढे जा सकते हैं लेकिन उनका व्याकरण समस्त रूप पंजाबी है। शब्दावली को भी उन्होंने प्रायः पंजाबी उच्चारण तथा पंजाबी रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है।[2]

गुरु नानक की शब्दावली को निश्चित करने वाले निम्नलिखित तीन आधारों की परिकल्पना की जा सकती है :-

गुरु नानक जिस वर्ग, क्षेत्र या देश के व्यक्ति से सम्बोधित किया करते थे उसी से सम्बन्धित शब्दों का अधिकांश प्रयोग करने का वे प्रायः प्रयत्न किया करते थे। जो काव्य खंड उन्होंने योगियों को सम्बोधन हेतु रचे हैं उनमें योगियों की पारिभाषिक शब्दावली का ही प्रयोग मिलता है। जिनमें उनको बोलनेवाले मुस्लिम धर्मावलम्बी हैं, वहाँ फारसी तथा अरबी के शब्दों का प्रयोग किया गया है। जो वाणी पण्डितों को सम्बोधित है उसमें संस्कृत के शब्दों की बहुलता है। इसी प्रकार अपने

1:- डा० कालू सिंह बेदी : गुरु नानक वाणि कला, पृ० 456

2:- डा० तारन सिंह : गुरु नानक: चिंतन ते कला, पृ० 249

भिन्न भिन्न बोलियों के अनुरूप उन्होंने कहीं कहीं, कहीं किसी आदि शब्द -बहुल भाषा का प्रयोग किया है।

इसी प्रकार हम अपने देखेंगे कि गुरु नानक ने काव्य रूपों के अनुरूप शब्दों का चुनाव करने का प्रयत्न किया है।

गुरु नानक की भाषा में एक अन्य बात लक्ष्य करने की यह है कि जहाँ वे अपने रहस्यात्मक भावों की अभिव्यक्ति में निमग्न होने की चेष्टा में होते हैं, उनकी भाषा में मातृभाषा पंजाबी का रूपरंग स्पष्ट होकर उभरने लगता है।

वस्तुतः गुरु नानक की भाषा सन्त रूप में एक मिश्रित भाषा है जो उत्तर भारत में प्रायः उन दिनों समझी जाती थी, और जिसे मध्यकालीन सन्तों ने भावानुरूप विभिन्न भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करते हुए अपने भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। निम्नलिखित उदाहरणों के माध्यम से हम गुरु नानक की भाषा को अधिक स्पष्ट रूप से विश्लेषित कर सकते हैं :-

खड़ी बोली:-

खड़ी बोली का रूप प्रारम्भ में कबीर सूफियों के काव्य में उपलब्ध है। कबीर के काव्य में भी खड़ी बोली के कुछ प्रयोगों को देखा जा सकता है। गुरु नानक की मिश्रित भाषा में भी अनेक स्थलों पर खड़ी बोली का रूप लक्षित किया जा सकता है :-

1:- कहु नानक गुरि इहु पथु दिखाइआ ।।
मरता जाता नदरि न आइआ ।।
राग गउड़ी गुआरेरी, पृ० 242

2:- कर किरपा अपु मगु दिखाइआ ।।
नानक छुटसि गुरि मिलिऐ ।।
राग गउड़ी गुआरेरी, पृ० 220

गुजराती :-

गुजराती शब्दों का प्रयोग बहुत कम मिलता है परन्तु कतिपय स्थलों पर गुरु नानक ने इस भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है :-

सजण मेरे लालिअे जा जाइ सुतेआ रातिं
आदि ग्रन्थ, पृ० 304

लहंदा:-

गुरु नानक की भाषा में "लहंदा" का प्रयोग अत्यधिक हुआ है।

सभी धंधा हुमनी रोवा जीएनी जाण।

आदि ग्रन्थ, श्री राग, पृ० 72

सिंधी:-

सिंधी शब्दावली का प्रयोग भी कतिपय स्थलों पर किया गया है :-

भार अठारह मेवा होवा गरुड़ा होवै सुआउ ।।

आदि ग्रन्थ , पृ० 304

ब्रजभाषा :-

आपि तरे संगति कुलतारे । आदि ग्रन्थ, पृ० 108

पूर्वी हिन्दी :-

भई मे उदासी रहउ निरासी ।। आदि ग्रन्थ,राग आसा ।। पृ० 110

तिनु सरवरि भरे निवाला पाणी पावहु तिनही कीआ ।

आदि ग्रन्थ, आसा राग,सबद 29 पृ० 348

"पंचु गोए पसु नहीं घाले इस देहा सत बुझीऐ " आ:ग्र: ,पृ० 91

इसी प्रकार एक अन्य पद में गुरु नानक देव ने अनेक भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है :-

साह सहज सुख रस का भुंचीऐ कापड़ छोडे नाह नीए ।

दुखीए दरवेद दरि तेरे नामि रते दरवेस भए ।

खड़ी उपरी खड़ी खड़ी सिखा सहु बोली कीनी ।

तूं साहिबु हउ सारी तेरा पुन्हे नानक जाउ बेली ।

आदि ग्रन्थ, पृ० 125

संस्कृत :- जानि, सहज सुख, रस । प्राकृत - पुन्हे, साद, बोली , सारी ।

फारसी:- दरवेद, दरवेस, साहिब ।

खड़ी बोली:- रस-का, लीए, तेरे, बेली, सुरत ।

ब्रज -भाषा :- भए, छोडे, कापड़ , हउ, सुरत ।

पूर्वी -हिन्दी :- कीनी ।

गुजराती :- लीजीऐ ।

पंजाबी :- खड़ी, सिखा, नामु, सुरत ,रते ,खड़ी, तूं ।

विशिष्ट :- सुख, रस, नाम, खुमारी, लक्ष्मी ।

सामान्यतः गुरु नानक की भाषा में भावों के प्रकाशन की अद्भुत क्षमता है । उस में अपूर्व शालीनता, मर्यादा, संयम और शिष्टता है । उनकी कठोर से कठोर भर्त्सनाएं मर्यादापूर्ण हैं । उनकी भाषा कबीर की भाषा के समान ओजस्वादी नहीं है । यहां कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :-

1:- अवरी सु मीरति नाम पखालि तीरथ कर सचार ।
आदि ग्रन्थ, रागुआसावरी, पृ० 658

2:- खीजा न अवरु जोखिवा मोहु भाखा गही । वही पृ० 681

3:- जागणु जोति न पूजु जाति आगे जाति न होइ ।
आदि ग्रन्थ, रामकली, पृ० 439

4:- गउ बिराहमण कउ करु लावहु गोबरि तरणु न जाई ।
आदि ग्रन्थ, आसा की वार, पृ० 463

5:- ऐसे छका वही वार । उपरि आख देवै करिदारु । वही पृ० 464

गुरु नानक की भाषा में हमें तत्कालीन प्रचलित विभिन्न धार्मिक पद्धतियों के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग प्राप्त होता है । उदाहरणार्थ :-

पौराणिक शब्दावली :-

वेकुंठ, स्वर्ग, दोजक, भिसत बखीलाणु, अलखु, अभेव, देव, दानव, किन्नर, छ अकारु, ब्रह्मा, विष्णु, मोहरा, माया, सरीकंद, सहसकला, कृष्ण, प्रहलाद, राजा, लंका, मछुकीर, नारद, कौ आदि अनेक शब्दों को खोजा जा सकता है ।

शास्त्रीय शब्दावली :-

सासत्रु, वेद, सचिआर, समाधी, अनहद, अजोनी, सैभं, मुकती, सबदु, सुरति, गिआनु, ततु, अ नहद शब्द, सुंन, निरंजन, अकालु, गिआन खंडु, अजपा जापु आदि ।

सम्प्रदायिक शब्दावली :-

जोग जुगति, मुद्रा, सिंगी, डंडा, जागोटी, तत्तर, सालजारा, जोगी, संनिआसी, अगनिहोती, नाभिकमल, जटा, बिभूति, सिंङी, जोगी, सुरति, लाड़ी, जंतु आदि ।

1:- कबीर वाणी : शिवदयाल सिंह उपाध्याय, पृ० 134

धर्म - सूचक शब्दावली :-

सूचक, जनेऊ, तसबीं, उदासी, दान, दया, पूजा, मुराकी, करम-धरम, करीम, रहीम, मंदि, मसा, कुरान, हिन्दू, मुसलमान आदि ।

सामाजिक शब्दावली :-

चोर, चरामखोर, साध, जोध, सूरा, ठग, बेताल, गुणवंती, अवगुणवंती, सुखी, दुखी, सुहागण, गुरमुख आदि ।

व्यापार - सूचक शब्द:-

काज, व्यापार, सउदा, सउदा, भंडार, मोल, अमोल, तोल, खाती, किरसाणी, सुहागा, भंडारी आदि ।

राजनीतिक शब्दावली :-

राजा, राए, रंक, तखत, तेज, ताज, सलाम, सुलतान, दीवाण, फुरमाण आदि ।

गुरु नानक की भाषा में 'का,के,की' प्रयोग सधुक्कड़ी भाषा के अनुसार किया गया है परन्तु इन सम्बन्ध-कारकों द्वारा वाक्य-रचना हिन्दी की भाँति नहीं अपितु पंजाबी भाषा की अपनी प्रकृति के अनुसार है[1] :-

सच की बाणी नानु अगले सच सुनाखी सच की बेला । राग तिलंग, वार सत पृ० 722
सचे की सिफत सचु सचु जाणिआ । राग माझ पृ० 138
रब की रजाइ मैंने सिर उपरि करता मैं मेरा आप गवाइ । राग माझ, पृ० 140
नानक नाउ खुदाइ का दिती मुकि लेहु । राग माझ, पृ० 142

इस प्रकार गुरु नानक की भाषा का समग्र रूप से अध्ययन करने पर हमें भाषा की अनेक रूपता का स्वरूप दिखायी देता है । वस्तुतः जिस युग में गुरु नानक ने अपनी बाणी की रचना की उस युग में हिन्दी का रूप निखर नहीं पाया था । अनेक भाषायें एवं उपभाषायें विकासोन्मुख हो रही थीं । उसके साथ ही विभिन्न भाषायें अपने-अपने क्षेत्रों में साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनने जा रही थीं । परिणाम में

1:- डा० कालू सिंह बेदी . गुरु नानक - बाणी वाणी, पृ० 445

सिक्ख भाषा में पर्याप्त साहित्य - सृजन हो चुका था। ब्रजभाषा सिक्ख धर्म भाषा होकर समस्त ब्रजमण्डल में व्याप्त हो रही थी। अवध प्रदेश में अवधी तथा बिहार प्रदेश के अन्तर्गत भोजपुरी भाषा में साहित्यिक रचनाओं का सूत्रपात हो गया था। इस समय मुसलमानों के शासन के कारण जन-जीवन में उर्दू के माध्यम से अरबी, फारसी शब्द अधिकाधिक प्रचलित होते जा रहे थे। लक्ष्य करने की बात है कि गुरु नानक कभी एक स्थान पर नहीं रहे। वे भ्रमण शील व्यक्ति थे। परस्पर सम्पर्क जनित प्रभावों को ग्रहण करते हुए वे अपने शब्द भंडार को समृद्ध करते रहते थे। इसीलिए विभिन्न प्रदेशों की बोलियों एवं भाषाओं के शब्द उनकी सम्पत्ति बनते चले गये। हमने पहले देखा है कि वे विभिन्न प्रदेशों के व्यक्तियों को अपनी बात समझाने के लिये उन्हीं बोली का प्रयोग करने का प्रयास किया करते थे। इस प्रकार धीरे - धीरे विभिन्न भाषाओं के शब्दों से युक्त एक विशिष्ट भाषा गुरु नानक वाणी में दृष्टिगोचर होती है। गुरु नानक पर नाथ -पंथी योगियों की पारिभाषिक शब्दावली का व्यापक प्रभाव हम देख चुके हैं। इसके साथ साथ सामान्य बोलचाल की भाषा में वाणी की रचना करते हुए उन्होंने विशुद्ध पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, तथा अरबी -फारसी मिश्रित पदावली का प्रयोग भी किया है।

उन्हीं उपर्युक्त कारणों से गुरु नानक की भाषा का कोई एक ऐसा निश्चित सामान्य रूप नहीं है जिसका नामकरण किया जा सके। उनकी भाषा रचनाओं की विभिन्नता क्रमशः इस अनुसार ही परिलक्षित होती रही है :-

१:- आदि सचु जुगादि सचु। है भी सचु नानक होसी भी सचु। जा:ग्रं:, पृ० ६

२:- एक ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु।
अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरप्रसादि। आदि ग्रन्थ, पृ० ६३०

३:- माई मैं मन को मान न त्यागो।
माया के मद जग जिरायो राम भजन नहिं लाग्यो।
जम को दूतु पर्यो सिर ऊपर, तब सोवत से जाग्यो। जा: ग्रं:, पृ० १६७

भाषा सम्बन्धी विवेचन में तत्सम एवं तद्भव शब्दों के प्रयोग पर भी ध्यान दिया जाता है। गुरु नानक की भाषा में जहाँ तक तत्सम पदावली के प्रयोग का प्रश्न है, यह स्पष्ट ही है कि उनका ध्यान उस दिशा की ओर नहीं था। उनके समक्ष केवल भाव-प्रकाशन का प्रश्न था। यही कारण है कि वे शब्दों के तत्सम एवं तद्भव रूपों के प्रयोग विवेक के चक्कर में नहीं पड़े। जब जहाँ जो शब्द आ गया उसका प्रयोग

कर दिया। जन-जीवन की चलती हुई बोली में रचना करने के कारण उनकी रचनाओं में तद्भव रूपों का होना स्वाभाविक है, किन्तु यत्र-तत्र शब्दों के तत्सम रूपों की भी उपलब्धि होती है, जैसे - अग्नि, अम्बर, शिविर, निर्मल सुख आदि।

सन्तकवि गुरु नानक आध्यात्मिक जन के पुजारी थे। अध्यात्म की उन्हें साध्य था और अध्यात्म ही उनका साधन था। उनकी उपलब्धि में ये निरन्तर संलग्न रहते थे। काव्यात्मकता आदि गुण तो उनकी साधना की ही सम्पत्ति थी। सन्तकवि जब हृदय - भाव भक्ति हो जाता है तब भाषा स्वतः भावमय हो जाती है। गुरु नानक के काव्य में भी यही स्थिति थी। वे अपने जिस आध्यात्मिक क्षेत्र में निरन्तर विचरण करते थे, उसी भाव भूमि में प्रतिष्ठित होकर उन्होंने जो कुछ भी कहा वह स्वतः काव्य बन गया। गुरु नानक की भाषा का सर्वोच्च गुण है उसका सामान्य जन-जीवन के निकट होना। उन्होंने कभी भी भाषा को पाण्डित्य के भार से बोझिल नहीं बनाना चाहा।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ :-

अभिव्यक्ति की सशक्तता भाषा की प्रौढ़ता पर अवलम्बित है। लेखक की प्रारम्भिक अवस्था में शब्दों का आधिक्य और भावों की न्यूनता पायी जाती है, पर ज्यों - ज्यों लेखक की भाव - धारा परिपक्वता प्राप्त करती जाती है त्यों त्यों शब्द समूहों की न्यूनता एवं भावों तथा विचारों का आधिक्य आता जाता है। सिद्ध लेखक थोड़े - थोड़े शब्दों में ऐसी भावपूर्ण पंक्तियाँ प्रस्तुत करता है जिनमें शब्द अर्थ - गाम्भीर्य के साथ ही साथ भाषा में एक विशिष्ट आकर्षक एवं बोध प्रतीत होती है।

उत्तम लेखन - शैली का गुण है संक्षिप्तता जिस बात को व्यक्त करने के लिए हम एक से अधिक लम्बे - लम्बे वाक्यों का प्रयोग कर सकते हैं उसे मुहावरा अपने अत्यन्त लघुरूप में व्यक्त कर देता है। मुहावरे के प्रयोग से भाषा में रोचकता की सृष्टि होती है और यह रोचकता श्रोता - मन पर पड़ने वाले प्रभावों को अधिक सशक्त एवं तीव्र बना देती है। भाव समूह मुहावरों का संस्पर्श प्राप्त कर अधिकाधिक तीक्ष्ण हो उठते हैं। भाव की यह तीक्ष्णता ही रस - धारा की सृष्टि करती है "सब कोस ही घाटी पड़े जो जल, मन मेरु पै देखु छटकि नहीं" में मन का मेरा और छटकि का देना विशिष्ट शब्द हैं। एक तो इनके परिभाषण का बोध होता है और छूटे मन की क्रिया का प्रिय की ओर आकृष्ट हो जाना तथा उसके बदले में विश्व भाव भी प्रतिभासन का न मिलना सूचित होता है। "मन मेरा" लाक्षणिक प्रयोग है। मन कोई ऐसी स्थूल वस्तु नहीं है जिसको

इन उलाहर उहर से उहर कर लें। उहर उहुल यह पंक्ति हेमी हृदय की उस भावधारा का अत्यन्त सीधा आभास प्रदान करती है जहां जीवन में सहज प्रदान ही प्रदान है, आदान में एक कण भी प्राप्त नहीं होता।

स्पष्ट है कि मुहावरे के सफल प्रयोग भाषा में एक ऐसी शक्ति सम्पन्न लोचता उत्पन्न कर देते हैं जिससे वह भाषा हृदय को छोड़ कर उसके अन्तराल में समा जाती है।

मुहावरों का प्रयोग भाषा - क्रिया व्यापार - सापेक्ष होता है। यथा - आंख टेढ़ी करना।" क्रोध के समय भौंहों पर बल पड़ जाना, उनकी गति का अनैसर्गिक कुछ अधिक बढ़ हो जाना स्वाभाविक होता है। अस्तु किसी को भी क्रोध की मुद्रा में देखकर हम कह उठते हैं कि वह - आंख टेढ़ी कर रहा है," "तुम आंख टेढ़ी क्यों करते हो" आदि। कतिपय मुहावरे सामान्य व्यवहार की दृष्टि से प्रचलित हुए हैं। यथा - "हाथ फैलाना"। किसी से जब हम कोई वस्तु लेते हैं तो प्रायः हाथ फैला कर ही लेते हैं। हाथ फैलाने से तात्पर्य हथेली तथा अंगुलियों की स्थिति से है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक वस्तु के लेने में पांचों अंगुलियां पूरी - पूरी खुली हों। इसी प्रकार किसी से कोई वस्तु उधार या दान में मांगने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम हाथ फैलाकर ही उस वस्तु को प्राप्त करें। पर सामान्यतः मांगने के अर्थ में इस मुहावरे का प्रयोग प्रचलित हो गया है। कुछ मुहावरे भावों का साधर्म्य रखते हैं। यथा - "नाक काटना"। नाक कट जाने से मुखाकृति में विरूपता आ जाती है। जब कोई व्यक्ति ऐसे कार्य करता है जिन से उसकी प्रतिष्ठा में किसी प्रकार का आघात पहुंचता है तो हम कह देते हैं कि अमुक की "नाक कट" गयी। यहां पर विरूपता का अपमान से साधर्म्य है।

मुहावरे अपने प्रयोग में कोई न कोई समानता अवश्य रखते हैं। इन में प्रायः शब्द की अनेकार्थ शक्ति कार्य करती रहती है।

गुरु नानक वाणी में मुहावरों का प्रयोग यत्र - तत्र प्राप्त होता है। जहां कहीं भी ये प्रयुक्त हुए हैं वहां से प्रयोग की स्वाभाविक स्थिति का ही परिचय देते हैं। लोकभाषा की भाषा में निरन्तर प्रयुक्त होने वाले ये मुहावरे जो अपने प्रचलित रूप में उसकी बोली के साथ विकसित हुये हैं, उसकी रचनाओं में प्रयुक्त हुए हैं। यहां पर इस गुरु वाणी में प्रयुक्त कतिपय मुहावरों को देखें।

1:- "मुँह का मुँह" :-
जिन चाखिआ सेई साधु जानन्हि जिउ गूंगे मिठिआई ।
आदि ग्रन्थ, सोरठि, अष्टपदी 1 पृ0 634

2:- "ध्यान की पूँछ" :-
अपना आपु न कबहु न छोड़सि, सुजान पूछि जिउ रे ।
आदि ग्रन्थ, रागु माझ स्वद 4 पृ0 990

3:- "आँख पसार कर निकला" :-
उलटि पलटि मेरा साधु जो लए निकसी आँख पसारि ।।
आदि ग्रन्थ, गउड़ी , स्वद 19 पृ0 153

4:- "कसौटी पर कसना" :-
कसि कसउटी लाईऐ पखे चिहु चिहु लाव ।
आदि ग्रन्थ, सिरी रागु, अष्टपदी 7 पृ0 72

5:- "तोर पानी" :-
छोटे तुरर न पाइनी खे खजाने पाव ।
आदि ग्रन्थ, सिरी रागु , अष्टपदी 7 पृ0 72

6:- " मुँह काला होना " तथा "पति खोना" :-
भाती भार सिंघलिआ मुख काला, पति खोइ ।
आदि ग्रन्थ, सिरी रागु , पउड़े 2 पृ0 74

7:- "जो बोया, सो खायु" :-
नानक जो बीजे सो खाखा कहते सिखि पाखा ।।
आदि ग्रन्थ, आसा की वार, पृ0 463

8:- " जन्म गंवायु" :-
ते नरापि जनमु गवाखा ।
आदि ग्रन्थ, प्रभाती, अष्टपदी, त्रिभाल । पृ0 1348

9:- "मन में आना" :-
तथा नामु मनि आवए ।
आदि ग्रन्थ , प्रभाती -त्रिभाल, अष्टपदी2 पृ0 1348

10:- "ढील पड़ना" :-
आवै सदे त्रिल न ढोव ।
आदि ग्रन्थ प्रभाती, त्रिभाल अष्टपदी 5 पृ0 1348

गुरु नानक की वाणी में इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं । इससे उनकी भाषा अत्यधिक लोकोपयोगी और व्यवहारिक हो गयी है ।

लोकोक्तियाँ :-

मुहावरों की ही भाँति लोकोक्तियाँ भी भाषा और भाव - सौन्दर्य की सृष्टि करती है। इन दोनों में अन्तर यह है कि मुहावरे में लाक्षणिक अर्थ लिया जाता है और लोकोक्ति के पीछे कोई घटना होती है जिसके आधार प्रस्तुत विषय का समर्थन किया जाता है। गुरु नानक की वाणी में लोकोक्तियों का एक अनूठा भंडार है। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं :-

1:- आपे बीजि आपि ही खाहु। आ:ग्र: ।जपु पृ० 9
2:- मनि जीते जगु जीतु । वही पृ० 6
3:- बिनु पउड़ी गढ़ि किउ चढ़उ । वही सिरी रागु पृ० 91
4:- जिवे बोलणि वारीऐ तिवै सोभी पुत्र आ:ग्र: सार.मा० पृ० 138
5:- जब लागी छुट्ट केसा ? आ:ग्र: तुखारी छंत.पृ० 1110
6:- बिन वेही पारि न अंदड़े । आ:ग्र: तुखारी पृ० 1113

सूक्तियाँ :-

मुहावरे लोकोक्तियों की ही भाँति काव्य में सूक्तियों का विशेष स्थान है। सभी गुरु एवं सन्त पहले उपदेशक तथा पथ प्रदर्शक थे, बाद में कवि। प्रभु के ये प्रिय जीव विद्वता के प्रदर्शन में विश्वास नहीं रखते थे, ये तो मात्र अपनी आन्तरिक अनुभूति की भाव - पूर्ण अभिव्यक्ति से ही सन्तुष्ट थे। उनकी अनुभूति के राग - विरागमय तरल स्वतः स्फूर्त होकर काव्य बन जाते थे। आत्माभिव्यंजना एवं सूक्ति का अनिष्ट सम्बन्ध है - इसीलिए गुरु नानक की वाणी सूक्तिमय बन गिये हुए है। यही कारण है कि प्रत्येक पद में उपदेशात्मक सुभाषितों, सूक्तियों एवं चिर - रमणीय सत्यों के देखा जा सकता है।

सूक्तियाँ देश के सांस्कृतिक - स्तर की द्योतक होती हैं। जाति के मौलिक मानों, संस्कारों, आदर्शों एवं बौद्धिक परिमाणों का सही अनुमान साहित्य के इसी अंग से होता है। इसलिए नानक वाणी में इनकी विद्यमानता न केवल गुरु - कवि के काव्य के प्रभाव-पक्ष का, काव्य सौष्ठव एवं सांस्कृतिक - महत्व का ही परिचायक है, प्रत्युत यथार्थ जीवन में उच्चतर एवं आदर्श आयामों की स्थापना का आधार भी है। कतिपय उदाहरण गुरु नानक की वाणी में अन्तर्व्याप्त सूक्तियों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत किये जा सकते हैं :-

1:- जीउ पीउ न रहई ठाहि ।

2:- हीरे जैसा जगतु है काठी अंधे जाह ।
3:- ऐसे कामे दोसती भूले सादे गंढ ।
4:- भे बिनु कोई न लंघसि पारि ।
5:- गुर मिलि खोले अंजर कपाट ।
6:- सोचै सोचि न होवई ते सोची लख वार ।
7:- बिनु गुण कीते भगति न होइ ।
8:- कुछ राजा कुछ परजा कुछ सबु संसार ।
9:- गली अंधी खीजा आचारी दुरीआह ।
10:- कुछ सिफ़ते नामका कीड़ि सचि रही ।
11:- सचु औरे सबु को उपरि सचु आचार ।
12:- मिठतभीठी नामका गुण कीते जाई सबु ।
13:- मुखि पिर बिनु कीआ संगाह ।
14:- कुदरति करि के सलिआ सोइ ।
15:- रोटीआ करम पुरनि लाह ।

किसी साहित्यिक कृति में प्रयुक्त मुहावरे , लोकोक्तियां तथा सूक्तियां उसकी भाषा की सम्पन्नता की सूचक होती हैं उन्हीं के माध्यम से उस युग की संस्कृति मूर्तिमान होती है । गुरु काव्य में प्रयुक्त मुहावरे, लोकोक्तियां , सूक्तियां सांस्कृतिक विश्लेषण का एक आधार प्रदान करता है । सूक्तियों के सम्बन्ध में डॉ० गोपाल सिंह ने भी लिखा है कि गुरु नानक देव की काव्य - भाषा की अनूठी विशेषता यह है कि उसके सार्वभौम अंश को गुरु पंजाब की सामान्य - जनता की सूक्तियों के रूप में प्रचार पा चुके हैं । [1] जीवन के सभी क्षेत्रों के व्यापार, आध्यात्मिक ज्ञान के सिद्धान्त, प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण, सामाजिक और नैतिक जीवन के आधार इन सूक्तियों में समाविष्ट हैं ।

1:- डॉ० गोपाल सिंह : गुरु ग्रन्थ साहिब की साहित्यिक विशेषता : पृ० 149

शब्द - शक्ति :-

काव्य की परिभाषा लिखते समय भारतीय साहित्य - आचार्यों का ध्यान ऐसी विशेषता की ओर सदैव से ही रहा है जो काव्य के आकर्षण और आनन्द प्रदान का कारण रही हो। मम्मट ने शब्दार्थ को काव्य बताते हुए दोषयुक्त होना, गुणवान होना और अलंकार युक्त होना, काव्य की विशेषता माना है।[1] परन्तु गुण - दोष और अलंकार की विवेचना करते - करते काव्य की परिभाषा में किसी कमी का अनुभव किया गया। अतः कुछ आचार्यों ने उस निर्दिष्ट विशेषता को जो काव्य के आनन्द प्रदान का प्रधान कारण थी, किसी न किसी अलंकार के अन्तर्भुक्त करना चाहा।[2] वक्रोक्तिकार ने उसे विच्छित्ति विशेष नाम वाली वक्रोक्ति[3] बताया और ध्वनिवादी जो व्यंजना का आधार लेकर चले हैं उसे ध्वनि कहते हैं।[4] पंडितराज जगन्नाथ उसे रमणीयता का नाम देते हैं।[5] वस्तुतः काव्य में जो तन्मयत्व उत्पन्न कर देने वाला भाव है, वही इन विशेष नामों से जाना जाता है, फिर भी किसी नाम सीमा से आबद्ध न हो सकने के कारण वह मूल कारण भी अनिर्वचनीय ही है। यह मूल कारण कोई भी हो, परन्तु उसकी भी अभिव्यक्ति शब्दार्थ द्वारा ही होती है। अतएव शब्दार्थ का महत्व कम नहीं किया जा सकता। हम नहीं कह सकते कि शब्दार्थ में शब्द प्रधान है या अर्थ। कालिदास ने "वागर्थाविव सम्पृक्तौ" कहकर दोनों की पृथक सत्ता मानते हुए भी उनको सम्पृक्त माना है परन्तु तुलसी उससे एक पग आगे बढ़कर उन्हें कहते हैं - "गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" से अभेदवाद की भाँति "गिरा" और "अरथ" में भी एकत्व का प्रतिपादन करते हैं। केवल नाम और स्वरूप की दो उपाधियों के द्वारा उसे भिन्न कहा जाने वाला कहते हैं।

परन्तु प्रश्न यह है कि जब शब्द और अर्थ में इस प्रकार का अभेद है तो शब्द का जो अर्थ हमारे सम्मुख आता है वह अविभिन्न ही होता है और वह शक्ति

1:- "तद दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"- मम्मट [काव्य प्रकाश]
2:- काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। - काव्यालंकार सूत्रवृत्ति :-।
3:- वक्रोक्ति : काव्य जीवितम्। - कुंतक
4:- काव्यस्यात्मा ध्वनि :। - ध्वन्यालोक
5:- रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द : काव्यम्। रसगंगाधर

निःसंदेहित ही होती है। "कल्पित भिन्न" अवस्था में ही व्यवहार जगत का काम चलाने के लिए उसकी भिन्न शक्तियों की कल्पना की गई है।

व्यवहार जगत में काम चलाने के लिए शब्द की तीन शक्तियों का मान लिया जाता है - अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द का कोषगत अर्थ अथवा लोक व्यवहार में प्रचलित अर्थ अभिधा का अर्थ माना जाता है। लक्षणा वह शक्ति है जिससे अन्य शब्द के संकेतों अथवा उस शक्ति की समीपवर्ती सम्बद्ध अर्थ लिया जाता है। जैसे हम किसी मनुष्य को बैल कह दें तो वह सींग पूंछ वाला पशु न समझा जायेगा। यद्यपि बैल शब्द का अर्थ बैल ही एक पशु है, परन्तु बैल का मुख्य लक्षण मूर्खता है। अतः सादृश्य उस व्यक्ति में उपस्थित दिखाई देता है। इसलिए सादृश्य सम्बन्ध के कारण वह मनुष्य बैल के समीप पहुंचा और उस मनुष्य के बैल कहा गया। इस प्रकार बैल शब्द का अर्थ "मूर्ख मनुष्य" लक्षणा शक्ति से हुआ। इस उदाहरण में बैल शब्द का अर्थ मनुष्य क्यों लिया जाए? बैल कहने के उपरान्त उस मनुष्य में इस बैलपन का बोध न करके उसे मूर्ख समझते हैं। यह मूर्खता का विशेषता और तात्पर्यवृत्ती बोध देने के लिए आचार्यों ने व्यंजना शक्ति की कल्पना की है।

यद्यपि मुन्शी ने अपने "सरोजिनी प्रीतिनी" नामक ग्रन्थ में शब्द के ये तीनों व्यापार अभिधा के ही व्यापार बताये हैं और हमारी दृष्टि में मनुष्य की मानसिक रचना सामयिकी भिन्नों के अनुसार एक ही अभिधा शक्ति के विभिन्न अर्थों को ग्रहण करती रहती है, फिर भी, व्यावहारिक दृष्टि कोण से इन अर्थ के ये तीन रूप, अभिधेय रूप और व्यंग्य विधायी पड़ते हैं। अतः इनको व्यक्त करने वाली तीन शक्तियां अभिधा, लक्षणा और व्यंजना मान लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं। भले ही मुन्शी के अनुसार सर्प, सर्प, सर्प शब्द पूर्वक प्रयोग करना केवल एक ही "शब्द" व्यापार का परिणाम क्यों न हो, अर्थात् एक ही अभिधा शक्ति से अभिधेय और व्यंग्य अर्थ भले ही प्राप्त क्यों न होते रहें, किन्तु एक मुख्य शक्ति के ही इन तीन विभिन्न व्यापारों को मान लेना अनुचित न होगा।

अभिधा :-

संस्कृत - साहित्यकारों ने इसका नाम आख्यात [आख्] कृत और तद्धित रूपों में स्वीकार किया है। संस्कृत कृत और तद्धित नाम और समास के अन्तर्गत माने गये हैं, क्योंकि यद्यपि ये सब आख्यात अथवा नामों से भिन्नरूप होते हैं तो भी अन्ततः ये नाम का काम करने लगते हैं। अव्यय, उपसर्ग, विभक्ति और प्रत्यय अधिकारी

होते हुए भी अभिधार्थ में सहायक होते हैं। अतएव अभिधार्थ में इन शब्दों से जो निश्चित सांकेतिक अर्थ हमें प्राप्त होता है वह सब अभिधा शक्ति का परिणाम है।

गुरु नानक - काव्य में अधिकतर अभिधा शक्ति से काम लिया गया है। वस्तुतः गुरु - कवि जीव को उपदेशात्मक वाणी में सम्बोधित करना चाहते थे, अतः शब्द की अभिधा शक्ति अधिक स्पष्ट रूप से ज्ञान के स्वरूप को निश्चित कर सकती थी। गुरु नानक द्वारा प्रयुक्त नाम-साधना के महत्व को स्पष्ट करने के लिये निम्न - लिखित "पउड़ी" में सीधी सपाट शब्दावली का प्रयोग देखा जा सकता है :-

पूरे गुर की कार करमि कमाईऐ।
गुरमती आप गवाइ नामु धिआईऐ।
दुखी दरदे सभि जमदु गवाईऐ।
जिन्हु माने तिन्ह पिछु पैरे लाईऐ।
सचा सबदु सालाहि सचि समाईऐ।
इहि जिन्हु सतिगुरु सेवि भाही सुधि तिन्हाहु पिछि पिछि आईऐ।
दुनीआ खोटी रासि खरु कमाईऐ।
नानक सचु सदा सालाहि पति सिउ जाईऐ।[1]

लक्षणा :-

लक्षणा के मुख्यतः दो रूप किये गए हैं - १:- रूढ़ा २:- गौणी। जब सादृश्य के आधार पर शब्द किसी दूसरे अर्थ का बोध कराता है तब गौणी लक्षणा कहलाती है। परन्तु किसी अन्य व्यापार के आधार पर जब इस कोई दूसरा अर्थ ग्रहण करते हैं तब रूढ़ा लक्षणा का काम होता है।[2] इन लक्षणा को शुद्ध और प्रयोजन वती इन दो भेदों में भी बांटा गया है।[3] गुरु नानक ने अपनी वाणी में शब्द की लक्षणा शक्ति के द्वारा अभिप्रेत विषय को पुष्टित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः के लिये साजन, पिर, साहिब, सोहाग, प्रीतम, वर, सहु, नाथ, कंत, खसमा आदि शब्द लाक्षणिक हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में माया के लिये सवैणी, छली, माल आदि शब्दों का प्रयोग भी लाक्षणिक है, जैसे :-

---

१:- आदि ग्रन्थ, पृ० १४४

२:- सादृश्येतर सम्बन्धाः रूढ़ाश्रिताः लक्षणा अपि।
सादृश्यमूला: गौण्यः ... ।। साहित्य दर्पण, पृ० ६

३:- डॉ० रामचन्द्र वर्मा शास्त्री, भारतीय काव्य शास्त्र, पृ० १७८

का सत्यनि के सनि की अड़ा अंतरि हमे दोइ ।[1] रव
रली रवे जीव नहीं दूनि हमे भवु न जाई ।[2]
साधु धुरी अरि साधु न देखे फिर सिउ मिलणु न देई धुरी ।[3]

इस प्रकार अन्य लाक्षणिक प्रयोग भी देखा जा सकते हैं - "धुरि लिखिआ आजाला की कीरा आर्ड रीली।[4] यहां अभिधा से भिन्न अर्थ लिया गया है कि आध्यात्मिक क्षेत्र के श्रेष्ठ महत्व को जानकर या सुनकर सारी तथा भिन्न कोटि के नीच व्यक्तियों के मन में भी परम - पद को प्राप्त करने की इच्छा पैदा हो गयी है। गुरु नानक की वाणी में शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग अनन्त हैं।

व्यंजना :-

व्यंजना में इन शब्द के अभिधा और लक्षणा दोनों का उपयोग करते हैं। कभी व्यंजना अभिधा से ही अपना काम ले लेती है। कभी वह लक्षणा का सहारा लेकर किसी विशेष भाव को व्यक्त करती है और कभी व्यंजना एक अर्थ को प्रकट करके अपनी- भीतर से किसी अन्य व्यंग्य अर्थ को व्यक्त करने लगती है। इस प्रकार व्यंजना का व्यापार विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है।

गुरु नानक - काव्य में व्यंग्यार्थों के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं - तीजे पहिरे रैणि के सभ जाखिआ सिआ सरि ओ उलाहे आइ।[5] यहां "छोटे के सरोवर पर उतरने " का भाव है मृत्यलोक में जीवों का प्रवेश होना।" यहां मुख्यार्थ से भिन्न एक अन्य अर्थ भी है अर्थात् एक व्यक्ति का मृत्यु समय निकट आ चुका है, इसलिए उसे प्रभु - भक्ति में लीन होना चाहिए। इसी प्रकार "खाले मवरी कीड़ा आवे जेते चुने दाणे।[6] में मुख्यार्थ से भिन्न एक अन्य अर्थ भी है कि समस्त विश्व परमात्मा की लेखा - जोखा में, नियन्त्रण में चल रहा है, उसकी समस्त व्यवस्था दोष - रहित एवं पूर्ण है उसमें किसी प्रकार की कोई त्रुटि नहीं है। एक अन्य उदाहरण भी देखा जा सकता है -

---

1:- आदि ग्रन्थ , पृ० 63
2:- वही पृ० 393
3:- वही पृ० 395
4:- जपुजी, पउड़ी, 32 पृ० 7
5:- आदि ग्रन्थ, पृ० 79
6:- वही पृ० 360

"लोक वेदादि शास्त्रेषु सदा प्रसिद्ध वराङ्गना"।।[1]

यहाँ शब्दार्थ से भिन्न एक अन्य अर्थ भी है कि संसार में व्यक्ति को शुभ कर्मों द्वारा शुभ गुणों को अर्जित करना चाहिए, ताकि उसे परमात्मा के सम्मुख लज्जित न होना पड़े। परमात्मा में आस्था विश्वास ही से लज्जित होने का कारण है।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि गुरु नानक -काव्य में शब्द की इन तीनों शक्तियों का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः गुरु - वाणि ने शब्द की व्यंजना शक्ति द्वारा ही जीव को उद्बोधन देने का प्रयत्न किया है। यहाँ व्यंग्यार्थ व ध्वन्यात्मकता की से प्रस्तुत हुआ है।

अलंकार - विधान :-

काव्य का प्रधान उद्देश्य आनन्द विधान करना है। काव्य परम्परा ही नहीं, समस्त साहित्य परम्पराएँ आनन्द तथा उससे उत्पन्न सुख के लिए प्रयुक्त रही हैं। परन्तु यह सुखोपलब्धि सदैव किस प्रकार होती है, अथवा साहित्य आनन्द सम्पादन किसी प्रकार करता है, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। किसी ने शब्दों में निहित अर्थ विचार से संतोष प्राप्त किया, किसी ने शब्द के परम्परागत अर्थ को महत्व दिया, किसी ने शब्दों के परस्पर संगठन पर विचार किया। इस प्रकार साहित्य जगत के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय बन गये। शास्त्रीय दृष्टि से विभिन्न सम्प्रदाय होते हुए भी काव्य - दृष्टि केवल एक ही मार्ग की ओर बनी रही और वह मार्ग था आनन्द विधान का। आनन्द के स्वरूप के सम्बन्ध में भी भारतीय विचारक एकमत नहीं है। कोई उसे शरीरगत सौन्दर्य के समान समझता रहा, किसी ने उसे अन्तर्वृत्ति मात्र और कोई मनोरमता को काव्यगत आनन्द समझता रहा। किसी ने उसे ब्रह्मानन्द - सहोदर कहकर अलौकिक और अतर्क्य प्रमाणित किया।

अलंकार काव्य के बाह्य शब्द और अर्थ पर ही आश्रित होते हैं। शब्द और अर्थ का सहभाव काव्य है। "पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"[2] कहकर रमणीय अर्थ के साथ शब्द को भी संयुक्त किया। काव्य

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 47।

2:- रस गंगाधर, 1-1

में जिस शब्द और अर्थ का प्रयोग होता है वे पृथक् अभिन्न हैं। कालिदास ने इस रूप पर उल्लेख किया है :-

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।"

प्रथम सर्ग: श्लोक। [रघुवंश]

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी बताया है कि :-

"गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न"

बालकाण्ड, 18 दोहा [राम चरित मानस]

किन्तु अभिन्न होते हुए भी शब्द और अर्थ पर आश्रित होने वाले शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का भेद किया गया। अतः आधार काव्य सौन्दर्य को पृथक - पृथक रखकर प्रस्तुत करना सरल रहा होगा। वर्गीकरण की यह पद्धति साहित्य शास्त्र के आचार्यों में विशेषरूप से पायी जाती है।

भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र के चौथा अध्याय में अलंकारों का विवेचन किया। उन्होंने शब्दालंकार या अर्थालंकार शब्द का प्रयोग तो नहीं किया किन्तु दोनों प्रकार के अलंकारों का एक साथ उल्लेख किया है :-

"उपमादीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।

काव्यानामेते गुणलक्षणसंयुक्ताः पञ्चविंशतिः ।। 40 ।।

बाद में अनुप्रास को भी इसी में जोड़ दिया :-

"अनुप्रासः सप्तमो रूपकं दीपको ष में" ... 42-43

किन्तु शब्दालंकार या अर्थालंकार का स्पष्ट पृथक उल्लेख यहाँ भी नहीं है। केवल "वाचा" स्वार्थं शब्दोपिलक्षणाय कल्पते" [1] वाक्य से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि भामह वाणी की शोभा दो शब्द और अर्थ द्वारा निष्पन्न मानते हैं। अतः शोभा - वृद्धि करने वाले अलंकारों को भी दो वर्गों में रखा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि भामह के अलंकार विवेचन को भाष्यकारों ने शब्दालंकार और "अर्थालंकार" नाम देकर प्रस्तुत किया। [2] इस आधार पर शब्दालंकार या अर्थालंकार नामोल्लेख का श्रेय भाष्यकार को है भामह को नहीं।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1:- काव्यालंकार, 5-66

2:- काव्यालंकार, भाष्यकार देवेन्द्र नाथ शर्मा, पृ0 31, 38

बाद में इन अलंकारों को पृथक - पृथक अध्यायों में स्वतन्त्र विवेचित किया है किन्तु नामोल्लेख कहीं भी नहीं है। रुद्रटोद्भट और वामन के मध्य में शब्द और अर्थ का पृथक्करण स्पष्ट हो गया। रुद्रटोद्भट ने भामह का अनुसरण करते हुए श्लेष के शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष दो भेद प्रस्तुत किये उन्होंने शब्द और अर्थ वैशिष्ट्य का यही आधार बनाया।[1]

इसी प्रकार वामन ने गुणों का शब्द - गुण तथा अर्थ गुण - कहकर वर्गीकृत किया तथा उनके भेद का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा :-

शब्दार्थ गुणानां शब्दालंकारेण भेदं व्यापिनि अर्थस्य प्रौढ़िरोध :।"

अर्थात् शब्द और अर्थ गुणों के नाम एक समान होते हुए भी उनमें भेद यह है कि शब्द गुणों के रूप में प्रौढ़ि आदि "शब्द" अर्थात् शब्द के धर्म होते हैं और अर्थ गुणों में प्रौढ़िका आदि शब्द के नहीं अपितु अर्थ के धर्म होते हैं।[2] वामन ने सर्वप्रथम अत्यन्त स्पष्टतः शब्दों में गुण और अलंकार के अन्तर को भी स्पष्ट किया। अलंकार सम्प्रदाय के कुछ आचार्यों ने भी गुण और अलंकार के भेद को ही मिथ्या कल्पना माना।[3] वामन ने इन दोनों का तात्त्विक भेद प्रस्तुत कर गुण से अलंकार को पृथक करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। किन्तु उन्होंने काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य को ही अलंकार माना है। वामन की यह मान्यता आगे चलकर साहित्य शास्त्र में स्वीकार नहीं की गयी और अब अलंकार शब्द अपने विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हो गया। अलंकारों के विवेचन में वामन ने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों को पृथक पृथक अध्यायों में रखकर स्पष्टतः विवेचित किया। यहां स्पष्ट रूप से "शब्दालंकार विचारः" में शब्दालंकार नाम प्राप्त होता है।

साहित्यकार में शब्दालंकार और अर्थालंकार के दो विभाजक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं :-

1:- अन्वय - व्यति रेक सिद्धान्त,

2:- आधाराधेय भाव सिद्धान्त,

यह दोनों ही सिद्धान्त काव्यालोक से प्राप्त होते हैं, जिसका बाद में क्रमशः मम्मट और रुय्यक ने प्रतिपादन किया। मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्य प्रकाश में लिखा :-

---

1:- विशेषेऽर्थे शब्दोक्ति विशिष्टे सङ्गतीप्रसाद् ।। काव्यालंकारसार, पृ० 63

2:- काव्यालंकार सूत्र-आचार्य विश्वेश्वर, अनुवाद, पृ० 140

3:- रुद्रट, काव्य प्रकाश - पृ० 384

4:- "शब्दालंकाराः" काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन, 1-1-2

"एवं गोणमुख्यालंकाराणां शब्दार्थालंकारेण योविभागः स: अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते ।"

[यहाँ [काव्य में] गुण,दोष, अलंकारों का शब्दगत और अर्थगत रूप से जो विभाग किया जाता है वह अन्वय - व्यतिरेक से ही ठीक बैठता है ।]"[1]

"येनालंकारो यदीयान्वयव्यतिरेकानुविधायी स तस्यालंकारो व्यपदेश्यत्व [इति] ।

[जो अलंकार [शब्द और अर्थ में से] जिसके अन्वय -व्यतिरेक का अनुसरण[2] करता है वह उसका अलंकार माना जाता है ।

मम्मट ने तो यहाँ तक स्वीकार किया कि आभ्यन्तरी भाव कल्पना में भी अन्वय - व्यतिरेक का आश्रय लेना होगा ।[3] आभ्यन्तरी भाव सिद्धान्त का खंडन मम्मट ने कहीं नहीं किया किन्तु मम्मट ने स्पष्ट रूप से अन्वय - व्यतिरेक का खण्डन करते हुए आभ्यन्तरी भाव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । शोभा अलंकार का उदाहरण स्पष्ट करते हुए मम्मट ने लिखा - पूर्वमाभ्यन्तर व्यतिरेकाभ्यां शब्द हेतु - कृता शब्दालंकारतामिति हेतु म ।

आभ्यन्तरीभावेनालंकारत्वस्य लोकव्यवहारबाधनात् ।।[4]

अर्थात् अलंकार की स्थिति शरीर के समान आत्म आत्मगत के भाव से होती है न कि अन्वय - व्यतिरेक से । अपने ग्रन्थ के अन्त में फिर इसी बात पर बल देते हुए उन्होंने लिखा :-

" लोक वेदाध्यात्मविभागस्य तत्तदलंकार निबन्धनस्य । अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजके । न तदालंकारत्वे " तत्कार प्रयोजकत्वे तु लोकोपमादेरपि शब्दालंकारत्व प्रसंगात् । तस्मादाभ्यन्तराभिप्रायेण चिरंतनैरप्यनुक्तिरिति गम्यम ।"[5]

परवर्ती आचार्यों ने अन्वय के सिद्धान्त को तो छोड़ ही दिया तथा अन्वय व्यतिरेक सिद्धान्त को शब्दालंकार और अर्थालंकार के विभाजक सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया । इन दोनों का भेद शब्द के परिवर्तन सहत्व या परिवर्तन सहत्व

1:- काव्य प्रकाश - आचार्य विश्वेश्वर अनुवाद , पृ0 425

2:- वही पृ0 555

3:- "येनालंकारो यदान्वयि स तत्कार इत्यपि कल्पनायां अन्वयव्यतिरेकाभ्यां समाश्रयणीयो तदाश्रयणमन्तरेण चित्रिरूप व्यामोहस्याभावात् ।

उदालंकारतां यतोक्तमिश्रिता पत्र परस्परव्यतिरेको ज्यायान्।" वही पृ0 567

4:- अलंकार सर्वस्व पृ0 124

5:- अलंकार सर्वस्व, पृ0 130

पर निर्भर है, ऐसा स्वीकार किया गया। शब्द परिवृत्ति सहन न करने वाला शब्दालंकार तथा सहने करने वाला अर्थालंकार माना गया है।

इस विवेचन के साथ ही काव्य में अलंकारों की उपयोगिता पर भी संक्षेप में विचार-करना आवश्यक न होगा। उक्ति के चमत्कार[1] का नाम अलंकार है, इस विषय में किसी को भी विरोध नहीं होगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकारों को एक "बाह्यालङ्कार"[2] तथा वैसा कहीं प्रणाली[3] माना है। काव्य में इनका प्रयोग "प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की अनुभूति तीव्र करने के लिए ही"[4] होता है। अलंकार की परिभाषा देते हुए शुक्ल जी ने कहा है - "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी - कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।"[5] इस विषय में डा० नगेन्द्र ने छूटी ही बात प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है "काव्य के लिये रमणीय भाव तो अनिवार्य ही है। परन्तु रमणीय उक्ति - वह उक्ति भी स्वभावतः अनिवार्य है। क्योंकि भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के बिना अकल्पनीय है।"[6] शुक्ल जी ने अलंकार को सीमित अर्थ ग्रहण किया था अतः वे यहाँ नगेन्द्र ने व्यापक अर्थ में ग्रहण किया। उन्होंने कहा कि काव्य में अलंकारों को अनिवार्य मानते हुए "अलंकार की परिधि को परिगणित रूढ़ अलंकारों तक ही सीमित न रखकर सभी प्रकार की वक्र-वक्रता व उक्ति रमणीयता तक विस्तृत करना होगा, लक्षणा और व्यंजना के प्रयोगों को भी उसमें अन्तर्भुक्त करना श्रेयस्कर होगा।"[7] किन्तु अलंकार अपने विशिष्ट अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए तथा उन्हें काव्य के अनिवार्य अंग[8] मानना ही सही है। अतः काव्य में अलंकारों की उपयोगिता - भावों की उत्कर्ष व्यंजना में तथा प्रस्तुत वस्तु के रूप, गुण

1:- चिन्तामणि, भाग२, काव्य में प्राकृतिक दृश्य, पृ० ११
2:- वही पृ० ९
3:- वही, काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६६
4:- अलंकार मंजरी, पृ० २५६ - २५७
5:- गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १४७, इस मीमांसा पृ० २९२-२९३
6:- रीतिकाव्य की भूमिका : पृ० ९७
7:- रीति काव्य की भूमिका पृ० ९७
8:- शब्दार्थौ शरीरं रसादयः आत्मा, तत्प्रतिभासिद्धयर्थं तदुपकारकाः अलंकाराः कटकादिवत् ।।"
"साहित्यदर्पणः विश्वनाथ" पृ०।

गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में सहायता पहुँचाने के लिए सर्वथा स्पष्ट है। इन्हीं कार्यों की सिद्धि के लिए ही विभिन्न अलंकारों की परिकल्पना की गयी है।

उपमा :-

जहाँ पर दो पदार्थों के उपमान - उपमेय भाव से समान धर्म का कथन किया जाय वहाँ उपमा अलंकार होता है।

जिउ मीना बिनु पाणीऐ तिउ साकतु मरै पिआस।

राग सोरठि पृ० २६६

यहाँ "साकत" उपमेय है, "मीना" उपमान है, "पिआस" समान धर्म है तथा "जिउ-तिउ" साधक शब्द हैं।

जिउ मछी तिउ माणसा वेसे अखिता जाम ।। सिरीराग, पृ० ७२

इस वाक्य में "माणसा" उपमेय, "मछी" उपमान, "जाल" समान धर्म है। उपमा अलंकार में कभी कभी एक की लुप्त भी हो जाता है -

कमर केरी बंध जिउ अहिनिसि चिति चढि पवै। सिरी राग, पृ० ९।

इस वाक्य में "बंध" उपमान "जिउ" साधक शब्द, "चढ" समान धर्म है, परन्तु मानव शरीर जो उपमेय है, वह लुप्त है, इसलिये यहाँ उपमेय लुप्त उपमा अलंकार है। उपमा अलंकार के कुछ अन्य उदाहरण द्रष्टव्य हैं :-

जिउ चातिक जल प्रेम पिआसा .....
नानक हरि रसु पी त्रिपतासा।
..... गउड़ी पृ० १७।
जिउ मीना जल माहि उलासा।
नानक हरि रसु पी त्रिपतासा। गउड़ी, पृ० १७१
जिउ मीना बिन पाणीऐ तिउ साकतु मरै पिआस।
तिउ हरि बिनु मरीऐ रेमना, जो बिरथा जावै सासु।
सोरठि पृ० २६६

पिक पपैऐ तै बीऐ जल जांदी डोर।
जिउ जलि बोड़े मछली कण पलाव कोर। सिरी राग, पृ० ९४
रे मन ऐसी हरि सिउ प्रीति हरि ऐसी मछली नीर
जिउ अखर सिउ सुख बसै मनि तनि मनासि सरीर। सिरी राग, पृ०६६

जिउ मछली पाणी का जाति ।
बिन गुर दाते मुकति न भाति । सलोकु सहसकृति, पृ० ९३०

स्वप :-

उपमेय में उपमान के निषेध - रहित आरोप को स्वप अलंकार कहा जाता है । जैसे :-

जिवा जतु देह मलक सारंग का सौद जोते तेरे नाद बाला ।
राग आसावरी, पृ० ४६०

. . . . . .

नानक याचिक अमृत का मागे हरि जतु दीजे जिवा आदि ।
राग गूजरी , पृ० ५०५

स्वप अलंकार के दो प्रमुख भेद होते हैं । स्वरूप तथा अभेद । "अभेद रूप" स्वप का अर्थ है अभिन्न अर्थात् उपमान और उपमेय की एक रूपता ।

हरिचरन कमल मकरंद लोभित मनो । राग आसावरी, पृ० ४६२
दरसा करावु संतोखु सतु जत गंठी सतु पटु राग बाला, पृ० ५४१
जत पहारा धीरजु सुनिआरु । अहिरणी मति वेद हथिआरु ।
भउ कला करमि तपताउ । भांडा भाउ अमृतु तितु ढालि । जपु पृ० ४

गुरु नानक देव ने अपनी वाणी में स्वप अलंकारों का प्रयोग सब से अधिक किया है क्योंकि उनकी रहस्यानुभूति को स्पष्ट करने के लिये उपमानों की अपेक्षा स्वप अधिक सहायक हुए हैं । स्वपों द्वारा कई स्थूल प्रत्यक्ष विषयों द्वारा सूक्ष्म का चित्रण बड़ा सुन्दर बन पड़ा है तथा उनसे आध्यात्मिक ज्ञान की रहस्यात्मकता को प्रत्यक्ष करने, अभिव्यक्त करने में योगदान प्राप्त हुआ है । गुरु - कवि ने आत्मा - परमात्मा के सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने के लिये प्रायः पति - पत्नी के स्वपों की सहायता ली है । इसके अतिरिक्त नानक ने नाम-महिमा, सांसारिक नश्वरता , मानव शून्य आदि के चित्रण के लिये अत्यन्त सुंदर स्वपों को चित्रित किया है । उदाहरणार्थ परमात्मा के गुण - गायन को स्पष्ट करने के लिये वे एक स्वप का चित्रण करते हैं - उनका कथन है मोह जलाकर, चित्त को स्याही बनायी जाय, बुद्धि को कागज, प्रेम को कलम, हृदय को लेखक तथा इस संयोगात्म चित्रण के लिये गुरु का निर्देश प्राप्त करना चाहिये :-

जाणि मोहु धरि करि मसि कागदु सतिगुरु लाइ ।
भाउ कलम करि चितु लेखारी गुर पुछि लिखु वीचारु ।
लिखु नामु सालाह लिखु एहु भ पारावारु ।।

सिरी रागु, आदि ग्रन्थ, पृ० १०

नाम रूपी सिक्के को ढालने के लिये गुरु नानक ने टकसाल का बहुत सुन्दर रूपक बाँधा है । उनका कथन है कि जब अकाल तख रूपी भट्टी होवे रूपी सुनार, बुद्धिरूपी अहिरण, वेद रूपी हथौड़ा, भय रूपी धौंकनी, साधनाएं रूपी अग्नि, प्रेम रूपी सांचे जहां इन पूर्व टकसाल में शुभ-शब्द रूपी सिक्के को ढालना चाहिये :-

जितु पाहारा धीरजु सुनिआरु ।
अहरणि मति वेदु हथीआरु ।
भउ कउ ताउ अगनि तप ताउ ।
भांडा भाउ अमिउ तितु ढालि ।
घडीऐ सबदु सची टकसाल ।[1]

गुरु नानक ने अनेक ऐसे रूपक प्रस्तुत किये हैं जिनके माध्यम से उन्होंने विभिन्न वर्गों के कर्मकाण्डों का खण्डन किया है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :-

१:- मुंदा संतोखु सरमु पतु झोली धिआन की करहि बिभूति ।
खिंथा कालु कुआरी काइआ जुगति डंडा परतीति ।[2]
आई पंथी सगल जमाती मनि जीते जगु जीतु ।

२:- गगन मै थालु रवि चंदु दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती ।
धूपु मलआनलो पवणु चवरो करे, सगल बन राइ फूलंत जोती ।
कैसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती ।[3]

३:- भिखिआ नामीति सिखहु मुखा जपु जागु पुराणु ।
सरम सुनिति सीलु रोजा होइ मुसलमाणु ।
करणी काबा सचु पीरु कलमा करम निवाज ।[4]
तसबी सा तिसु भावसी नानक रखै लाज ।

१:- आदि ग्रन्थ, पृ० जपुजी पउड़ी ३८ पृ० ६
२:- वही पउड़ी २८ पृ० ६
३:- वही पृ० ६६३ ओअंकारी, आरती ७।१
४:- वही पृ० १४० माझ की वार रमकड़े १०

४:- अम्बु करि अरली बीज सम्बो करि सत की आव मित देहि पाणी[1]
सोच जिसलाम्बु धंगानु धंगाव से त्रिभु दोजकु मुके पत जाणी ।
५:- गुरु करि त्रिभानु त्रिभानु करि आखे करणी सबु पाखि ।
भाती अम्बु प्रेम का पोधा सबु रति अभिट सुआखि ।।

उपर्युक्त सभी उदाहरण सांग रूपक के हैं क्योंकि इनमें उपमान का उपमेय पर सांगोपांग आरोपण है । इसी प्रकार अनेक रूपक प्रस्तुत किये जा सकते हैं । सांग रूपक के अतिरिक्त गुरु नानक ने निर्गा रूपकों की भी पर्याप्त योजना की है :-

नानक चातिकु अमिअ जलु मागे हरि सबु दीजे किरपा करि ।[3]
त्रिपति जलु देखि नानक सारिंग कउ सोच आवे तेरे नाम बाला ।[4]
पपे परिहार परमेसर देखण कउ परपंच कीजा ।[5]
गुरु पउड़ी बेड़ी गुरु गुरु तुलहा हरि नाउ ।
गुरु सबद सागर जोहि[6] को गुरु तीरथु दरीआउ ।।[7]
अम्बु मेलु सम्बु मेलाना ।।

उपमा तथा रूपक के अतिरिक्त गुरु नानक ने अनेक अन्य सादृश्यता मूलक अलंकारों का भी प्रयोग किया है । गुरु नानक द्वारा प्रयुक्त सादृश्य मूलक अलंकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने उपमानों की उचितता का विशेष ध्यान रखा है । परमात्मा के प्रति संयोग तथा वियोग सम्बन्धों का सच्ची तथा पानी से परस्पर सम्बन्ध के उपमानों द्वारा चित्रण किया है ।[8] गुरमुख व्यक्तियों के संसार से निर्लिप्त होने के भाव को कमल तथा मुर्गाबी की के जल से अलग रहने के उपमान द्वारा प्रस्तुत

१:- आदि ग्रन्थ, पृ० २३ , सिरी रागु पदा २१/१
२:- वही पृ० ३६० आसा पदा ३८/१
३:- वही पृ० ३०४ ४:- आदि ग्रन्थ, पृ० ६६३
५:- वही पृ० ४३३ ६६:- वही पृ० १७
७:- वही पृ० ४१३
८:- रे मन जोगी हरि सिउ प्रीति करि जैसी मछली नीर ।
जिउ अधिकाइ सिउ सुखु घणो मनि तनि साति सरीर ।
बिनु जल घड़ी न जीवई पुरु जाणे अभीर । आदि ग्रन्थ, पृ० ६०

किया गया है।[1] मन की चंचलता के प्रदर्शित करने के लिये भौंरे का[2] प्रयोग किया गया है।[3] प्रभु - दर्शन की लालायित साधक की अभिलाषा की स्थिति को निम्नांकित मौलिकतापूर्ण उपमानों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है :-

हउ घरि साजन आवए। सगले मेरि सिधाए।
आवउ नीद विहाणे। मौल गावउ नारे।
सहु मौल पावउ ता प्रभु भावउ सुहागणि नारि सवारे।
निवाण मतारु मै हरी अंजु दिवाणा मनु विचारा।
सखी मिलउ रसि मौलु गावउ हउ घरि साजन आवा।[5]

गुरु नानक ने अधिकतर मूर्त उपमानों की योजना की है। उनके उपमेय मूर्त भी है तथा अमूर्त भी। जिस स्थल पर उन्होंने बाह्य विषयों का वर्णन किया है, वहाँ उपमेय मूर्त हैं जैसे गुरु, मनुष्य, शरीर, आदि परन्तु जहाँ आन्तरिक विषयों का विश्लेषण किया गया है वहाँ उपमेय अमूर्त हैं जैसे मन, परम-आत्मा, आत्मा आदि। मन को मेल [4]धोती [4] तथा परमात्मा को [5] पतिव्रता [5] के उपमानों द्वारा चित्रित किया गया है। यह उपमान योजना बड़ी चित्रमयी तथा यथार्थ है। आत्मा के नित्य अनुभूतियों को लौकिक व्यापारों द्वारा प्रस्तुत करते हुए गुरु - कवि ने अपने भावों को बड़ी काव्यमयी अभिव्यक्ति प्रदान की है। "साजन घरी आवे तिया मुह फेरी को जाए"।[6] द्वारा परमात्मा को आने वाली फेरी आत्मा का चित्रण किया है। जिससे जगत में रहते हुए किसी प्रकार के गुरु को अर्जित नहीं किया है।

1:- जेती जग महि कमु विकारमु मुकतहि मेलाणे।
सुरति सबदि भव सागर तरीऐ नानक नामु वखाणेह।
आदि ग्रन्थ, पृ० ९३३

2:- सहु कहै नानक देखि रे मन मरहि भवरा कालिजा।
आदि ग्रन्थ, पृ० ४३१

3:- वही पृ० १६५

4:- आदि ग्रन्थ, पृ० १६२

प्रतीक योजना :-

भाषा मानव की हृदयगत भावनाओं और चिंतित अनुभूतियों की अभि - व्यक्ति का साधारण माध्यम है पर मानव मस्तिष्क में जाने अनजाने ऐसी बातें उत्पन्न होती रहती हैं जिनकी अभिव्यक्ति वह सामान्य भाषा में जाकर भी नहीं कर पाता। यह समस्या उस समय और भी अधिक दुरूह हो जाती है जब अभिव्यक्ति का सम्बन्ध उस अनिर्वचनीय विराट चेतना से हो। वस्तु जगत का, दूर दूर तक फैली सुरम्य दृश्यावली का अनोखित भाषा में चित्रण सरल है क्योंकि भूताधिक पदार्थों के लिए शब्द मिलते हैं पर अन्तर की अतल गहराईयों में उद्वेलित भाव लहरों की अभिव्यंजना कुछ दुरूह सी होती है क्योंकि प्रत्येक अनुभवज्ञ का अपना एक अन्तर्लोक है जिसे वह अपने ढंग से देखता और अनुभव करता है। वह लोक भाषा से सम्बन्ध रखता हुआ भी उसके प्रचलित अर्थ को बहुत पीछे छोड़ आगे बढ़ जाता है, अपना अनुकूलार्थ भाषा को देकर तोष लाभ कर लेता है फिर भी अन्तराल में कुछ छूटा सा, अभिव्यक्ति का रोष रह जाता है जो कृतज्ञ प्राणीरों को व्यक्त करने की निर्वाध सा बाहर छूट पड़ना चाहता है। इस प्रकार जब भाषा सीमित अन्य अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में अपने को कुछ असमर्थ सा पाती है तब ऐसी व्यावहारिक पूर्णता का अन्वेषण किया जाता है जो अदृश्य, सूक्ष्म और भावमूलक अनुभूतियों को वाणी का परिधान पहना सके। प्रतीक ऐसी ही अदृश्य भावों को रूप प्रदान करता है, वाणी देकर मुखरित करता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस तथ्य को काव्यात्मक शैली में अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि प्रतीकों की सहायता बहुधा ऐसे अवसरों पर ली जाती है जब हमारी भाषा मूक और आवाक सी होकर मौन धारण करने लगती है, और उन अनुभवकर्ता के विविध भाव चिनगारी से चकमक टकराने वाले स्फोटों की भाँति फूट निकलने के लिए मचलने से लग जाते हैं। ऐसी दशा में हम उनकी यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए सादृश्य की खोज अपने जीवन से विभिन्न अनुभवों में करने लगते हैं और जिस किसी को उपयुक्त पाते हैं उसका उपयोग कर उसके माध्यम द्वारा अपनी भावधारा को प्रवाहित कर देते हैं।[1] डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी कहा है कि, " कवि जब अपने भावों को सामान्य शब्दों के द्वारा व्यक्त करने में असमर्थ पाता है तो वह

1:- कबीर साहित्य की परख, पृ० 142-43

प्रतीकों और रूपों का आश्रय लेता है। प्रतीकों की आवश्यकता प्रायः आध्यात्मिक और दार्शनिक प्रश्नों के वर्णन में अत्यधिक होती है जहाँ उनकी सहायता से उलझन सूक्ष्म और गहन तथ्यों को सरलता से अभिव्यक्त कर भावनाओं से परिपूर्ण बनाया जाता है।[1] इस प्रकार प्रतीक आध्यात्मिक और दार्शनिक अनुभूतियों की सफल अभिव्यंजना तो करता ही है वह जीवन के सामान्य क्षेत्र में भी प्रयोग कर गया है। वास्तव में "प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य अथवा गोचर वस्तु के लिए किया जाता है जो कि अदृश्य विषय का प्रतिनिधित्व उससे साथ अपने सादृश्य के कारण करती है अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर के विषय का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अर्थात् अदृश्य, अज्ञाय्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिनिधित्व मूर्त, दृश्य, ज्ञाय्य, प्रस्तुत विषय करता करता है।

शिवकोश के अनुसार, "प्रतीक मानस प्रत्यक्ष और कल्पना के क्षेत्र में आने वाले विचारों, भावों व तेर अनुभूतियों के गोचर चिन्ह या संकेत है।[2]

"प्रतीक शब्द का व्यवहार किसी ऐसे दृश्य पदार्थ के लिए व्यवहृत होता है जो हमारे मन में किसी अदृश्य और अज्ञेय वस्तु की अनुभूति उससे साथ अपने सम्बन्ध के कारण करा देता है।"[3] यहाँ प्रतीकों की अप्रस्तुत के प्रस्तुतीकरण की प्रवृत्ति पर ही अधिक महत्व दिया गया है।

रहस्यवादी कवि कालरिज ने प्रतीक की व्याख्या कुछ भिन्न रूप से प्रस्तुत करते हुए उसे अनन्त की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम माध्यम माना है। वे कहते हैं कि, " प्रतीक व्यष्टि में विशेष अथवा विशेष में सामान्य अथवा सामान्य में किसी विशेष व्यापी सत्ता का आभास देता है और सबसे ऊपर सत्य में अनन्त की ज्योति प्रतिभासित करता है।"[4]

कालरिज ने प्रतीक को , अमूर्त को मूर्त रूप देने का प्रकृततम माध्यम स्वीकार किया है। पर प्रतीक केवल सान्त या अनन्त , सत्य या असत्य सत्ता की

1:- खण्डकाव्य एक अध्ययन, पृ० 21

2:- हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1, पृ० 471

3:- द इन्साईक्लोपिड़िया आफ रिलीज़न एन्ड एथिक्स खं० 12, पृ० 139

4:- इन्साईक्लोपिड़िया आफ ब्रिटेन्निका खं० 9 पृ० 25 पृ० 284

5:- दी स्टेटमेन्स मैनुअल , कम्पलीट वर्क्स , खं० 6 । एस०टी० कालरिज पृ० 407-8

अभिव्यक्ति का ही माध्यम है, जैसा कहना साहित्य दृष्टि से उतना उपयुक्त नहीं है। प्रतीक अतीन्द्रिय या अनुभव की अभिव्यक्ति के साथ - साथ ऐन्द्रिय तथा भौतिक भावनाओं को भी मूर्त रूप प्रदान करता है। कबीर के शब्दों में जब हम "काहे री नलिनी, तू कुम्हिलानी, तेरे नाल सरोवर पानी" कहते हैं तो आध्यात्मिक और अती - न्द्रिय अनुभव की अभिव्यंजना होती है पर जब प्रसाद के शब्दों में " फिर जाती प्रलय घटायें कुटिया पर आकर मेरी, समझूँ अपना बस जाता है, छा जाता अखिल अँधेरी," कहते हैं तो कुटिया, घटायें, समझूँ और अँधेरी आदि क्रमशः दृश्य, अवसाद, उदासी और क्लेश के प्रतीक होकर भौतिक भावनाओं को ही मूर्त रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार प्रतीकों को केवल अतीन्द्रिय या अनुभव की अभिव्यक्ति का माध्यम मानना उनका एकांगी चित्रण ही होगा। वास्तव में प्रतीक व्यापक अभिव्यक्ति का सशक्ततम माध्यम है चाहे उसका सम्बन्ध अतीन्द्रिय से हो या ऐन्द्रिय से।

वेबस्टर डिक्शनरी में प्रतीक की परिभाषा कुछ अधिक विस्तृत पृष्ठ - भूमि पर आधारित है। उसके अनुसार "[1] प्रतीक अपने सम्बन्ध, सादृश्य, परम्परा अथवा संयोग से किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत करता है परन्तु वह सोद्देश्य सादृश्य मात्र नहीं है, वह तो विशेष रूप से मूर्त अथवा दृश्य वस्तु के लिए अमूर्त विचार निहित होता है।

इस प्रकार पाश्चात्य चिन्तकों की सार्थक विवेचना से स्पष्ट है कि प्रतीक अमूर्त अथवा अदृश्य का मूर्त या दृश्य विधान है। प्रतीक अव्यक्त तथा सूक्ष्म - सूक्ष्म मानसीय भावनाओं को रूप तथा वाणी प्रदान कर मूर्त अथवा साकारात्मक बनाता है। हिन्दी की प्रतीकवादी विवेचना पर पाश्चात्य प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। वैसे प्रतीक तथा प्रतीकात्मक विधान अथवा चित्रण भारतीय साहित्य शास्त्र में कुछ नया नहीं है। वैदिक साहित्य में तो आज भी अपने प्रतीकात्मक रूप में अद्वितीय एवं अनुपम है। तथ्य विवेचन की दृष्टि से भारतीय साहित्य में प्रतीक के स्वरूप का अध्ययन भी अपेक्षित है। शिवन कोष[2] में प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है - "अवयव, अंग, पक्ष, चिन्ह, निशान, किसी पद या गद्य के आदि या अन्त के कुछ शब्द लिखकर याद कर

1:- वेबस्टर्स न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी आफ इंगलिश लेंग्वेज, सेकण्ड एडीशन, 1933 पृ० 2553

2:- नगेन्द्र नाथ वसु, विश्वकोश - भाग 14, पृ० 546

पूरे वाक्य का पता लगाना आदि।" अमरकोश[1] में भी प्रतीक शाब्दिक अर्थ को, अवयव आदि माना गया है। प्रो० लेन ने प्रतीक की व्युत्पत्ति का उल्लेख करते हुए बताया है, कि " प्रतीक शब्द प्रति पूर्वक "इण्" धातु से बना है। गतिः गमनम्, गति प्राप्तिः, गतिर्ज्ञानम्" के अनुसार इसका अर्थ चलना, प्राप्तिया पहुँचना और ज्ञान होता है। "प्रति + इण् [गतौ]" में "इण् का "इ" ही शेष रहेगा। जबमें "किच्" प्रत्यय और दीर्घीकरण से "प्रती" बनजाता है, और फिर स्वार्थे "क" प्रत्ययके योग से "प्रतीक" शब्द सिद्ध हो सकता है। इस सिद्धि के अनुसार प्रतीक का अर्थ हुआ वह वस्तु जो[2] अपनी मूल वस्तु में पहुँच सके, अथवा वह मुख्य चिन्ह जो मूल का परिचायक हो।

डा० बच्चू लाल अवस्थी "शास्त्री" ने प्रतीक की व्युत्पत्ति प्रतिपादित करते हुए बताया है कि "प्रतीक" शब्द प्र+ तीक" धातु से "अ" प्रत्यय लगा बना है। "तीक्" धातु का गति अर्थ है और सभी गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक एवं प्राप्यर्थक हुआ करती है अतः उसी की सहोदर "रीक्" धातु का "दीप्ति" अर्थ ज्ञापन करने वाली दृष्टि का नाम है। अतः प्र= प्रकृष्ट, तीक्ष्ण = अर्थ ज्ञान या अर्थ प्राप्ति कराने वाले शब्द को प्रतीक कहना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से "प्रतीक" उसी शब्द को कहते हैं जो अपनी - अपनी विशेष शक्तिमत्ता के कारण प्रकृष्ट अर्थ की व्यंजना करता है। यह अर्थ प्रकृष्ट इस लिए होता है कि उसे यदि सीधे शाब्दार्थ में लाया जाए तो वह चिन्तात्मकता से शून्य रहकर पूर्ण प्रकार से सम्बन्ध नहीं रखता जबकि प्रतीकात्मक शब्द द्वारा व्यक्त होने पर वह चिन्तनता लाकर शब्द से पूर्ण प्रकार से सम्बन्ध हो जाता है।[3]

डा० गंगाधर तिलक ने भी प्रतीक की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है, "धातु स्वरूप वस्तु उपादान परमाणु के चिन्ह, पहचान, अवतार, और या प्रतिनिधि के तौर पर उपासना के लिये आवश्यक है, उसी को वेदान्त शास्त्र में "प्रतीक" कहते हैं। प्रतीक शब्द का [प्रति + इण्] व्युत्पत्यर्थ यह है - प्रति = अपनी

1:- अमरकोश, मनुष्य वर्ग, श्लोक 70

2:- छायावाद के गौरव चिन्ह, पृ० 226

3:- काव्य में रहस्यवाद पृ० 218-19

और, एक-तृतीय भाग, जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं।[1]

व्युत्पत्यर्थ इन सभी परिभाषाओं में प्रतीक को वह साधन माना गया है जिसके माध्यम से सूक्ष्म भावनाओं या वस्तुओं तक पहुँचा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि प्रतीक सूक्ष्म आन्तरिक भावनाओं के प्रकाशन का सशक्त माध्यम है। अतीन्द्रियता अथवा ब्रह्मपरक अनुभूतियों को प्रतीक द्वारा ही पूर्ण प्रकाशनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की जा सकती है, बाह्य रूप में भावनाएँ प्रकाश तथा अभिव्यक्ति प्रदान की जा सकती है, बाह्य रूप में भावनाएँ चिन्मयता से शून्य ही रह जाती हैं। भारतीय मनीषियों ने प्रमुख रूप से प्रतीक की रहस्यपरक व्याख्या ही प्रस्तुत की है। प्रतीक अपने व्यापक सन्दर्भ में मनोविकारों और भावनाओं को पूर्ण रूप प्रदान करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी यही कथन है कि "किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना सामने आ जाती है उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविकार या भावनाओं को जागृत करती हैं। कुमुदिनी रक्तलाल की, चन्द्र शुभ्र आभा की, अन्धकार क्षुधा और अन्तता की, उसी प्रकार सर्प से क्रूरता और कुटिलता का, अग्नि से तेज और क्रोध का, बालक से निश्चल प्रेम का संकेत मिलता है।[2] इसी प्रकार श्री परशुराम चतुर्वेदी ने बताया है कि "प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेत मात्र है और न उसका समानार्थ जिस ओर वाला कोई चिन्ह या प्रतिबिम्ब ही है। यह उसका जीता जागता एवं पूर्ण क्रियाशील प्रतिनिधि है। जिस कारण से प्रयोग में लाने वाले को उसके व्यापक से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग अपनी भाषा में केवल चित्रों व अलंकारों द्वारा अधिक सजता लाने के उद्देश्य से भी नहीं किया जाता और न उसके उसमें उचित सौन्दर्य का ही समावेश कराया जाता है। सादृश्य मूलक दोष पड़ने के कारण जो कभी कभी उपमानों का प्रयोग दे दिया जाता है, जो उचित नहीं है, यह उसके कहीं अधिक

1:- गीता रहस्य, तेरहवाँ, प्रकरण, भक्ति मार्ग, पृ० 419

2:- चिन्तामणि, भाग 2, पृ० 118

व्यापक है।[1] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने प्रतीक को अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में भी देखा है। वह वस्तु या भाव का जीता जागता रूप प्रस्तुत कर देता है, वह सब प्रकार की अनुभूतियों को, चाहे उसका सम्बन्ध भौतिक जगत से हो या अतीन्द्रिय अदृश्य जगत से, अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम है। वे डेक्टर के समान चतुर्वेदी जी ने प्रतीक को सादृश्य पर आधारित न बताकर प्रभाव साम्य पर स्थित बताया है, यही कारण वह उपमानों से आगे की वस्तु है, जो- उसके व्यापक अर्थ का द्योतन करने वाला साधन है।

प्रत्येक प्रतीक अपने भीतर किसी व्यक्ति, समाज तथा देश की व्यापक संस्कृति समेटे हुए रहता है। विशेष परिस्थितियों की परिणिष्ठता प्रतीक को रूप प्रदान करती है। प्रारम्भ में किसी कवि द्वारा अनुभूत तथा प्रयुक्त प्रतीक कालान्तर में सार्व - जनिक उस व्यापक अर्थ के द्योतक हो जाते हैं। वास्तव में प्रतीक जीवन प्रवाह में डूबकर ही नए अर्थ प्राप्त करते हैं। यथार्थ जीवन के सान्निध्य से उसमें अर्थ और रूप वैभिन्न्य की वृद्धि होती है। व्यक्तिगत जीवन और अनुभव से असम्पृक्त रहकर प्रतीक न तो अर्थ- धाम हो सकते हैं और न उसमें जीवन की अभिव्यक्त करने की क्षमता ही आ पाती। इस प्रकार प्रतीक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सरल या परिचित से कठिन अर्थात् अपरिचित की ओर गमन करता है। प्रारम्भ में सामान्य व्यक्तिगत जीवन में अनुभूत भावनाएँ काला - न्तर में उन्हीं भावनाओं की द्योतक प्रतीक बन जाती हैं, पर यही प्रतीक अधिक प्रयुक्त होकर अपना व्यक्तिगत अर्थ छोड़कर अभिधा मात्र रह जाते हैं अतः कवि को अन्य नए प्रतीकों के अन्वेषण में व्यस्त हो जाना पड़ता है।

संस्कृति के अध्ययन में प्रतीकों का बहुत योगदान होता है क्योंकि किसी देश की राष्ट्रीय चेतना, राजनीतिक उत्थान - पतन तथा ऐतिहासिक सन्दर्भ में प्रतीकों का निर्माण होता रहता है। राक्षस, कौ, हिरण्यकशिपु आदि दुराचार, अधर्म और असत्य के प्रतीक हैं जिन पर धर्म, दया और सत्य के साक्षात् अवतार राम और कृष्ण ने विजय प्राप्त की थी। सीता, मन्दोदरी, द्रौपदी, सावित्री, अनुसूया और दमयन्ती आदि स्त्रियाँ पातिव्रत की प्रतीक हैं, उर्वशी, पद्मिनी आदि सौन्दर्य की,

---

1:- कबीर साहित्य की परख, पृ० 142

लक्ष्मी बाई, जोधा बाई सीता की, राधा, मीरा भक्ति की प्रतीक मानी जाती है। सिसोदिया, जयचन्द, मीर जाफर आदि देशद्रोह के, कृष्ण और चाणक्य कूटनीति के प्रतीक माने जाते हैं। सामाजिक वातावरण और जाति गत सैकड़ों वर्षों से प्रतीकों के निर्माण और सृजन में अन्तर आ जाता है। किसी भी जाति के जीवन की पृष्ठभूमि उसकी आध्यात्मिक चेतना और दार्शनिक मान्यता पर आधारित होती है। जो संस्कार उसे परम्परा से प्राप्त हुए हैं उसकी अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से होती रही है। जातिगत संस्कारों के साथ - साथ युगगत प्रभाव भी कवि के चेतन मानस को उद्वेलित करते रहे हैं।

सामाजिक परिवेश में यदि हम वैदिक युग में आरण्यक जीवन व्यतीत करने वाले ऋषि मुनियों की परिस्थितियों का अध्ययन करें तो हम पायेंगे कि प्रकृति की गोद में रहने के कारण उन्होंने सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, उषा, सन्ध्या, वन, वृक्ष लताओं आदि को प्रतीक रूप में ही व्यवहृत किया है। यही परम्परा संस्कृत के कवियों बाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास आदि में भी चलती रही। हिन्दी के कवि आचार्यों ने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाया। सिद्धों और नाथों ने अपनी रहस्यमूलक साधनात्मक अनुभूतियों को विरोधात्मक रूप में प्रकट किया। बौद्धधर्म से प्रभावित होकर इन सिद्ध कवियों ने भी इन में प्रायः पर्वत, अहेरी, चोर, साप, मृग, सिंह, शराब, सुवर, साप, मेरु, गाय, बैल, बछड़ा, गंगा, यमुना, सरस्वती, नौका, बालरंडा, चाँद, सूरज, शबरी बाला, नीलमणी, गुंजमाला आदि को अपनी विरोधमूलक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। गो मांस, सुरा, अमर बारुणी[3] विशेष स्थितियों

1:- जैसा लाहि अलिखित जाव ।• • • आवह सिद्धाचल गरिमा वाहि ।
पिटठु दुहिअह एह जिनौं लाहि • • •जो सो चोर सोई साही ।
भिसि सिद्धाला सिहि सम पुरुष • • • ।सिद्ध डेहेन [अलि] पृ.हिन्दी काव्यधारा बाग्रा: पृ0 164

2:- गंगा जउना माहि बहइ नाई ।• • एहि- सुअ दुई बहआ सिठि संचार पुसिन्दा ।
सिद्ध लोचिन्धापा, पद्यपद 14 पृ0 140 हिन्दी काव्यधारा

3:- गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेन्मदवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरो कुलघातकः । वही . 3/41

तथा मुद्राओं से प्रतीक ली । सन्तों की सामाजिक स्थिति कुछ भिन्न थी ये सन्त प्रायः समाज में नहे जाने वाले भिन्नों से सम्बन्धित थे । कबीर जुलाहा, दादू धुनिया और रैदास चमार थे । इन सन्तों के प्रतीक विधान में व्यवसाय मूलक चरखा, तूल, ताना, बाना पटरिया [1] आदि का बाहुल्य था । अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में उन्होंने आम, राम, जोग, [2] बाघ, [3] ,-आम आसन [4] आदि ग्राम्य शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है ।

सगुण भक्त कवियों ने अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है उनमें कामधेनु, कल्पतरु, चिन्तामणि, सीता, मणि, दुर्ग, बारात, बटोर, भ्रमर, चाँद, सुरभ, वन, काली रात, स्वातिबूंद आदि प्रमुख हैं । रीतिकाल शृंगारी युग था, इस युग में जिन लौकिक और सरस प्रतीकों की उद्भावना की गयी है, उनमें मराल, लौकिक, भ्रमर पतंग, सारस, बाज [5] गुलाब आदि प्रमुख हैं । प्रतीकों का प्रयोग रीति कविता में अत्यन्त चित्रात्मक है । जो प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं वे बड़े सहज सम्प्रेषणीय प्रतीक हैं । रीतिकाल के प्रतीक प्रसन्न और चित्रमय हैं । [6]

प्रतीकात्मक दृष्टि से गुरु नानक का काव्य भरा पूरा है । एक से एक सुन्दर चित्रमय की वाणी में देखने को मिलते हैं । वैदिक परम्परा से प्राप्त चित्र सूत्र - प्रतीक का सन्तों ने खुलकर प्रयोग किया है उसी सन्दर्भ में गुरु नानक देव का कथन है कि शरीर रूप भूमि पर मन रूपी पक्षी निवास करता है, शरीर मन का अधिष्ठान है । मन का स्वरूप संकल्प विकल्प करना और सुख दुःख भोगना है । मनु बुद्धि , चित्त और अहंकार ये सभी जो अन्तःकरण चतुष्टय कहे हैं, गुरु वाणी में मनका और जीवात्मा

1:- झीनी झीनी बीनी चदरिया । कबीर साहब की शब्दावली, शब्द 15 पृ 64

2:- आम विचारा मरि गया जोग गाये तागा पाट साहब की वाणी पृ 32

3:- जैसा बिखादु गाढ़ा भर माहि । वही , पद 80 पृ 113

4:- वह आसन मेरे मन में बसे है । चित्त उठि मेरे जीव को डसे है । वही, पृ 168

5:- अति सरसि ही सों कहयौ ... । बिहारी, बिहारी रत्नाकर, दोहा 38 , पृ 22

6:- डॉ0 नगेन्द्र, रीतिकाल की भूमिका , पृ 182

है । जो काया रूपी वृक्ष पर एक और पक्षी है जो केवल पंख है, वह है परमात्मा इस प्रकार मनरूपी पक्षी और परमात्मा रूपी पक्षी एक ही काया रूपी वृक्ष पर निवास करते हैं । एक परमात्मा से भिन्नत्व, जो ये पक्षी = मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, परमात्मतत्व भूले हैं, तो उन्हें रंच मात्र भी पास में पहले का भय नहीं रहता - ये सांसारिक जन्मों में नहीं आते । किन्तु यदि ये पक्षी परमात्मा से पृथक पृथक होकर उड़ते हैं और विषय रूपी सुन्दर फल को खाते हैं तो उनके पंख टूट जाते हैं, अर्थात् साधन - सम्पत्ति विलीन हो जाते हैं और विषय-वासना पापों की भीड़ आकर जकड़ती हो जाती है । जन्मन में पड़ जाने से सत्य-परमात्मा के बिना किस प्रकार छूटा जाये ? यदि ही उस जन्मन को छुटाये तभी छूट सकता है क्योंकि वह स्वामी सद्गुरु रूप है । उसी प्रभु के साथ मिलाई है, चित्त पावता है, कृपा करता है, शक्ति का प्रदान करता है ।[1]

ऋग्वेद[2] में एक मन्त्र पर दो सुपर्णों - चिंतकों के प्रतिरूप में जीव और परमात्मा का विवेचन किया गया है । चिंतकों के समान ये भी उत्तम पंख- सुपर्ण वाले हैं । सयुजा = समान योग-सम्बन्ध वाले हैं । जीवात्मा का भाव से सम्बन्ध विच्छिन्न हो है । परमात्मा का अपना रूप जीवात्मा है, अतः दोनों में अभेद सम्बन्ध है । दोनों में "आत्मा" रूप से चित्तभाव होने के कारण समान नाम वाले हैं । "सायण" के अनुसार "श्याम" का नाम अर्थ भी है क्योंकि आत्मा और परमात्मा दोनों चिद् रूप हैं, पर जीव में माया के आवरण के कारण भेद पक्ष की बुद्धि बनी रहती है ।

1:- सहज काया पंखि मनु सकरि पक्षी पंख
मनु फुनि भिन्नि एक से तिन का काम भरंथ ।
उलटि न जैसे जैसे तासनि भोग करी ।
पंख तूटे पाछी पड़ी अजुगति भीड़ पाणी ।
बिनु साधे किउ छूटीऐ अधिकाधि परिमि मणी ।
आदि उपाए, छूटीऐ जा आदि बणी ।
गुर परसादी छूटीऐ विरपा आप वेख ।
अगो दाम चुकाईआ से भाणे से पंच ॥ आदि: रामकली, 1/33, पृ 920-21

2:- द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य नश्नन्यो अभिचाकशीति। ऋग्वेद 1/164/20

दोनों सखा भाव से एक ही पुत्र - संसार में रहते हैं, नारायण प्रकृति के कारण सेवा र
ती पुत्र क्या हो उन दोनों में एक - जीवात्मा तो स्वादु फलों का भोग-पाप, पुण्यम
र्म के सुख - दुख रूप फल का भोग करता है और दूसरा = परमात्मा कोई फल नहीं खाता, साक्षी भाव होकर सब कुछ अन्दर संसार को देखता है ।

गुरु नानक ने, वैदिक साहित्य में इस प्रकार मित्र अर्थात् सखा: सखाय का व्यापक मिलता है, उसका प्रयोग बड़े सुन्दर ढंग से किया है :-

जीव उधरे मुख मित्र साजन सखादा वारि वेदु मित्र सखाई ।
सहज भाव उपजे तां नानक पारब्रह्म मिल जाणे ।।[1]

सिद्ध परम्परा से 'अवधूत' संबंध का प्रयोग गुरु नानक ने अध्यात्मिक संदर्भ में निम्नलिखित पद में किया है :-

सखि सोहिलड़ा सोभावंता अवधूता ।[2]
सखि सुभाई मिले साईंयि ।।[3]
सखि सुभाए मेरा सहु मिले त सबदि रवि आपु ।[4]

सखा का निम्नलिखित पद के रूप में भी अनेक स्थलों पर प्रयोग मिलता है -

पूरा सतिगुरु सखि सखाई ।[5]
साजे सहजु मिले सहु पाईऐ दरसन देखा जाए ।।[6]
साजे सिरजि रचे जगत पसारे ।[7]

"सहज समाधि" का प्रयोग भी द्रष्टव्य है :-

सहज समाधि सदा थिर होवै जीवदा मरि गुरु गाई ।।[8]

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं को

1:- रागु गूजरी, अष्टपदीआं 1 , पृ 358
2:- वही सिरी 10, पृ 109
3:- वही रागु सिरी 11, पृ 208
4:- वही , रागु गउड़ी 11, पृ 216
5:- वही, प्रभाति बिभासी, अष्टपदीया 2, पृ 797
6:- वही, 7/4 पृ 800
7:- वही, रागु बिहागड़ा, म 2, सोद 6 पृ 433
8:- वही, रागु सारंग असटो पृ 723

स्वीकार करते हुए गुरु नानक के प्रतीकों में भक्ति का अद्भुत समन्वय हुआ है जिसके फलस्वरूप इनके प्रतीकों में दार्शनिकता के साथ साथ काव्यात्मक भावानुभूति का भी सुन्दर सम्मिश्रण देखने को मिलता है। यही कारण है कि सन्तों के प्रतीकों का एक बहुत बड़ा क्षेत्र भावात्मक रहस्यवाद पर आधित है। इस भावात्मक रहस्यवाद में उपनिषदों का अद्वैत वाद, चित्त सम्प्रदाय की प्रेमा भक्ति, स्वामी रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैत और विशिष्टाद्वैतवाद की सम्मिलित विचारधारा में भक्ति भावना का सम्मिश्रण और छठी सदी की रहस्यवादी मान्यता में डूब जाने की तान्त्रिक साधना इन सब विचारधाराओं का सिलसिला इन सन्त काव्य के भावात्मक रहस्यवादी प्रतीकों में प्राप्त होता है।[1]

निर्गुण सन्त कवियों का दार्शनिक दृष्टिकोण प्रायः अद्वैतवादी है। ये आत्मा और परमात्मा को अभिन्न तो मानते हैं, परन्तु निर्गुण और सगुण से परे इन सन्त कवियों की वाणी में ब्रह्म के प्रति वैसी ही व्याकुलता, भाव तन्मयता और मिलनेच्छा के दर्शन होते हैं जिसका सगुण भक्त कवियों की वाणी में स्वाभाविक स्फुरण हुआ है। अतः निर्गुण और निराकार[2] के प्रति जब ये सन्त दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य भाव के सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो अद्वैतवादी दर्शन पीछे छूट जाता है। डॉ० रामकुमार वर्मा[3] के अनुसार जब उसमें भक्ति की कोमल भावना आ जाती है, प्रेम की प्रबल प्रवृत्ति समुद्र की भाँति विस्तृत रूप में उठ खड़ी होती है तो निराकार का भाव बहुत कुछ विलुप्त हो जाता है, उस भाव में व्यक्तित्व का आभास होने लगता है ।... और ऐसी स्थिति में निराकार ईश्वर अपने को ऐसा चित्रण का विषय न पाकर भक्तों के सुख दुःख में समान भाग लेने वाला दृष्टिगोचर होने लगता है।

तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए इन सन्त कवियों ने ईश्वर का निराकार रूप तो ग्रहण किया पर आन्तरिक रूप से वे प्रभु के सगुण रूप से मुक्त नहीं हो सके हैं। भक्ति के उद्दाम वेग में उनका निराकार और योगगम्य ब्रह्म कुछ खिल सा गया है, पुनः पुनः से प्रत्यक्षमान जग आदि में सन्तों ने भी जी खोलकर कुल्ली लगाई है। उनकी व्याकुल आत्मा ने परमात्मा के साथ भक्तिरस सभी सम्बन्ध स्थापित किए हैं। कहीं सन्त राम के "कुत्ता"[4] हैं तो कहीं गुलाम बनकर जिसने को

1:- डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य पृ० 190-93

2:- रागु आसा, सबद 21, पृ० 265 3:- वही, रागु आसा, सबद 22/3 पृ० 264

सकर है,[1] जहाँ वे आत्मा के रूप में "जाहे न अनुज उमापु मारा"[2] की प्रार्थना करते हैं तो वहीं भक्ति राजा राम के आगे पर कुक्षिल का सा साज सिंगार करते हैं।[3] आत्मा और परमात्मा के साथ जो मधुर सम्बन्ध स्थापित किये गये हैं उनमें चार प्रकार की प्रतीक योजना दृष्टव्य है :- 1:- दास्य भाव के प्रतीक, 2:- सख्य भाव के प्रतीक, 3:- वात्सल्य भाव के प्रतीक और 4:- दाम्पत्य भाव के प्रतीक परन्तु दाम्पत्य भाव के प्रतीकोंमें माधुर्यरस अत्यधिक और सम्पन्नता का सर्वाधिक उत्कर्ष मिलता है। गुरु नानक ने आत्मा-परमात्मा मिलन की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है।[4] पहली अवस्था में जीवात्मा रूप स्त्री परमात्मा रूपी पति से अभिज्ञ रहती है, उसे यह ज्ञात नहीं होता कि परमात्मा रूपी पति का क्या ठिकाना है? दूसरी अवस्था में उसे बोध होता है कि मेरा प्रियतम है और वह एक है जिसमें वह गुरु की कृपा से मिल सकती है। तीसरी अवस्था में, ससुराल में पहुँचकर उसे अपने प्रियतम का पूर्ण ज्ञान होता है कि यही मेरा पति है, प्रियतम है, गुरु की कृपा से कामिनी पति की प्यारी हो जाती है। चौथी अवस्था में जीवात्मा मन और भाव का शृंगार कर प्रियतम के पास जाती है, वह प्रियतम भी उसके भाव-शृंगार पर रीझ कर संयोग के लिए आगाढ़ चिर रमण का आयोजन करता है। ईश्वर के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध का यह उदाहरण अभिनव है। जिस प्रकार लौकिक स्त्री पुरुष के प्रगाढ़तालिंगन में अखंड पुरुष मांसल अथवा आत्मिक चेतना शून्य होकर एक अलौकिक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करती है उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से एकाकार होकर अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करती है।[5] सन्त काव्य में प्रयुक्त दाम्पत्य भाव के प्रतीकों के सम्बन्ध में डॉ० बड़थ्वाल का कथन है, "दाम्पत्य प्रेम जो लौकिक प्रेम का स्थूल प्रकार है, हमारी इन बानी कर्त्रियों को बहुत पसन्द है।

1:- पैवकड़े हम उही जाणती। बिनु सह की मैं सार न जाणी।
सहु मेरा एकु अवरु नहीं कोई। सहरि करे मेरावा सोई।
सासुरडे हम साहु पछाणिआ। सहजि सुभाइ ओहु मनि भाइआ।
गुरपरसादी देखी मति आई। तां कामणि ओहु मनि भाई।
एहो भाग्यु मेरे भाय का करे सो गावै। सद ही रैणि रवे मनावै॥ रागु आसा,
अपना पिंड जाणिआ
सबद २१ पृ० २६७

2:- सुखमनबन्ध, ४/३/२७

वास्तव में इन प्रेमात्मक स्वरों के गीतों में ही इनके वृत्य पूर्ण रूप से व्यक्त हुए जान पड़ते हैं। ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक बनकर दाम्पत्य प्रेम आलम्बनाश्रित कविताओं में सब कहीं अपनाया जाता है।[1]

गुरु नानक दाम्पत्य प्रतीकों के अन्तर्गत विरह अभिव्यक्ति का ही बाहुल्य है। वास्तव में विरह की भावना जितनी तीव्र होगी मिलन का माधुर्य उतना ही अधिक आह्लादक होगा। विरह की एक मनोवैज्ञानिक वृत्ति रही है, जो भिन्न-भिन्न सम्बन्धों के अनुसार प्रेम का स्वरूप धारण करती है। प्रारंभ में प्रेम का सूत्रपात लौकिक स्तर पर होता है जो धीरे - धीरे क्रमशः सोपानों को पार करता हुआ ईश्वराभिमुख हो जाता है। वियोग की भीषण भट्टी में पड़कर प्रेम का सारा कालुष्य जल जाता है और रह जाता है केवल शुद्ध आध्यात्मिक रति भाव। सूफी कवियों ने इसी में प्रेम की सार्थकता मानी है। उनके मिलन का लक्ष्य मरणोपरान्त है। वस्तुतः जीवन तो प्रेमी और प्रेमिका के विरह का काल है, उसमें जितनी सघनता और तीव्रता होगी, प्रेम उतना ही सच्चा और चिरस्थायी रहेगा।

विरह का भाव नानक की वाणी में सर्वत्र व्याप्त है। विरहिनी के लिए सावन की बूंद बड़ी दुखदायी होती है, दामिनी चमक चमक कर डराती है, अंधेरी घटाएं मन को खींच जाती हैं, पूरी सेज अकेले को दौड़ती है, मरण की कामना करती विरहिनी को बिना प्रियतम के सुख, चैन, नींद आदि कुछ भी नहीं भाती :-

सावणि सरसी मना कंत वसहि रंगि आइ।

* * * *

नानक सा सोहागणि जेती पिर के अंकि समाइ॥[2]

विरह वेदना तीव्र हो उठती है कि एक घड़ी भी छः छः महीने लम्बी लगती है, हे प्रभु! तब आप कौन कर मिलो :-

नानक मिलणु अगाट धर कोलु एक घड़ी छह मासा।[3]

1:- हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० 353

2:- राग सूहारी, वारमाझा 9, पृ० 674 [आदि ग्रन्थ]

3:- आदि ग्रन्थ, राग सूहारी, वारमाझा 9, पृ० 674

पति परदेश को गये हैं, किस प्रकार सहेला भेजूं ? प्रभु किस प्रकार मिलें, मैं विरहिन तो उस कठिन मार्ग को जानती भी नहीं :-

साजन देखि सिधेसी अंते सनेहड़े देरी ।
सारि समाले तिस सजणा मुझ मेला भले दी ।
मुझ मेला भलेदी गुरु सारेदी जिउ तुध भावा पिआरे ।
मारगु पंधु न जाणाउ विखड़ा घाखी पिर पारे ।[1]

यह "दरद" कोई साधारण नहीं है, साथ पकड़कर भला वैद्य क्या बतायेगा ? "दरद" तो अंदर में है :-

वैद बुलाइआ वेदगी, पकड़ि ढंढोले बांह ।
भोला वेदु न जाणई, करक कलेजे मांह ।।[2]

भला वियोग रोग में "दारू" क्या करेगी - प्रिय-दर्शन ही सच्ची दवा है । वे वैद्य, यदि सच हो तो ये बातें । चकवी को नींद नहीं आती, भला प्रियतम के बिना नींद कैसी । बिना उनके तो एक पल भी अच्छा नहीं लगता ।[3] विरह की अग्नि समाप्त होने पर आत्मा-वधू को प्रिय मिलन के लिए शृंगार की करना आवश्यक है, गुरु नानक का कथन है :-

मनु मोती तै गाखणा होवै पवणु होवै सूआरी ।
तिसना सीगारु कामणि तनि पहिरै राखै भाउ पिआरी ।
" " " " "
मन मंदिर तै दीपकु जाले काइआ सेज करेइ ।
पिरु रावे गुण कामणी ता सोहागणि होइ ।।[4]

सहज भाव से मिले प्रियतम को विरहिनी अन्तःकरण में धारण कर लेती है, उसके गुणों को अंक में समा लेती है ।[5]

1:- आदि ग्रन्थ, राग सूहारी बारहमाहा, सबद 9, पृ० 604-05
2:- आदि ग्रन्थ, मलार की वार, सलोकु 4, पृ० 761
3:- वही, राग मलार, अष्टपदीआं 1, पृ० 732
4:- वही, राग आसा, सबद 35, पृ० 213
5:- वही, राग सूहारी, बारहमाहा 12, पृ० 613

दार्शनिक या दार्शनिक प्रतीक :-

गुरु नानक के दार्शनिक विचार प्रमुखतः ब्रह्म, जीव, माया, जगत इन चार तत्वों पर ही आधारित हैं। इनके स्वरूप, कार्य, स्थिति पारस्परिक सम्बन्ध आदि को स्पष्ट करने के लिये नानक ने विविध प्रकार की योजना की है। इन चारों तत्वों का ऐसा विस्तार ही जाना है कि विविध प्रतीक विधान द्वारा भी सम्भवतः इनका बहुत कुछ अभिव्यक्त ही रह गया होगा फिर भी गुरु नानक ने अपनी अनुभूति के आधार पर ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि का चित्रण किया है।

गुरु नानक ऐसे ने ब्रह्म को एक ही माना है -

साचिब मेरा एको है। एको है भाई एको है।[1]
साचिब मेरा एक है अवर नहीं भाई।[2]

गुरु नानक ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की समान रूप से उपासना की है। निर्गुण रूप में उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर जो उसके वर्णन करने का प्रयत्न करता है वह बाद में पछताता है :-

ता कीमा गला कथीआ ना जाहि।
* * * *
जे को कहै पिछे पछताए।[3]

उस निर्गुण ब्रह्म में जल, थल, पृथ्वी, आकाश आदि कुछ भी नहीं, वह स्वयंभू अपने आप में प्रतिष्ठित है :-

जल थल महिल पूरण सब्दी आपे आपु वीचारे करतार।
न तहि माया मोहु न छाया न सूरज चन्द न जोति अपार।[4]

ब्रह्म के विराट रूप में चित्रण करने के लिये गुरु नानक ने अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया है :-

---

1:- आदि ग्रन्थ, रागु आसा, पृ0 350
2:- " " पृ0 302
3:- आदि ग्रन्थ, जपुजी, पउड़ी 26, पृ0 07
4:- आदि ग्रन्थ, रागु गूजरी 8, पृ0 359-60

गगन मे रविचन्द्र दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती
धूप मलयानलो पवनु चवरो करे । सगल वनराइ फूलत जोति ।[1]

सर्व व्यापक उस ब्रह्म की ज्योति सब मे विद्यमान है, उसी के प्रकाश से सभी प्रकाशित है :-

सभ महि जोति जोति है सोइ तिस के चानण सभ महि चानणु होइ[2]

वही ब्रह्म स्वयं ही पवन, जल, देवतागण, तारागण, सूर्य है, वही अमर है, वही फूल है, और वही उस फूल का फल फूल है ।

इस प्रकार गुरु नानक ने परमात्मा के लिये अनेक परम्परागत तथा मौलिक प्रतीकों का प्रयोग किया है । परमात्मा सम्बन्धी प्रतीक आर्थिक परम्पराओं, वैसी गुणों और वैसी कार्यों के साथ सम्बन्धित हैं । अच्छे और बुरे कर्मों के आधार पर मनुष्य या जीवात्मा के लिये गुरु नानक ने गुरमुख तथा मनमुख दो मौलिक प्रतीक अन्वित किए हैं । इसके साथ उन्होंने इनसे सम्बन्धित अन्य प्रतीकों की उद्भावना भी की है जैसे गुरमुख के लिये कमल तथा मनमुख के लिये भौंरे की प्रतीक-योजना की गयी है :-

निरमल मणारि वासिए निरमल जस पदमणि जाका रे ।
पदमणि जाका जस सुवासि सगि दोख नहीं रे ।।
दादर सु व्यापि न जानसिरे ।
भवसि विचारु वासि निरमल जस अंकुरि न लखसि रे ।।[4]

यहाँ प्रमुख प्रतीक योजना के साथ "निरमल" सांकेतिक चिन्तन-धारणाओं का तथा "जस" आध्यात्मिक आनन्द का प्रतीक है । ये सभी प्रतीक परम्परा-विमुक्त मौलिक हैं । उन से गुरु नानक की भावाभिव्यक्ति को अधिक गहनता प्राप्त हुई है । एक अन्य प्रयोग है-

पंडित वाची निगमु बोलै भाई विचु निकले वसु ।
जसु मनीऐ जसु देवीऐ भाई तह जसु परा वसु ।।[5]

1:- आदि ग्रन्थ, रागु आसावरी 9, पृ0 416
2:- आदि ग्रन्थ, रागु आसावरी9, पृ0 429
3:- आदि ग्रन्थ, रागु माझ सोलहे,पृ0 606-7
4:- आदि ग्रन्थ, माझ वदा 4/1 पृ0 990
5:- आदि ग्रन्थ, सोरठ, अष्टपदी 2/3, पृ0 639

यहां दासी सिलोना, भक्ति साधना का, "जल मंथन" सांसारिक विषय-वासनाओं का तथा "लधु" मोक्ष प्राप्ति का प्रतीक है। ये सभी प्रतीक मध्यकालीन तथा लोक जीवन से अधिक गहराई तक जुड़े हुए हैं तथा सुन्दर समानार्थ पर आधारित हैं।

गुरु नानक ने परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिये पति-पत्नी सम्बन्धों वाले दाम्पत्य प्रतीकों को सब से अधिक प्रयुक्त किया है। एक उदाहरण :-

आवहु सजणा वड वेला दसहु तेरा राम।
ढिल आवनहे की सका मे मनि चाउ घणेरा राम।
मनि चाउ घणेरा सुणि प्रभ मेरा मै तेरा भरवासा।
* * * * *
नानक साजन वड अति जाचे साधि मिले धरि आए॥[1]

गुरु नानक ने अपनी भक्ति भावना के सन्दर्भ में दास्य भाव के प्रतीकों का भी प्रयोग किया है :-

1:- मुख खरीदी जाता गोला मेरा माउ सुभागा।
गुर की बखसी बादि विकाना जिसु लाइआ तिसु लागा।
तेरे जाले किआ चतराई। साहिब का हुकमु न करणा जाई।[2]
2:-जेती सेवहु तेता करे। जिस का जीउ तिसु आगे धरे।
साहिब भावै सो परवानु। सो सेवकु दरगह पावै मानु।[3]
3:-मैं उझडीआ उझडीगी इस ओर आवे।
जिउ हुं राखहि तिउ रहा मुखि नाम तुमारे।[4]

नानक वाणी में प्रकृतिक प्रतीकों का भी विशेष प्रयोग मिलता है। ये प्रतीक एक ओर प्रकृति से सम्बन्धित दृश्यों, वस्तुओं आदि को प्रस्तुत करते हैं तथा दूसरी ओर गुरु-कवि की प्रकृति के प्रति सौन्दर्यशीलता को भी प्रकट करते हैं, इन प्रतीकों के द्वारा गुरु नानक की भक्ति भावना का बहुत सुन्दर निरूपण हुआ है :-

---

1:- आदि ग्रन्थ, सूही राग छंत 3/1 पृ0 764
2:- आदि ग्रन्थ, माझ, पदा 6/1 पृ0 99।
3:- आदि ग्रन्थ, आसा की वार 4/3 पृ0 66।
4:- आदि ग्रन्थ, आसा, अष्टपदी 19/राउ पृ0 42।

तुं सुणि वरणा कासिदा की वाड़ीये लाला राम ।
विचु पचु मीठा खारि विस फिरी होवै लाला राम ।
फिरि होव लाला खरा माला नाम विचु पलावए ।
जपु तेथ साचर देइ सबरी विचुड़ जिसै करतार ।
- * * *
भेरा सुणि भेटसिआ वुठु असि भारी राम ।
* * * *
वीचारि सतिगुरु मुले सुणिआ भाउ देवी लालु ।
* * * *
मझी विछुंनी मेलसी सभु आपि करिहि पाछा ।।[1]

इस छंद में गुरु नानक ने विवाह-वातावरण में निम्न जीवात्मा या प्राणी की स्थिति का अन्योक्तियों द्वारा बड़ा चमत्कारपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। इस छंद में मृग, भ्रमरा, मझी शब्द परमात्मा से बिछुड़ी हुई जीवात्मा के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किए गए हैं।

गुरु नानक देव ने अन्य धर्मों तथा साधना प्रणालियों की निस्सारता का खण्डन करते हुए, उनकी पारिभाषिक तथा सांकेतिक शब्दावली का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोग रूढ़ परम्पराओं पर आधारित हैं। नाथ योगियों की शब्द-साधना के साथ सम्बन्धित प्रतीकों और रूढ़ शब्दावली को नानक वाणी में पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया गया है। इसके साथ साथ इस्लाम धर्म से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली को भी प्रतीक-योजना के लिये आधार बनाया गया है। जैसे :-

1:- पाणसि पचु सिंघासण भीचे। मिठली करम सचु करमु करीचे।[2]
2:- सिंघ मारी मनि आपणै सेवक जाप सिफती बंदु।
सिंगी सबदु सदा धुनि सोहै अहिनिसि पूरे नादं।[3]

1:- आदि ग्रन्थ, आसा, छंत 5 पृ0 439
2:- राम जी, अलपदी 5/3 पृ0 905
3:- आदि ग्रन्थ, आसा, पदा 31/2 पृ0 360

यहां "सिंहासन" तथा "त्रिय नारी" दोनों व्यामोह के प्रतीक हैं। इसी प्रकार गुरुवाणी में सरल एवं प्रचलित प्रतीकों का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है :-

पंची पंचे उदरि नही आवहि।[1]

काइआ नगरी इहु मनु राजा पंचे आहि वीचारी।[2]

यहां पहले उद्धरण में "पंचे" शब्द पांच ज्ञानेन्द्रियों का तथा दूसरे उद्धरण में पांच विकारों का प्रतीक है।

गुरु नानक देव की प्रतीक योजना में एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि उन्होंने एक ही प्रतीक भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं या भावों के सूचक रूप में प्रयुक्त किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने "हंस" को कहीं परमेश्वर के लिये तथा कहीं "आत्मा" के लिये प्रयुक्त किया है :-

1:- तीये पहरे रैणि के खनजारिआ भिछा लरिओ उलथे आइ।[3]

2:- काइआ हंसि संजोगु मेलि मिलावा।।[4]

बिम्ब-विधान :-

बिम्ब काव्य भाषा की निर्मिति में मुख्य तत्व है। समीक्षा के क्षेत्र में बिम्ब की उद्भावना मूलतः पश्चिम की है। भारतीय साहित्यशास्त्र का अलंकार विधान प्रस्तुत और अप्रस्तुत को पृथक् साथ-साथ ले चलने के कारण रचना-विधान या रचना कौशल का भी तो है, पर काव्य भाषा के विश्लेषण में पर्याप्तीकृत नहीं पाता। बिम्ब अप्रस्तुत होते हुए भी भावनिक प्रक्रिया में प्रस्तुत के रूपान्तरण हो जाता है, अतः भाषा के अत्यन्त सौंदर्यशील स्तर पर स्थापित हो जाता है, भाषा हो जाता है, जबकि अलंकार अपने नाम से भी और स्थिति में अतिरिक्त सजावट के रूप में देखे जाते हैं, भाषा की रचना-प्रक्रिया का भी नहीं बन पाते।

1:- आदि ग्रन्थ, माझ, सोहले 13/1 पृ० 1033

2:- आदि ग्रन्थ, रामकली, अनंदी 9/9 पृ० 917

3:- आदि ग्रन्थ, सिरी, पहरे 2/3 पृ० 75

4:- आदि ग्रन्थ, माझ, वार पउड़ी 4, पृ० 139

प्रतीक किसी सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक अनेकार्थक वस्तु तत्व का चुनाव है। जैसे सूर्य ज्ञान का प्रतीक है, अँधेरा विघ्न का प्रतीक है, कमल निर्लिप्तता का प्रतीक है। कालांतर में प्रतीक भाव की सामान्य शब्दावली की भाँति बहुप्रचलित और स्वीकृत हो जाते हैं। फिर कविता के विकास-क्रम में नये प्रतीक बनते हैं और क्रमशः स्वीकृत होकर रूढ़ बन जाते हैं। प्रतीक-विधान का यह रूप काव्य भाषा के विकास का एक स्तर है। इससे और अधिक विकसित स्तर बिम्ब प्रक्रिया का है। बिम्ब या भावचित्र की प्रक्रिया अधिक संश्लिष्ट होती है। यह कई तत्वों से निर्मित होने के कारण स्थिर न होकर गतिशील होता है और उसका प्रतीक की तरह पूर्व-स्वीकृत अर्थ नहीं होता। इसलिए कविता में अर्थ को स्वाभाविक तथा विकासशील बनाए रखने का मुख्य दायित्व बिम्ब पर होता है।

अधिकतर आधुनिक परिभाषी समीक्षक – कुछ रचनाकार समीक्षकों को अपवाद मानना होगा – बिम्ब का महत्व उसके चाक्षुष संवेदन के कारण मानते हैं। बिम्ब में चित्र का भाव आता जरूर है, पर चित्र का दृश्य भाव वहाँ प्रधान नहीं है, अपितु चित्र का संश्लिष्ट रूप – कम्पोजीशन-होना प्रमुख बात है। इस तरह चाक्षुष पक्ष अर्थात् एक दृश्य प्रतिभा का निर्माण कर सकना वस्तुतः बिम्ब विधान का प्राथमिक स्तर है। मुख्य बात यह है कि संश्लिष्ट व गहन होने के कारण बिम्ब में उसके विभिन्न तत्वों के बीच सम्पर्क और टकराहट से एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया परिचालित होती है, जो अर्थ को विकासशील बनाती है। इस तरह बिम्ब प्रक्रियात्मक और अभिव्यक्ति एक अर्थ संकेत है और इसलिए रचना में काव्य भाषा अर्थात् काव्य बनने की मुख्य प्रक्रिया है।[1]

जैसा पहले कहा गया, समीक्षा के क्षेत्र में बिम्ब की उद्भावना मूलतः परिचित की है। वहाँ यह उद्भावना प्रसिद्ध दार्शनिक हुम्म तथा कवि पाउंड के सहयोग से बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में क्रमशः आन्दोलन के रूप में परिणत हुई, और फिर गतिशील हो, प्रथम १९१४ ई० के आसपास उसकी विरोधी प्रतिक्रिया भी हुई। पर बिम्ब के इस एक ओर प्रतिपक्ष के बीच, और इन विवादों के परिशमित होने पर, समय का एक ऐसा स्तर बराबर रहा है जहाँ बिम्ब विधान को कविता

१:- राम स्वरूप चतुर्वेदी,: मध्यकालीन काव्य भाषा, पृ० ३०

भाषा की सहजी प्रक्रिया में केन्द्रीय स्थान दिया जाता है।[1] इस रूप में बिम्ब-प्रक्रिया का महत्व आनुभविक स्तरीकरण में अक्षुण्ण रहा है।

गुरु नानक देव की काव्य-साधना में बिम्बों का विशेष महत्व है क्योंकि अनेक आध्यात्मिक रहस्यों की निर्मिति में बिम्ब योजना का अत्यधिक योगदान रहता है। डॉ० सीताराम चतुर्वेदी का कथन है कि बिम्ब योजना हमारी भावनाओं को उत्प्रेरित करते हुए हमारी कल्पना को एक अलौकिक भाव-भूमि पर खड़ा कर देती है।[2] गुरु नानक का अनुभव बहुआयामी तथा विस्तृत था इसलिए उनकी बिम्ब योजना भी बहुत विशाल तथा विशेष प्रकार की है। गुरु - कवि की कल्पना की ऊँची उड़ानों तथा उनकी रहस्यानुभूति का साक्षात्कार उन के बिम्बों द्वारा ही किया जा सकता है। डॉ० सुरिन्द्र सिंह के अनुसार उनके बिम्ब एक प्रकार का दर्पण हैं जिसमें उनके व्यक्तित्व, बुद्धि तथा सहजे व्यक्तित्व का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब प्राप्त हो जाता है।[3] डॉ० सुरिन्द्र सिंह कोहली ने गुरु नानक की बिम्ब योजना की विविधता तथा व्यापकता का उल्लेख करते हुए बताया है कि गुरु नानक ने अपनी यात्राओं के दौरान दूर-दूर के मेलों का भ्रमण किया तथा आध्यात्मिक मेलों की गतिविधियों का पर्यवेक्षण। इसलिए उनका बिम्ब - मेल एक ओर भौतिकता तथा दूसरी ओर आध्यात्मिकता तक व्याप्त है। साधारण कृषक से लेकर सम्राट तक, भिक्षु फकीरदार से लेकर धनवान व्यापारी तक तथा सामान्य हिन्दू से लेकर काज़ी या ब्राह्मण तक उनके बिम्बों का साम्राज्य स्थापित है।[4]

यहाँ बिम्ब शब्द पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। अंग्रेज़ी बिम्ब कोश के अनुसार "Image" शब्द का पर्याय है। यह बहुत व्यापक शब्द है। इस शब्द के अन्तर्गत सम्पूर्ण मानव-जीवन, प्रकृति तथा उससे सम्बन्धित सभी पदार्थ, उनके क्रियाएं तथा प्रतिक्रियाएं ली जा सकती हैं। इस शब्द का सामान्य अर्थ अनुभूति या प्रतिबिम्ब लिया जाता है। काव्य में बिम्ब कविता का प्राण-तत्व है, क्योंकि कविता में कल्पना की अभिव्यक्ति तीन मुख्य रूपों में की जा सकती है, बिम्ब, प्रतीक तथा अलंकार। इन तीनों में बिम्ब ही प्रमुख है।

1:- रामस्वरूप चतुर्वेदी: मध्यकालीन हिन्दी काव्य भाषा, पृ० 3।

2:- गुरु नानक का हिन्दी काव्य, पृ० 306

3:- गुरु नानक की बिम्ब योजना, आलोचना, गुरु नानक अंक, 1969, पृ० 282

4:- ए क्रीटीकल स्टेडी आफ आदि ग्रन्थ, पृ० 145

वर्डसवर्थ ने तो सम्पूर्ण कविता को ही मनुष्य तथा प्रकृति का चित्र कहा है।[1] रायल सोसायटी ने चित्र को कविता के मुख्य तत्वों में गणना की है। उसके अनुसार प्रत्येक कविता चित्र - विधान का एक प्रतिरूप है तथा प्रत्येक चित्र प्रकारान्तर से रूपों में कविता की एक रचना है।[2] इस प्रकार चित्र का काव्य में विशेष स्थान है या कहा जा सकता है कि अपने भावों को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए कवि के पास चित्र के रूप में एक शक्तिशाली साधन है। जिसे कवि का ज्ञान तथा अनुभव जितना अधिक विशाल तथा विस्तृत होगा, उसके ही काव्य - चित्र अधिक रमणीय, व चारुतापूर्ण तथा प्रभावशाली होंगे।

आध्यात्मिक काव्य में चित्र का उससे भी अधिक महत्व है क्योंकि ऐसा काव्य अत्यन्त गहन - गंभीर होता है तथा उसे सहज रूप में प्रस्तुत करने के लिये कवि को चित्र-योजना का ही आधार ग्रहण करना पड़ता है क्योंकि चित्रों के माध्यम से ही रहस्यिता गंभीर, गूढ़ चिन्तन को जन-जीवन की किसी घटना या वस्तु से सम्बन्धित करते हुए उसे सहज बोधगम्य बना देने में सक्षम हो पाता है। गुरु नानक ने शिक्षित रूप से अपने गंभीर चिन्तनात्मक आध्यात्मिक दर्शन को लोक-जीवन में सहज तथा बोध गम्य बनाने के लिये अनेक प्रकार की चित्र योजना का आधार ग्रहण किया है। इस सन्दर्भ में डॉ० सीता राम जायसी का कथन है कि गुरु नानक की सत्यानुभूति ने अपनी चित्र-योजना को सहज भावों के रूप भी प्रदान किये हैं तथा उसमें रहस्यात्मक आनन्द की पूर्ति भी की है। स्वरूपान्त संगीत लहरियों पर नृत्य करती हुई, यह चित्रावली आज भी उतनी ही आकर्षक है जितनी चार सौ वर्ष पहले थी।[3]

गुरु नानक ने अधिकांशतः चित्र प्रकृति से लिये हैं। इन चित्रों में गुरु कवि के जीवन में प्रकृति का महत्व, निकटता तथा प्रकृति-प्रेम दृष्टिगोचर होता है। सूहारी राग में "बारह माह" नाम की रचना तो वर्ष के प्रत्येक माह की परिस्थितिजन्य वस्तु का साकार चित्र प्रस्तुत करती है। इस रचना द्वारा गुरु नानक की अनुभूति की तीव्रता तथा प्रभावशालिता अभिव्यक्ति हुई है। जैसे :-

---

1:- गुरु सनकाना : जायसी की चित्र योजना, पृ० 33-वह उद्धृत

2:- "दा पोयटिक पेट्रन", पृ० 90

3:- " दा केरटीक सेन्स", पृ० 116

1:- सरवर कमल किरणि आकासी बिगसै सहजि सुभाई ।
प्रीतम प्रीति बनी अति जैसी जोती जोति मिलाई ।
2:- भवजल बिखु उतरणे मन सीधी न पाइ ।
मन बुधी मन सुरता मन बिखु पुंनु मलाइ ।
सतिगुर भेटे ता सोधिआ मनदी पवरि उलाइ ।।
3:-सागर महि बूंद बूंद महि सागर वसतु बूझे बिधि जाणे ।
4:-बिंबै रबु सरावरा अति दीरघी अति गुरु ।
जोध जि अहनि दिहा करि जाहि सिरहो बिरु ।
रबु थिके पुरु कमले हेंमि न आवहि पत ।
बिखु नीची मनका गुरा पीरिआरंभा लबु ।।
5:- जिवा जल बेदि मानक सारंग ज्यउ जीवत तेरे नामि सुखा।

इस प्रकार इन उद्धरणों में से प्रथम में कमल और सूर्य के परस्पर प्रेम के रूप-चित्र द्वारा जीवात्मा में परमात्मा के प्रति प्रेम भावना को दृष्टान्त अलंकार द्वारा चित्रित किया गया है । दूसरे उद्धरण में आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु महत्व तथा उसकी कृपा दृष्टि की साधक के लिये आवश्यकता को प्रकट करने के लिये मन तथा सागर का रूप-चित्र प्रस्तुत किया गया है । तीसरे उद्धरण में सागर तथा बूंद के परस्पर सम्बन्ध के रूप-चित्र द्वारा आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है । चौथे उद्धरण में विभिन्न दृश्यों के आधार पर तथा फलों की अनुपयोगिता के रूप-चित्र द्वारा विरक्तता का उपदेश किया गया है । पांचवें उद्धरण में चातक द्वारा स्वाति जल में प्राप्त बूंदों की एक बूंद की अभिलाषा के चित्र द्वारा स्वप्न अलंकार के आधार पर साधक की आत्म कृपा की अभिलाषा का चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 1273
2:- वही पृ० 99
3:- वही पृ० 818
4:- वही पृ० 470
5:- वही पृ० 665

प्रकृतिक बिम्बों में गुरु नानक ने जल तथा मछली के बिम्बों के माध्यम से परमात्मा तथा जीव के परस्पर सम्बन्धों का चित्रण अनेक स्थलों पर किया है। उनका कथन है कि मनुष्य को परमात्मा से उस प्रकार का प्रेम करना चाहिए जैसा मछली जल से करती है :-

रे मन जैसी करि मिल प्रीति करि जैसी मछली नीर।
जिउ अधिकउ तिउ सुखु घणो मनि तनि सांति सरीर॥ 1

यहां मछली तथा जल के परस्पर प्रेम के चित्रण द्वारा उस अटूट भाव को मूर्तरूप प्रदान किया गया है। एक अन्य सन्दर्भ में गुरु - कवि ने मनुष्य को सांसारिक छल-कपट में लिप्त होने से रोकने के लिये तथा प्रभु-भक्ति में आनन्द रहने के लिये मछली तथा जल के चित्र-विधान द्वारा अटूट भाव को व्यंजना शक्ति द्वारा चित्रित किया है :-

मछली जालु न जाणिआ सरु जलु आपु।
अंति विजाणी सोहणी जिउ कीतो वेसासु।
कीते कारणि पाकड़ी कालु न देखै टलै सिराहु।
भाई रे इउ तिरि जाणा कालु।
जिउ मछी तिउ मानखा पये अचिंता जालु॥ 2

गुरु नानक ने एक अन्य चित्र-योजना के माध्यम से नाम-स्मरण द्वारा आत्मा को पवित्र करने का उपदेश दिया है :-

मरीऐ हथु पैर तनु देह। पाणी धोपै उतरसु खेह।
मुख पलीती कपड़ु होइ। दे साबूणु लावै होइ होइ।
भरीऐ मति पापा के संगि। ओहु धोपै नावै के रंगि॥ 3

सन्दर्भ - वस्तु के साधन-भाग के चित्रण द्वारा एक स्थल पर गुरु नानक ने सिरजिनहारी की मनोदशा का अत्यन्त कारुणिक चित्र प्रस्तुत किया है :-

---

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 60
2:- आदि ग्रन्थ, पृ० 88
3:- जपुजी, पउड़ी, पृ० 20

सहजि सहज मता जन सहजहि रहति आए ।
मै मनि तनि बहु भाउ पिर परदेसि सिधाए ।
पिर घरि नही आवै मरीऐ हावै दामनि चमकि डराए ।
सेज एकेली जगी दुहेली मलणु मख्या पुसु माए ।
हरि बिनु नीद भूख बहु वैरी कापड तनि न सुखा पाए ।
नानक सा सोहागणि कंती पिर के अंकि समाए ।

अपनी आध्यात्मिक साधना की प्रक्रिया तथा स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए गुरु नानक की विरह - योजना का दूसरा क्षेत्र लोक-जीवन है । प्रत्येक कवि समाज का अभिन्न अंग होता है । समाज की गति - विधियों का उस पर प्रभाव पड़ता है तथा किन्हीं अंशों पर वह समाज को प्रभावित भी करता है । इस क्षेत्र से उसके सम्बन्ध उसे अभिव्यक्ति के लिये नये-नये बिम्बों की योजना के लिये प्रेरित किया करते हैं । गुरु नानक लोक-जीवन के माध्यम से ही अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को चित्रित किया करते हैं । एक स्थल पर उन्होंने पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित विरह - योजना द्वारा एक बहुत ही सुन्दर आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को प्रस्तुत किया है :-

मनु मोती जे गहणा होवै पहुचा होवै सुचारी ।
हिरदा सी गल कामणि तनि पहिरे राखै लाल पिआरी ।।
लाल बहु गुणि कामणि मोही ।
तेरे गुण कोपि न अवरी ।
हरि हरि नाम कंठि जे पहिरे दामोदर वसु होई ।
कर करि करता कीम पहिरे अवर किसी चिसु ओई ।
महकुलम कर सुचरी पहिरे परमेसुर पट सोई ।
सीसु वढी सोहावै कामणि हीरु तुलमा सोई ।
मन मंदिरि जे दीपकु जागै काजल सेज करेई ।
विखम राह जम सेती जावै त नानक भोग करेई ।।[2]

इन पंक्तियों में गुरु - कवि ने माणिक्य के झिलमिलाहट, शृंगार, प्रतीक्षा तथा संयोग सुख का बड़ा प्रभावशाली सरल तथा मौलिक बिम्ब प्रस्तुत करते

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 1108
2:- आदि ग्रन्थ, पृ० 599

गुरु आत्मा तथा परमात्मा के रहस्यमयी सम्बन्धों को चित्रित किया है। इसी प्रकार एक अन्य पारिवारिक चित्र के माध्यम से गुरु नानक ने आध्यात्मिक साधना के मार्ग में माया के अवरोध को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है :-

साधु धुरी करि साधु न देखे, फिर सिरु मिलण न देव धुरी ।
सखी सजण के हउ चरण सेवउ, हरि गुर किरपा ते मइरि धरी ।।[1]

इस चित्र - योजना में अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। यहाँ साधु (साधा) का, "पिर" परमात्मा का, "सजण" आध्यात्मिक स्थिति, "सखी-सहेली" साधु शक्ति का प्रतीक है।

इस प्रकार मद-माया में ग्रस्त व्यक्ति को ज्ञान की क्षण भंगुरता की प्रतीति के लिये गुरु नानक ने एक युवती का अत्यन्त प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत किया है :-

उलगी पेडोवरी गहिरी गंभीरी ।
सहुरि सुहीजा पिअ करी मिलणु न जाइ कही ।
गणु चि लगा गिहवड़ी सहीए अजवरी ।
से भी दहदे दिनु मे मुठिम हारसु छडी ।[2]

पारिवारिक जीवन में साज तथा सहुर आदि सम्बन्धियों से मनुष्य तभी तक भयभीत रहती है जब तक उसके प्रति उसके पति की कृपा दृष्टि नहीं होती। पति के प्रसन्न होने से सभी विरोधी परिस्थितियाँ स्वयमेव समाप्त हो जाती हैं :-

केवल जेठ गुर दुसि सबु का सक चिंतु ।
से पिर भाये नानका करम मती सबु सबु ।।[3]

इस प्रकार इन पारिवारिक चित्रण-विधान से परमात्मा की कृपा द्वारा माया तथा उसके प्रपंच से व्यक्ति के मोक्ष प्राप्त कर लेने की बात सहज में ही स्पष्ट हो जाती है।

परमात्मा रूपी "वर" की प्राप्ति के लिये गुरु की सेवा करना भी गुरु नानक ने अनिवार्य बताया है :-

---

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 355
2:- आदि ग्रन्थ, पृ० 1410
3:- आदि ग्रन्थ, पृ० 642

बाबु के घरि बेटड़ी बाजी बाजे नेदि ।
से जोड़हि घर जामणी सतिगुर सेवहि तेदि ।[1]

इसके अतिरिक्त गुरु नानक ने घोड़ू वस्तुएं, खाने पीने की चीजें, कातने बुनने की सामग्री, व्यापारिक गतिविधियां, वस्तुओं से सम्बन्धित कार्य - व्यापार, क्रय-विक्रय आदि अनेक क्षेत्रों से अपने बिम्ब निर्मित किये हैं। "शब्द" की उपासना की आध्यात्मिक उपलब्धि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए गुरु नानक ने स्वर्णकार के धन्धे से एक अत्यन्त सटीक बिम्ब प्रस्तुत किया है :-

जत पाहारा धीरजु सुनिआरु । अहरणि मति वेदु हथीआरु ।
भउ खला अगनि तप ताउ । भांडा भाउ अमृत तितु ढालि ।
घड़ीऐ सबदु सची टकसाल । जिन कउ नदरि करमु तिन सार ।[2]
नानक नदरी नदरि निहाल ।

यहां स्वर्णकार रूपक द्वारा बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। गुरु नानक का "शब्द" सम्बन्धी सिद्धान्त तथा प्रभु कृपा का स्वरूप यहां स्पष्ट अभिव्यक्त हुआ है। परमात्मा के अमृतमयी नाम का उच्चारण, सुनार की भट्टी के आधार पर निर्मित बिम्ब द्वारा किया गया है :-

गुरु करि गिआनु धिआनु करि आसे, करि करणी वसु पाखै ।
भाठी भवु प्रेम का पोचा, सतु रति अगनि तपावै ।
आजा मनु मतवारो नाम रसु पीवे सहज धुन रचि रहिआ ।।[3]

गुरु नानक ने राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक क्षेत्र से भी अनेक बिम्ब गृहण किये हैं। पाखंड-छल तथा धार्मिक रूढ़ियों की निस्सारता उद्घाटित करने के लिये गुरु नानक ने धार्मिक क्षेत्र के विशेष बिम्बों की योजना की है। योगियों की मुद्रा, जोगी, सिद्धि, कैंथा आदि की व्यर्थता को स्पष्ट करने के लिये रूपक के आधार पर निर्मित निम्नलिखित बिम्ब द्रष्टव्य है :-

---

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 955
2:- जपुजी, पउड़ी पृ० 38
3:- आदि ग्रन्थ, पृ० 360

सुंदर संतोखु सरधु पत जोती, विचान की करणि विभूति ।
खिमा खासु कुआरी काइआ, खुसि उठा परतीति ।
बाई पंथी सगल जमाती, मनि जीते जगु जीत ।।[1]

गुरु-कवि ने परमात्मा, आत्मा, शरीर, मन, ज्ञानेन्द्रियों ,जगत, लोक-परलोक के स्वरूप विश्लेषण के लिये लोक-जीवन से सम्बन्धित सैंकड़ों बिम्बों की योजना की है । निम्नलिखित उद्धृत बिम्ब में गुरु नानक ने नाम-स्मरण तथा गुरु उपदेश के बिना जीव की स्थिति का अंकन किया है :-

अहमे गरबु कीआ नही जाणिआ । देह की खिरति पड़ी पछुताणि आ ।
जब प्रभ विसरे तही मनु मानिआ । जिउ राजा माइआ अहंकारी ।
जम करे उर भार अठारी । बिन गुर पूरे जाइ पुकारी।।[2]

गुरु नानक द्वारा चित्रित इतनी विशाल बिम्ब-योजना को स्थूल रूप से दो वर्गों में बांटा जा सकता है । एक वे बिम्ब हैं जिनकी अनुभूति किसी न ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से संभव हो सकती है तथा दूसरे वे बिम्ब हैं जो अभिव्यक्ति के माध्यम से चित्रित किये जाते हैं । ज्ञानेन्द्रियों पर आधारित बिम्बों का विभाजन ज्ञानेन्द्रियों की संख्या के अनुसार किया जा सकता है । आंख, नाक, कान, जिह्वा तथा त्वचा ये कुल पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं तथा इनके अनुसार बिम्ब क्रमशः रूप, शब्द, गंध, रस तथा स्पर्श पांच प्रकार के हैं । इन बिम्बों में सब से अधिक संख्या दृश्य बिम्बों की है । गुरु नानक की वाणी में सब से अधिक दृश्य-बिम्ब ही हैं । गुरु नानक के दृश्य बिम्बों की योजना सूक्ष्म, सम्पूर्ण तथा तीव्र संवेदना से परिपूर्ण है ।[3] ये सभी बिम्ब गुरु नानक की अभिव्यक्ति में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए हैं । कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं :-

1:- रूप बिम्ब- काली कुंडल गलि मोतीअन की माला । माल निवाली फूल गुलाला ।
बिन जगदीस कवन सुख भाला ।[4]

1:- जपुजी, पउड़ी पृ0 26
2:- आदि ग्रन्थ , पृ0 224
3:- आदि ग्रन्थ, पृ0 567
4:- वही पृ0 567

2:- शब्द बिम्ब :-
तेरी बाल तुराणी मधुराड़ी बाणी ।
कुकभि कोकिला तल तुराणी ।[1]
बाबीहा प्रिउ बोले कोकिल बाणीआ ।[2]

3:- गंध बिम्ब :-
अंदरि मुकभि कोकिला कीमरि वही न जाइ ।[3]
बासुरि कूं कारि धंदभि लीपि आसै पाइ ।[4]

4:- रस बिम्ब :-
नानक नाम मु महा रसु मीठा गुर पूरे तब पाइआ ।[5]
सम रस गिहे संगि सुखिये सालोणे ।
खट तुरसी मुखा बोलणा मारण नाद कीए ।[6]

5:- स्पर्श बिम्ब :-
जो तब कंठि न लगीआ जलन सि बावड़ीआ[7]
जिनु डिठे तनु पचुले खडे खलाणि तनु ।

अभिव्यक्ति के आधार पर विभिन्न बिम्ब-योजना कवि की रुचिगत रुचि तथा भाषा पर उसके अधिकार पर आधारित होती है । इस प्रकार यहाँ बिम्ब की सफलता कवि की वर्णन - शैली तथा भाषा-प्रयोग पर निर्भर करती है । इस प्रकार के विभिन्न अलंकारों, प्रतीकों, शब्द-शक्तियों तथा मुहावरे-लोकोक्तियों के रूप में हमारे सामने आते हैं । गुरु नानक के अलंकारों वाले बिम्बों में रूपक, उपमा तथा दृष्टान्त की प्रधानता है । "घिर", "दोहागणी", "सोहागणी,"सखि", "सेज","मेल", आदि प्रतीकों द्वारा रहस्यानुभूति को बड़ी स्वाभाविक तथा अभिव्यक्ता से प्रकट किया गया है । इसी प्रकार मुहावरों , लोकोक्तियों का भी गुरु काव्य में बहुतायत से प्रयोग किया गया है, गुरु-वाक्य स्वयं में मुहावरे बनने की सामर्थ्य रखते हैं । स्पष्टतया गुरु नानक की वाणी अभिव्यक्ति पक्ष से बड़ी स्वाभाविक है । उनकी बिम्ब योजना तथा उनकी वाणी में अन्तर्निहित सौन्दर्य - बोध सहज साध्य है ।

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 1107
2:- आदि ग्रंथ , पृ० 1091
3:- आदि ग्रन्थ, पृ० 14
4:- आदि ग्रंथ, पृ० 245
5:- आदि ग्रन्थ, पृ० 16
6:- आदि ग्रन्थ, पृ० 958
7:- आदि ग्रन्थ, पृ० 1412

संगीतात्मकता :-

गुरु नानक की समूची वाणी राग- रागिनियों के नियमानुसार संगीतात्मक है। यों तो समस्त भक्ति साहित्य संगीतात्मक है, परन्तु सिक्ख-गुरुओं ने संगीत के प्रति विशेष रुचि प्रदर्शित की है। गुरु वाणी में सारों को गाने के लिए विशेष लोक-संगीतात्मक धुनियों के संकेत भी दिये गये हैं। गाने के लिए तालरोहन का विधान निर्देश भी किया गया है। स्थान-स्थान पर रागिनी नामांकित के साथ "घर" लिखा गया है। "घर" का अभिप्राय ताल या तार से है, क्योंकि सुर, ताल, लय, श्रुति, न्यास, गृह आदि राग का स्वरूप प्रदर्शित करते हैं, इसलिए जिस ताल में वाणी का पद्य अपेक्षित है, उसका संकेत दिया गया है। वस्तुतः गुरुमत में रागात्मक श्रुति से प्रभुकीर्तन का विशेष पक्ष मुख्य भी है।[1] गुरु नानक ने अपने रागों में जहाँ एक ओर हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय किया है वहाँ साथ ही प्रत्येक समय तथा प्रत्येक ऋतु में कीर्तन करने के लिये अपनी वाणी को रागों में निबद्ध कर दिया है।

रहाउ :-

गुरु नानक देव की वाणी में पदों, अष्टपदियों आदि के प्रारम्भ में "रहाउ" की पंक्तियाँ दी गयी हैं। यह "रहाउ" वास्तव में पदों का अभिन्न अंग है। भारतीय संगीत में इसको "टेक" कहा जाता है। डा० सदन देव कुमार के अनुसार यहाँ "टेक" में पद के भाव को ग्रहण किया गया है। कवि अपने कथ्य के सारत्व को टेक में बांध देता है। उसको अपने अन्तर्मन में गुनगुनाते हुए, साथ साथ उसकी सीमा का विस्तार करते हुए सम्पूर्ण "पद" की रचना कवि कर लेता है।[2]

भाई कान्ह सिंह ने "रहाउ" का अर्थ "टेक" करते हुए उसे सम्बन्धित तुक या तुकों को शब्द गायन के समय बारम्बार प्रयोग करना स्वीकार किया है।[3] ऐसा न करने वाले गायकों को उन्होंने गुरु वाणी गायन पद्धति से अनभिज्ञ माना है।[4] परन्तु भाई कान्ह सिंह की इस बात को अधिक रूप से ही माना जा सकता है क्योंकि

1:- गुण गोविंदे गावहु सभि जन। राग रतन सभना आलाप। जिनका मसा ७

2:- "तुलसी के भक्तियात्मक गीत", पृ० 192

3:- "महान कोश" पृ० 760

4:- वही पृ० 760-61

गुरु नानक देव की सभी रचनाओं के आरम्भ में भी "रहाउ" की रचना प्राप्त होती है, जिसका सम्पूर्ण रूप में कहीं कीर्तन होता हुआ देखा नहीं गया, जैसे :-

किआ भवीऐ सचि सूचा होइ ।
साच सबद बिनु मुकति न कोइ । १ - रहाउ ।-सिध गोसटि
तुलि पाऐ किआ बिबु दुराला ।
बिनु राम नाम गुरमुखि गुपाला । १- रहाउ । ओ अंकार
मन काहे भूले मूढ़ मना
जम मेला देखहि डोरा तउ पड़िआ १ - रहाउ "पटी"

जिस सम्प्रदायिक विद्वान सारे पदे का सिद्धान्त तथा केन्द्रीय भाव "रहाउ" में होना स्वीकार करते है ।[1] कोशकारों ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है ।[2] प्रो० साहिब का कथन है कि "रहाउ" का अर्थ है "ठहर जाओ" अर्थात् यदि आप सारे "शब्द" का केन्द्रीय भाव समझना चाहते हैं तो "रहाउ" की पंक्तियों पर रुक जाइये, इन्हीं में सारे शब्द का सारांश विद्यमान है ।[3] इसलिए "रहाउ" वाली पंक्तियों में सम्पूर्ण पद का केन्द्रीय भाव रहता है । इस तथ्य की पुष्टि किसी भी "रहाउ" वाले पद से प्राप्त की जा सकती है । उदाहरणार्थ सिरी राग का पहला पद[4] देखा जा सकता है जिसमें अनेक प्रलोभनों से बचते हुए जीव को परमात्मा के नाम स्मरण का उपदेश दिया गया है । इस सम्पूर्ण पद का केन्द्रीय भाव "रहाउ" वाली पंक्तियों में विद्यमान है :-

हरि बिनु जीउ जलि बलि जाउ ।
मै अवरा गुरु पुरु देखिआ अवर नहीं - २।।३-१- रहाउ ।

गुरु नानक देव ने रागमाला सहित कुल 20 रागों में अपनी वाणी की रचना की है । शास्त्रीय दृष्टिकोण से उन्होंने रागों की उत्तरी शैली से दक्षिणी शैली का सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है तथा लोक धुनों को भी आधार बनाया है । इस प्रकार उन्होंने शास्त्रीय तथा देशीय संगीत में सामञ्जस्य किया है ।

1:- महान कोश 2। पृ० 760 । पाद टिप्पणी ।
2:- "शब्दार्थ श्री गुरु ग्रंथ जी", पोथी पहली पृ० १ ।अंग्रेजी पाद टिप्पणी ।
3:- "जपुजी साहिब स्टडी", पृ० 3
4:- आदि ग्रन्थ , पृ० 14

सिरी राग :-

शास्त्रीय संगीत के अनुसार यह पूर्वी थाट का सम्पूर्ण राग है[1] तथा गुरमत संगीत में भी इसे रूढ़ राग माना गया है। सामान्यतःप्रातः इसे ब्रह्मज्ञानी ऋषियों - मुनियों का राग माना जाता है। दिन के दूसरे पहर अर्थात् मध्याह्न सायंकाल इसको गाया जाता है। "रागमाला" में भले ही इस राग को पाँचवाँ स्थान दिया गया है परन्तु " आदि ग्रन्थ " का इस राग में प्रारम्भ होने के कारण गुरमत में इसको सर्व प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। भारतीय परम्परा का राग होने के कारण इसकी शब्दावली अधिकतर भारतीय है। फारसी भाषा की शब्दावली बहुत कम प्रयुक्त की गयी है। राग की प्रकृति के अनुसार गुरु नानक देव जी ने इस में जीवात्मा रूपी नायिका द्वारा परमात्मा को मिलने की अभिलाषा का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है :-

मुंध पिर बिनु किवा सीगार ।
करि करि दीसै मत लहै दरगह झूठु खुआर ।। १ ।। रहाउ
आपि सुजानु न भुलई सचा अलख अपारु ।
पहिला अरली साहि के सचु नामु दे दातारु ।
नद निधि तपदे भानु एक करमि पवै नीसाणु ।। २ ।।
इत गुर का जाणि न जाणई बिखा सिख सचु अधारु ।
अंधे नामु विसारिआ मनमुखि अंधु गुबारु ।
आवणु जाणु न सूझई मरि जनमै होइ खुआरु ।। ३ ।।[2]

माझ राग :-

यह पंजाब का एक क्षेत्रीय राग है। इसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यह पंजाब के मध्यवर्ती प्रदेश में गाया जाता रहा होगा। भाई कान्ह सिंह के अनुसार यह सम्पूर्ण जाति का राग है,[3] परन्तु "ज्ञानी बिहारी" के अनुसार[4] यह सिरी राग, मधु - माधवी तथा मलार के संयोग से बनी एक रागिनी है।

1:- महान - कोश, पृ० 150
2:- आदि ग्रन्थ , पृ० 18
3:- महान - कोश, पृ० 720
4:- "ज्ञानी बिहारी", माझ राग " ।

इसके गायन का समय दिन का चौथा पहर है। पंजाबी से सम्बन्धित होने के कारण इस राग की वाणी में तत्कालीन पंजाब का बड़ा सजीव चित्र-चित्रण हुआ है। पंजाब में मुस्लिम लोग क्योंकि उस समय पर्याप्त संख्या में निवास करते थे, इसलिए इस राग की वाणी में मुस्लिम सभ्यता से सम्बन्धित अधिकांश शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। साथ ही हिन्दू तथा मुस्लिम एकता की भावना का भी चित्रण किया गया है। पंजाबी प्रकृति के अनुकूल इस वाणी की बोली बड़ी सरल है तथा शब्दावली पर अरबी तथा फारसी का गहन प्रभाव है। इस वाणी में आत्मा - परमात्मा के मिलन का ईश का अनेक स्थलों पर चित्रण किया गया है तथा महाविलन में सहायक गुरु के महत्व, स्वरूप, सामर्थ्य तथा अनुग्रह का भी विश्लेषण किया गया है :-

सतिगुर होइ दइआलु ता सरणि पूरीऐ।
सतिगुर होइ दइआलु न जमहु डरीऐ।
सतिगुर होइ दइआलु ता दुखु न जाणीऐ।
सतिगुर होइ दइआलु ता हरि रंगु माणीऐ।
सतिगुर होइ दइआलु ता जम का डरु केहा।
सतिगुर होइ दइआलु ता सद ही सुखु देहा।
सतिगुर होइ दइआलु ता मनि चिंदिआ पाईऐ।
सतिगुर होइ दइआलु ता सचि समाईऐ।

गउड़ी राग :-

इस राग के सम्बन्ध में डॉ० जय राम मिश्र का कथन है कि यह राग गुरमत संगीत के अनुसार सिरी राग की एक रागिनी है, परन्तु संगीत शास्त्रों का मत इससे सहमत नहीं है। कोई इसे दीपक की रागिनी मानता है तथा कोई मालकोस की। ये जैजावती, असावरी तथा सोरठ के संयोग से बनती है। गुरमत में इसके अन्य अनेक भेद हैं, जैसे गुआरेरी, देवगंधारी, बडहंसी, दीपकी, पूरबी, बेरागण आदि।[2] यह राग प्रत्येक ऋतु में सायंकाल गाया जाता है। संगीत विद्यानुसार इसे गंभीर प्रकृति का राग माना जाता है। इसमें गुरु - कवि ने अधिकतर दार्शनिक तथ्यों से सम्बन्धित विषयों का विश्लेषण किया है। इस राग में रचित वाणी की शब्दावली भी दार्शनिक भावों से सम्बन्धित है तथा इस राग की पृष्ठभूमि भारतीय होने के कारण इसकी शब्दावली का स्रोत भी भारतीय ही है। यहाँ एक उदाहरण द्रष्टव्य है :-

---

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 149 2:- नानक वाणी, पृ० 840

जिउ गावै का गोचली रखि वदि सारा ।
अहिनिसि पालहि राखि लेहि आतम सुखधारा ।
सत उत राखु दीन दयाला ।
सत सरणा गति नदरि निहाला । १ । रहाउ ।
जह देखउ तह रवि रहे रखु राखन हारा ।
तूं दाता भुगता तूं देवै तूं प्राण आधारा ।।[1]

आसा राग :-

भाई कान्ह सिंह अनुसार यह सम्पूर्ण जाति की एक क्षेत्रीय रागिनी है जिसका आलाप प्रातः काल किया जाता है ।[2] एक प्रकरण में भाई कान्ह सिंह ने इस राग को गुरु नानक की अपनी खोज स्वीकार किया है ।[3] डा० तारन सिंह का कथन है कि यह एक प्राचीन भारतीय राग है जो प्रायः रात्रि के समय गाया जाता है ।[4] डा० उदाराम भिन्न ने सिरी राग तथा माझ राग के मिश्रण से इस राग की रचना मानी है ।[5] वस्तुतः इस राग के स्वरूप पर गुरु नानक की मौलिकता की छाप दिखाई देती है । मुस्लिम सन्तों को सम्बोधित करने के सन्दर्भ में इस राग में वाणी की रचना की गयी है । इस राग की वाणी में वाक्यकार तथा पर्याप्त छंद का स्वर अधिक प्रखर है । इस राग में रचित वाणी के माध्यम से गुरु नानक ने अन्धविश्वासों के तम को दूर करते हुए सुगुण, सत्संग तथा रहस्यमयी वातावरण प्रस्तुत किया है । उदाहरणस्वरूप :-

आपे करे साच अपार । सच पाची तूं अलखाहार ।
तेरा भाणा सभु किउ होवै । मन हठि कीचै अंति विगोवै ।
मनमुख की मति कूड़ि विआपी । बिन हरि सिमरण पापि संतापी[6]
दुरमति विछुड़ि जाहा किछु लेवहु । जे उपमे सो अलख अभेवहु ।।

1:- आदि ग्रन्थ , पृ० 228
2:- महान - कोश पृ० 69
3:- वही पृ० 10 (परिशिष्ट)
4:- गुरु नानक : चिंतन ते कला , पृ० 244
5:- नानक वाणी, पृ० 840
6:- आदि ग्रन्थ , पृ० 356

गूजरी राग :-

प्रायः इस राग को गूजर जाति से सम्बन्धित एक रागिनी माना जाता है। गूजरों का क्षितिजाधिकार जैसे पंजाब तथा उसके निकटवर्ती उत्तर प्रदेश कालेज ही रहा है। इसलिए पंजाब में भी इस रागिनी का विशेष विकास हुआ है। भाई काम्ब सिंह ने इसे टोडी ठाट की एक सांझ रागिनी माना है।[1] "राग माला" के अनुसार यह दीपक की रागिनी है। डा० जय राम मिश्र ने इसे भैरव तथा रामकली से मिश्रित स्वीकार किया है।[2] यह राग प्रत्येक ऋतु में प्रायः काल गाया जाता है। इस राग में संकलित गुरु नानक की वाणी में गूजर जाति से सम्बन्धित शब्दावली तथा भावों का समावेश हुआ है। भक्ति - भावना तथा हरि - नाम - साधना पर भी विशेष बल दिया गया है :-

जे की मा इस उतम नीच न मंझि हरि सरणागति हरि के लोग।
नाम मे रते केवल वैरागी सोग विजोग विसर जित रोग।
भाई रे गुर किरपा ते भाति ठाकुर की।
सतिगुर साकि सिरदे हरि सिमरु।
ना जम कापि न जम की साकी।।
हरि गुण रसन कहि प्रभ सी जो सिमु भाये सहजि हरी।
सिमु हरि नाम बिना जगु जीवनु हरि बिन सिहलमेव हरी।[3]

बिहागड़ा राग :-

इस राग में गुरु नानक देव जी ने कलियुग की गंभीर स्थिति का वर्णन करते हुए केवल दो श्लोकों की रचना की है। भाई काम्ब सिंह के अनुसार यह एक विशाल ठाट का सम्पूर्ण राग है। विहाग में कोमल उच्चारण आने से बिहागड़ा बन जाता है।[4] डा० जयराम मिश्र के अनुसार केदारा तथा गउड़ी के मिलाप से बिहागड़ा बनता है।[5] इसके गायन का समय अर्धरात्रि माना गया है।

1:- महान - कोश, पृ० 318
2:- नानक - वाणी, पृ० 840
3:- आदि ग्रन्थ, पृ० 504
4:- महान - कोश, पृ० 647
5:- नानक वाणी, पृ० 840

खटीक राग :-

यह कल्याण ठाट का सम्पूर्ण राग है।[1] दोपहर तथा रात्रि के दूसरे पहर गाया जाता है। खटीक मार, गोरखनी, दुर्गा, कालकी तथा जेती के मिश्रण से निर्मित माना गया है।[2] डॉ० हरनाम सिंह खटीक को मेघ की एक रागिनी मानते हैं जो शरद ऋतु में दोपहर या सायंकाल गायी जाती है।[3] गुरमत संगीत परम्परा में सामान्यतः यह दुख के समय या किसी की मृत्यु के बाद गाया जाता है। यही कारण है कि गुरु नानक ने अलाहणीआं जैसे शोक गीत इस राग में रचित किये हैं। परमात्मा के वियोग की दुखदायी स्थिति का वर्णन करते हुए गुरु - कवि लिखते हैं :-

आवहु मिलहु सहेली हो सहड़ा नाम लएहा।
रोवह विरहा तन का अपणा साहिब संमालेहा।
साहिबु सचा मनि वसै मिलदिआ ढिल न होवै जाणा।
जिन का जीआ तिन ही लीआ होआ तिसै का भाणा।
जो तिसि करि पाइआ सु आगै आइआ जाणी कि झूठु करेहा।[4]
आवहु मिलहु सहेली हो सहड़ा नाम लएहा।

सोरठ राग :-

यह मेघ राग की एक रागिनी है।[5] महान कोश में इसे कल्याण ठाट का औडव सम्पूर्ण राग बताया गया है।[6] यह साधारणतया शरद ऋतु का राग है तथा रात्रि के दूसरे पहर में गाया जाता है। यही कारण है कि गुरु नानक देव द्वारा इस राग में की गयी भावाभिव्यक्ति में अन्धकार का ही प्राय: चित्रण किया गया है। यह अन्धकार किसी भी प्रकार का हो सकता है, जैसे रात्रि का अन्धकार, माया या अज्ञान का अन्धकार आदि। कर्म काण्डी पण्डित को ज्ञान प्रदान करते हुए गुरु नानक का कथन है :-

---

1:- महान कोश, पृ० 809-810
2:- नानक बानी, पृ० 840-841
3:- गुरु नानक : चिंतन से कला, पृ० 247
4:- आदि ग्रन्थ, पृ० 575
5:- नानक बानी, पृ० 841
6:- महान कोश, पृ० 179

सुणि पंडित करमा कारी
जिसु करमि सुहु उपजै भाई सु आतम रसु की चारी ।
पाखंडि मेलु न चुकई भाई अंतरि मैल विकारी ।
इन बिधि डुबी मादुरी भाई छंडी सिर के भारी ।
दुरमति विणुती भाई दुखे भाइ दुखारी ।
बिनु सतिगुर नाम न पाईऐ बिनु नामे भरमु न जाई ।[1]

असावरी राग :-

यह राग को काफी थाट की सम्पूर्ण रागिनी माना गया है । इस के गायन का समय तीसरा पहर है ।[2] "रागमाला" के अनुसार यह मालकोस की रागिनी है । इस राग में अधिकतर वैराग्य भावों को प्रकट किया जाता है । यही कारण है कि गुरु नानक ने इस राग में अभिव्यक्त अपनी वाणी में आत्मिक तथा आध्यात्मकरों की निस्सारता प्रकट करते हुए हरि - नाम - साधना के बिना भक्तजन से मोक्ष असंभव माना है :-

इक मनि राम नाम सालाह ।
अवरी सउ चीतवि नाह पकडहि छाडण का सोआह ।
और सेती नालु पकडहि दुजै तिसि मोह ।
मगर पाणी जालु न सुझै पडु पछु अंधु अलोह ।
सहीआ सउ अमरु छोडिआ मोह भाखिआ गही ।
दिसटि एक इक बरन होई अम की गति रही ।
अठ साज साजि पुराण सोधहि करहि वेद अभिआसु ।
बिन नाम हरि के मुकति नाही कहे नानकु दासु ।।[3]

विलावल राग :-

यह बिलावल थाट का एक ओडव राग है ।[4] इस राग के गायन का समय दिन का तीसरा पहर है । डा० तारन सिंह इस राग को रात्रि या सर्वकालीन राग के रूप में गायन किये जाने वाला मानते हैं ।[5] "रागमाला" में इसे हिंडोल

1:- आदि ग्रन्थ , पृ० 635
2:- महान कोश , पृ० 494
3:- आदि ग्रन्थ , पृ० 662
4:- महान कोश , पृ० 444 5:- गुरु नानक : चिंतन से कला : पृ० 249

की रागिनी मानी गयी है। इस राग का पंजाब प्रदेश में अधिक प्रचलन रहा है तथा मुसलमान सूफी फकीरों ने भी अपना काव्य इसी राग में अभिव्यक्त किया है। गुरु नानक देव ने इस राग को अपनी वाणी में पंजाब की तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण किया है तथा इस के साथ साथ इसमें सामी शब्दावली का भी प्रयोग मिल जाता है। इस राग में शृंगार रस तथा विशेष रूप से विरहात्मक का चित्रण अधिक किया जाता है। यहाँ एक उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें गुरु नानक ने जीवात्मा रूपी नायिका को परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने का उपदेश दिया है :-

बजाणड़ीऐ मानड़ा काइ कोहि।
आपणड़े घरि वंनि रंगी की न माणेहि।
सहु नेड़े धन कमलीए बाहर किआ ढूढेहि।
मेरे किआ देहि समझाईआ मेरी भाव का करि सीगारो।
ता सोहागणि जाणीए लगी जा सहु धरे पिआरो।
बजाणी बाली किआ करे जा धन सीत न भाखै।
करण पलाह करे बहु तेरे साहब महु न पाखै।
तिन्हु करमा किहु पाईऐ नाही वेबहु तेरा आवै।
सब सोभ वडिआईआं की माली माइआ माहि समाणी।
इनी बाती सहु पाईऐ नाही भर्मे कारजि वंजाणी।

दूसरी राग :-

"रागमाला" में इसे मेघ राग की रागिनी कहा गया है। भाई काहन सिंह के अनुसार[2] यह काफी ठाट की संपूर्ण रागिनी है तथा इसके गायन का समय दोपहर है। यह सभी ऋतुओं में, विशेष रूप से वसन्त ऋतु में दिन के किसी भी समय गायी जा सकती है।[3] इस में दाम्पत्य जीवन के अनेक उपमानों को लेकर गुरु नानक ने प्रभु रूपी पति का संयोग प्राप्त करने के लिये जीवात्मा रूपी नायिका का शृंगार तथा मिलने की अभिलाषा का वर्णन किया है :-

---

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 722
2:- महान कोश, पृ० 167
3:- "गुरु नानक : चिंतन से काव्य" पृ० 251

हम घरि साजन आए । सचे मेल मिलाए ।
सहजि मिलाए हरि मनि भाए पंच मिले सुख पाइआ ।
साई वसतु परापति होई जिसु सेती मन लाइआ ।
अनदिन भगति भला मनु मानिआ घर मंदर सुहाए ।
पंच सबद धुनि अनहद बाजे, हम घरि साजन आए ।[1]

बिलावल राग :-

"रागमाला" में इसे "भैरव" का पुत्र कहा गया है । भाई कान्ह सिंह का विचार है कि यह सम्पूर्ण जाति का राग है । इस राग के गायन का समय दिन के दूसरे पहर का प्रारम्भ है तथा परम्परा अनुसार यह मौलाकारों पर गाया जाता है ।[2] इस राग में रचित गुरु नानक ने अपने काव्य में परमात्मा के गुणों का ही वर्णन किया है :-

मनि मोहनि वुगाड़ीए भगति सनेही राम ।
गुरमति मन रली सीऐसि देही राम ।
मनु मारि रीझै सबदि सीझै त्रै लोक नाथ पछाणाए ।
मनु डोगि डोलि न जाइ कतही आपणा पिरु जाणाए
मै अधार तेरा तुं खसम मेरा मै ताण तकीआ तेरु ओ ।
साचि सुचा सदा नानक गुर सबदि आपु निवेरओ ।[3]

रामकली राग :-

यह भैरव ठाट की ओड़व सम्पूर्ण रागिनी है ।[4] इसके गायन का समय सूर्य के उदय होने से सूर्यास्त तक है । "रागमाला" में इस का उल्लेख नहीं किया गया है । इस राग के "दखिणी" आदि भेद केवल "आदि ग्रन्थ" में ही मिलते हैं अन्य मतों में नहीं है ।[5] पंजाब के नाथयोगियों में इसका विशेष प्रचलन रहा है । उन्होंने अपनी आध्यात्मिक तथा सैद्धान्तिक भावाभिव्यक्ति इसी राग में की है । गुरु नानक ने

1:- आदि ग्रन्थ , पृ0 764
2:- महान कोश , पृ0 656
3:- आदि ग्रन्थ , पृ0 844
4:- महान कोश , पृ0 774
5:- "नानक वाणी", पृ0 842

भी इस राग की परम्परा को स्थापित करते हुए सिद्धों तथा नाथों के साथ साथ समय पर की गयी गोष्ठियों में या उस साधना पद्धति के सम्बन्ध में अपने विचारों को इष्ट करते समय , अधिकतर इसी राग को प्रयुक्त किया है । "सिद्ध गोसटि", औ औधर" आदि योग योग सम्बन्धी वाणियों में इसी राग को अपनाया गया है । इस राग में संकलित वाणी की सब से बड़ी यही विशेषता है कि उसमें सिद्धों तथा नाथ योगियों की सैद्धान्तिक प्रवृत्तियों तथा ज्ञान-साधना का खंडन करते हुए गुरु नानक ने नाम-साधना की महत्ता तथा श्रेष्ठता प्रतिष्ठापित की है :-

नाम रते सभे जाइ। रामि रते सचि रहे समाइ ।
नामि रते जोग जुगति बीचार । नामि रते पावहि मोख दुआर ।
नामि रते त्रिभवण सोभा होइ । नानक नामि रते सदा सुखु होइ ।
नामि रते सिध गोसटि होइ । नामि रते सदा तप होइ ।
नाम रति सबु करणी सारु । नामि रते गुण गिआन बीचारु ।
बिनु नावै बोले सभ फोकट । नानक नामि रते तिन जग सोभा ।[1]

मारु राग :-

"राग माला" में इस राग को मालकोस का बेटा माना गया है । भरत कल्लिनाथ के अनुसार यह खाड़व जाति का राग है तथा दिन के तीसरे पहर में साधारण ढंग से गाया जाता है ।[2] यह प्रायः युद्ध-काल तथा मृत्यु के समय गाया जाता है । गुरु नानक के समय तक तथा पहले गुरु तक जब तक सिद्ध रहस्य-साधना में निमग्न थे, सिद्ध गुरुओं का संघर्ष मन के विकारों के प्रति ही था, इसलिए इस राग में मन से जूझने की प्रेरणा दी गयी है । युद्ध की संहारात्मक प्रवृत्ति को भी पारमार्थ-खंडन के रूप में रूपान्तरित हुआ है । हरि - भक्तों को गुरु की सहायता से हरि-भक्ति में निमग्न होने की प्रेरणा दी गयी है :-

भूले सिध गुरु समझाए । उलटि जाइ मारी पाए ।
बिनु गुर सेवि सदा बिनु राती जुग भेख नहि सचि समाता है ।
गुर की भगति करहि बिचा इआनी । अहमे मेरे छडि महेसि न जानी।
सतिगुर अलखु कहहु किछु लखीऐ जिनु अखी सिखि पढाता है ।

1:- आदि ग्रन्थ , पृ० 941
2:- संगीत कोश , पृ० 724

अंतरि प्रेम परापति दसनु । गुरबाणी सिउ प्रीति सु परसनु
अहिनिसि निरमल जोत सबाई अनि-दीपकु गुरमुखि जाता है ।[1]

तुखारी राग :-

भाई काह सिंह के अनुसार यह सम्पूर्ण जाति की एक रागिनी है तथा इसके गायन का समय रात की दिन व्यतीत होने का है ।[2] यह प्राय: भैरव, टोडी तथा रामकली के संयोग से बनता है ।[3] "रागमाला" में इसका उल्लेख नहीं किया गया है तथा न ही किसी अन्य सम्प्रदाय में इसका उल्लेख मिलता है । इस राग का सम्बन्ध शरद ऋतु या किसी शीत प्रदेश से रहा होगा, तभी इसका नाम तुखारी रखा गया है । इस राग की वाणी में प्राय: वियोग स्थिति से उत्पन्न वेदनामयी निराशा तथा मिलन-सुख की भावाभिव्यक्ति हुई है । गुरु नानक ने इस राग में एक स्थल पर जीवात्मा रूपी नायिका के विरह का वर्णन किया है :-

साजन देसि विदेसी अहे सनेहड़े देदी ।
सादि समाले तिन सखदा मुख मेला मिलावे-ता- भेदी ।
मुख मेला भेदी गुण सारेदी किउ प्रभ मिला पिआरे ।
मारू पंधु जाणाउ विखड़ा किउ पाखी पिर वारे ।
सतिगुर सखदी मिले विछुनी तनु मनु आगे राखे ।
नानक अंमृतु विरहु महारस फलिआ मिलि प्रीतम रसु चाखे ।।[4]

भैरउ राग :-

यह सम्पूर्ण जाति का राग है तथा इसको छ: रागों में गाया जाता है । इसके आलाप का समय प्रात:काल है ।[5] "रागमाला" में इसे पुरुष स्वरूप दिया गया है । डा० तारन सिंह ने इसे रामकली , टोडी तथा गउड़ी का मिश्रित रूप स्वीकार किया है ।[6] इस राग की वाणी में भाव-गाम्भीर्य अवलोकित है । गुरु जी की सेवा, नाम - स्मरण आदि भावों का चित्रण द्रष्टव्य है :-

---

1:- आदि ग्रन्थ , पृ० 1032
2:- महान कोश , पृ० 446
3:- नानक वाणी , पृ० 842
4:- आदि ग्रन्थ , पृ० 1111
5:- महान कोश , पृ० 602
6:- गुरु नानक : चिंतन ते कला , पृ० 255

गुर के सबदि तरे मुनि केते छंदाकि इलमादि तरै ।
सब सनेन सखी जब केते गुरपरसादी पारि परे ।
भवजलु बिखु सबदे बिधि तरीवे ।
नाम बिना जग रोगि बिआपिआ
दुखिआ दुखि दुखि मरीवे ।
गुर देवा गुर अलख अभेवा किरपा होवी गुर दी सेवा ।
आपे दाति करी गुरि दाते पाइआ अलख अभेवा ।।

आसा रहा :-

यह पूरी छाट का सम्पूर्ण राग है तथा इसके गाने का समय आसा ऋतु या रात्रि का समय है । "रागमाला" के अनुसार यह हिंडोल का पुत्र है । आसा ऋतु से सम्बन्धित होने के कारण इसमें हरि-भक्ति के आनन्द तथा भक्ति के विकास की भावनाओं को अधिक विस्तार किया गया है :-

मेरी सखी सहेली सुनहु भाइ । मेरा पिरु री साहु लइ साइ ।
ओहु अलखु न लखीवे कहु काइ ।
गुरि मेलि दिखावजो राम राइ ।
मिलु सखी सहेली हरि गुन बने ।
हरि प्रभ लागि जेतडि सर कामनि
गुरमुखि खोजत मन मने ।।

सारंग रहा :-

यह काफी छाट का ओजस्व राग है । इसके गाने का समय दोपहर है । "रागमाला" में इसे "सिरी" राग का पुत्र माना गया है । यह ग्रीष्म ऋतु में गाया जाता है । यही कारण है कि गुरु नानक की वाणी में इस ऋतु का बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है । वर्षा - ऋतु में विरहिणी नायिका की दुखमयी स्थिति का चित्रण निम्नलिखित उदाहरण में द्रष्टव्य है :-

---

1:- आदि ग्रन्थ , पृ0 1125
2:- महान कोश , पृ0 618
3:- आदि ग्रन्थ , पृ0 1170
4:- महान कोश , पृ0 140

उनहि अनद गरजे बसे कोकिल मोर केतकी ।
सरवर बिरख सिखी भुअंगम धरि पिर अन मोहणे ।।
कुचिल कुरूपि कुनारि कुलखनी पिर का सादु न जाणिआ ।
धरि रस रंग रलन नहीं त्रिपती दुरमति दूख समाणिआ ।
आइ न जावै न दुखु पावै न दूख दरदु सरीरे ।
नानक प्रेम से सहज सुहेली प्रभ मेलता घी मनु धीरे ।।[1]

मलार राग :-

यह कमाज थाट का औडव राग है तथा इसे गाने का समय वर्षा ऋतु तथा रात्रिकाल है।[2] "रागमाला" अनुसार यह मेघ की रागिनी है। यह मेघ, गौड तथा सारंग का मिश्रित रूप है। राग की प्रकृति के अनुरूप इसमें अधिकतर वर्षा या उसके किसी उपकरण या उपमान के माध्यम से भावाभिव्यक्ति की गयी है। इस राग में संकलित गुरु नानक की वाणी का एक उदाहरण देखा जा सकता है :-

जिमि जन पिर का सादु न जानिआ सा त्रिसना दहन दुखानी ।
अहं भिरानी करम की फासी बिनु गुर भरमि भुलानी ।
बरसु एका मेरा पिरु घरि आवा ।
बलि जावा गुर अपने प्रीतम ।
जिमि हरि प्रभु आणि मिलावा ।
न उतम प्रीति सचा ठाकुर सिउ अनदिनु भगति सुभाई ।
मुकति भए गुरि दरसु दिखावा जुगि जुगि भगति सुभाई ।।[3]

प्रभाती राग :-

यह भैरव थाट की सम्पूर्ण रागिनी है। जो प्रातः काल गाया जाता है।[4] "रागमाला" में उसका उल्लेख नहीं किया गया। यह राग साधारण रूप में आसा तथा भैरव के संयोग से बनता है। गुरु नानक ने प्रभाती को विशेष के साथ

1:- आदि ग्रन्थ, पृ० 1197
2:- महान कोश, पृ० 716
3:- आदि ग्रन्थ, पृ० 1255
4:- महान कोश, पृ० 600

संयुक्त रूप में प्रस्तुत किया है परन्तु अन्य ग्रंथों में इस प्रकार का सामंजस्य कहीं दिखायी नहीं देता। इस राग में गुरु नानक ने भक्ति, गुरु तथा नाम सम्बन्धी भावों का चित्रण किया है :-

निजानु चित्रानु सुरहरि निरवाणी ।
बिनु सतिगुर मैं कोइ न जाणी ।
सबद सरोवर जोति समाणी । अनद रूप बिटु कुरबाणी ।
भाउ भगति गुरमती पाए । छूमे बिबु सबदि जलाए ।
दाबु रखे ठाकि रहाए । साचा नाम मनि वसाए ।

इस प्रकार गुरु नानक देव ने अपनी वाणी को संगीतबद्ध करते हुए भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए एक रागात्मक वातावरण का निर्माण किया है। गुरु - कवि द्वारा अनेक संगीत-शैलियों का समन्वय, समय तथा ऋतुओं के अनुसार रागों की योजना, विभिन्न जातियों, प्रदेशों तथा संस्कृतियों में समन्वय की स्थापना, "रहाउ" का प्रयोग, छन्दों तथा "घरों" की विशेष पद्धति आदि अनेक विशेषताएं उनकी संगीत परिपक्वता की परिचायक हैं।

1:- आदि ग्रन्थ , पृ० 1342

दशम अध्याय :-

उपसंहार

उपसंहार :-

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में गुरु नानक-काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रबन्ध के पहले अध्याय में गुरु नानक काव्य के सांस्कृतिक तत्वों का विश्लेषण करने की दृष्टि से आदि गुरु नानक के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अध्ययन किया गया है। नानक अपने जीवन काल में ही एक पूर्ण पुरुष मान लिये गये थे। धीरे धीरे उनके साथ अनेक चमत्कारी घटनाओं को सम्बद्ध किया जाने लगा था। जिसके परिणाम स्वरूप उनकी शिष्य-परम्परा ने जन्म साखियों के रूप में गुरु नानक के जीवन, व्यक्तित्व पर अलग अलग साहित्य प्रदान किया है जिनमें से अब साखियों से तथ्य पूर्ण, यथार्थ की विभीषिकाओं से घुले पुर हजारों मीलों की पद-यात्रा करने वाला नानक का वर्तमान व्यक्तित्व खोज पाना एक कष्ट-साध्य कार्य है। यहाँ इस प्रबन्ध में गुरु नानक के समकालीन स्त्रोतों, जन्म साखियों, तथा अर्वाचीन शोध कार्यों के आधार पर गुरु-श्री के जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। गुरु नानक का जीवन-काल अनेक राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, उथलपुथलों का साक्षी रहा है। उन्होंने एक नितान्त अराजकता के वातावरण में समाज के प्रत्येक वर्ग को पतन के गर्त में जाते हुए देखा था। विदेशी आक्रमणों, धार्मिक अत्याचारों, सामाजिक मूल्यों की अवनति ने उनके व्यक्तित्व को विशिष्ट रूप से आन्दोलित किया था। उस समय का समस्त परिवेश उनके रचना कर्म, वर्णनीय व्यक्तित्व को एक ओर आधार दे रहा था। पुत्र के लक्षणों ने ही अन्तर्मुखी उदासी नानक को "लोकाई" को सुधारने के लिये विवश किया था और नानक एक साथ बजाने वाले भिरासी जाति के व्यक्ति मरदाना तथा भजन के साथ बजने वाले यन्त्र को साथ लेकर यत्र - तत्र भ्रमण-क्रम की चला जाने के लिये निकल पड़े। शैशव अवस्था से ही उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक छोटा-बड़ा व्यक्ति उनके सम्मुख नतमस्तक रहा है।

विभिन्न प्रामाणिक स्त्रोतों से यह सत्यापित है कि वे जन्मजात में ही वाणी का उच्चार करने लगे थे। आयु पर्यन्त वे रणांगण की संगीत सभाओं की संगति में वाणी का प्रणयन करते रहे। उन्होंने उस समय प्रचलित प्रत्येक विधा में काव्य सृजन किया है। उन्होंने 'जपु', 'सिध गोसटि', 'ओंकार', 'पट्टी', 'बारहमाहा' जैसी प्रबन्धात्मक रचनाओं के साथ साथ उस समय की लोकप्रिय काव्य विधा 'वार' में अपनी वाणी का उच्चार किया है। गुरु नानक काव्य का आधार संगीत है। प्रत्येक रचना के साथ उन्होंने विभिन्न रागों-रागनियों को सम्बन्ध कर दिया है। इस प्रकार गुरु बाबा के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सांस्कृतिक अध्ययन की ओर अग्रसर होने की एक ठोस भूमि उपलब्ध हो जाती है।

चले चूंकि गुरु नानक काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन किया जाये, साहित्य के सन्दर्भ में संस्कृति के विषय में एक विशिष्ट दृष्टि की संरचना का प्रयास पूरे अध्याय में किया गया है। किसी जाति का साहित्य उसके रागात्मकों के चिन्तन का फल होता है। साहित्य पर भिन्न भिन्न कालों की संस्कृति का प्रभाव अनिवार्य है। इसलिये किसी भी जाति के साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये उसकी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है। इसी तरह साहित्य की स्पष्ट समझ के लिये उसका सांस्कृतिक अध्ययन भी काफी गुणकारक सिद्ध हो सकता है। "पद्मावत" और "कादम्बरी" के सांस्कृतिक अध्ययनों ने इस उपयोगिता को बड़ी सफलता से सिद्ध किया है। संस्कृति अपने जातीय साहित्य में अभिव्यक्त होती है क्योंकि साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण समाज की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियों के बीच होता है, जिसका कि वह अभिन्न अंग है। उस समाज में जो विभिन्न प्रकार के संस्कारों से उसका साक्षात्कार होता है। व्यक्तित्व और कृतित्व का गहरा सम्बन्ध है क्योंकि साहित्य का स्रष्टा वह व्यक्तित्व ही है। इसीलिए व्यक्तित्व की विशेषताएँ साहित्य में अनिवार्य रूप से उजागर हो उठती हैं। इस प्रकार संस्कृति एक ओर तो स्वयं पुरा पुरा की अलग निधि बन जाती है और दूसरी ओर साहित्य को भी अमर बना देती है। महान् साहित्यकार अपने साहित्य में संस्कृति को यथातथ्य प्रस्तुत करता है। इस अर्थ में संस्कृति ही साहित्य की प्राणधारा है क्योंकि समूचा साहित्य मनुष्य के उन्नत एवं परिष्कृत संस्कारों द्वारा ही निर्मित होता है। साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में गुरु नानक काव्य की दार्शनिक दृष्टि को समझने का प्रयास किया गया है क्योंकि दार्शनिक सांस्कृतिक अनुभूति के द्वारा जिज्ञासा, व्याख्या एवं मूल्यांकन करता है। दार्शनिक अवधारणाओं का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य के आन्तरिक, सांस्कृतिक जगत से होता है। दर्शन वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मानव-संस्कृति-कारण खोजना प्रारम्भ करता है। दर्शन सांस्कृतिक खोजों के विभिन्न रूपों की सामान्य विशेषताओं का विश्लेषण और परीक्षण करता है। गुरु नानक काव्य का दार्शनिक अध्ययन करते हुए मुख्यतः ब्रह्म, जीव सृष्टि और माया के सम्बन्ध में गंभीरता से विचार किया गया है। गुरु नानक ने ब्रह्म के निर्गुण, निराकार, अयोनि, स्वयंभू आदि रूपों को ही स्वीकार किया है। परमात्मा के अवतारी रूप को वे एक दम स्वीकार नहीं करते हैं। निस्सन्देह उन्होंने परमात्मा के सगुण रूप में अनेक ऐसे नामों का प्रयोग किया है जो परमात्मा के सगुण रूप के प्रतीक हैं जैसे गोपाल, वासुदेव, माधो, मुरारि, ठाकुर, मुरारि, गोपाल राय आदि। इन वैष्णवादी नामों के साथ साथ उन्होंने ब्रह्म के लिये नाथों, योगियों में प्रचलित परमात्मा के नामों का भी उल्लेख किया है। परन्तु गुरु नानक का मत है कि ब्रह्म, विष्णु, गोपाल, जिन्हें वैष्णवादी परम्परा में विष्णु का अवतार माना गया है, भी माया का बन्धन है। गुरु नानक का निर्गुण ब्रह्म उनकी भक्ति का आलम्बन है। इस दृष्टि से वह निराकार, निर्गुण ब्रह्म की भावनात्मक स्तर पर अत्यन्त सुन्दर संकल्पना किया गया है।

गुरु नानक ने "जीव" का उल्लेख विभिन्न रूपों में किया है। कहीं पूर्ण जीव की आत्मा के रूप में विवेचना करते हुए सो अकर, अनवद, तथा ब्रह्म रूप स्वीकार किया है। दूसरे, जीव, को एक सामान्य व्यक्ति के रूप में विवेचना करते हुए, उन्होंने चारों ८४ लाख योनियों का वर्णन किया है। तीसरे, व्यक्ति की शैशवावस्था से अन्तकाल तक की समस्त अवस्थाओं का उल्लेख करते हुए जीव को भक्ति में अनुरक्त होने का परामर्श दिया है। अनेक स्थलों पर गुरु नानक ने जीव की व्याख्या करते हुए सांसारिक व्यक्ति को गुरमुख तथा मनमुख दो रूपों में प्रस्तुत किया है। गुरमुख व्यक्ति गुरु की ओर मुख किये होने अर्थात् गुरु की ओर उन्मुख होने के कारण गुरु नानक का आदर्श पुरुष है, जबकि विपरीत मनमुख-मन की वासनाओं में प्रवृत्त होने के कारण निकृष्ट व्यक्ति है। गुरु - भक्ति में नानक देव को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। देव दुर्लभ किये जाने पर भी आत्म-साक्षात्कार के लिये मनुष्य रूप में परम साधना, तपस्या तथा भक्ति का अवतार मिलने की संभावना बन सकती है।

सृष्टितत्व पर विचार करते हुए गुरु नानक ने अपने रचनाओं पर आलोक प्रकाश किया है। उन्होंने सृष्टि के उद्भव के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, "शून्य" द्वारा सृष्टि रचना, ओंकार द्वारा सृष्टि रचना तथा अंकार द्वारा सृष्टि रचना। नानक वाणी में नाना स्थानों पर जल को निरंजन, स्वयम्भू, कर्तापुरुष, सेवर के फूल के समान बताया गया है। सृष्टि के चार खानों की प्रक्रिया को नानक ने अण्डज का ही रूप कहा है, इस जगत के समस्त प्राणी अपने मौसेरे हैं, जिनको परमात्मा रचेता से देखता है। उन्होंने जो कालचक्र की चर्चा कहा है जो पानी की एक छोटी सी बूंद से भी नष्ट हो सकता है। सृष्टिकर्ता, ओंकार, ईश्वर, जीवकर्ता, आदि सृष्टि के सम्बन्ध में विस्तार सहित व्याख्यायित किये गये हैं।

गुरु वाणी में "माया" का बड़ा विशद वर्णन किया गया है। गुरु नानक की दृष्टि में अज्ञान और अभाव या जीव और ब्रह्म के बीच अन्तर उत्पन्न करने वाली विकास शक्तिनी का नाम माया है। नानक ने तीन गुणों को भी माया कहा है। गुरु नानक के काव्य में शांकर मायावाद के प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होते हैं। नानक वाणी में माया के विकासी रूप को "कुदरत" कहा गया है।

ग्रन्थ के चौथे अध्याय में गुरु नानक काव्य में प्रतिपादित भक्ति तत्व का विवेचन किया गया है। परमार्थ लाभ के लिये गुरु नानक ने भक्ति को प्रमुख प्रमुखता प्रदान की है। भारतीय अध्यात्म क्षेत्र में ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति इन चार साधना मार्गों की चर्चा की जाती है। गुरु नानक का ज्ञान-मार्ग न वादिक है, न शास्त्रीय। उनके अनुसार ज्ञान ब्रह्म साक्षात्कार की अनुभूतिजन्य सुख है। यही के द्वारा जीवन मोक्ष संभव है। ज्ञान-हीनता की निष्पत्ति दुःखदायी है। ज्ञान प्राप्ति परमात्मा की कृपा, गुरु-कृपा, वैराग्य, धारणा, ध्यान, मनन आदि साधनों द्वारा संभव है। गुरु - नानक के दृष्टिकोण अनुसार कर्मों का फल मिलना अवश्यक है। फल कैसा होगा ? उसका स्वरूप कर्मों के स्वरूप पर आश्रित है। कर्मों का विधान सृष्टि की संरचना के साथ ही ईश्वरेच्छा से सम्पन्न होता है। गुरु नानक ने सम्भवतः उस देवता का विशिष्ट कारण देवता सत्ता को माना है जो कर्मों की फल-प्रदाता भी है। गुरु नानक की सर्वोपरि विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी वाणी में निर्गुण ब्रह्मवाद, सगुण - भगवान, ज्ञान, साधना, पूजा को निखार कहा है और विशुद्धतम कर्मों की अपेक्षा सहज कर्मों अथवा अध्यात्म-कर्मों पर बल दिया है। गुरु नानक के योग

सम्बन्धी विचारों में भी नवीनता है। उन्होंने बहुत से नाथों, अवधूतों, कनफटों, घुमक्कड़ योगियों को आध्यात्मिक रूपों द्वारा वास्तविक योग सिखाने का प्रयत्न किया है। जैसे अष्टांगिक हठ-योग, मंत्र-योग, राजयोग, सहजयोग आदि अनेक प्रकार के योगों में से गुरु नानक ने राजयोग पर बल दिया है जो प्रकारान्तर से उनका "सहजयोग" ही है। सैद्धान्तिक दृष्टि से गुरु-कथित वास्तविक योग के विरोधी नहीं है, बल्कि उन्होंने छद्म पूर्ण क्रियाओं और कर्मों के आडम्बरों के विरोध में अपना मत प्रकट किया है तथा राजयोग की स्थापना द्वारा उसे उसके वास्तविक महत्व का समाज को बोध कराया है। गुरु नानक का सहजयोग पारम्परिक योग साधना से युक्त एवं युगानुरूप एक ऐसा योग है जो सर्व कालिक, सार्वजनिक, निश्चय फलद और सर्व ग्राह्य है।

गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित भक्ति का आधार तत्व प्रेम है जो लौकिक एवं पारिवारिक न होकर उदात्त और दिव्य है। इस परमात्मोन्मुखी प्रेम को कांताभाव, स्वामी-सेवक भाव, वात्सल्य भाव तथा सख्यभाव में विश्लेषित किया गया है किन्तु गुरु नानक का विशेष झुकाव कांता भाव की ओर रहा है। उनकी भक्ति के मुख्य तत्वों में परमात्मा अथवा गुरु की कृपा, नाम साधना, कीर्तन, ध्यान, मनन, श्रद्धा, सत्संगति, दीक्षा की भावना और रहा तथा भाणा में विश्वास को भी परिगणित किया जा सकता है।

गुरु नानक की प्रेम भावना आध्यात्मिक है। जो किसी सीमा तक वैराग्य मूलक भी कहा जा सकता है, परन्तु यह वैराग्य निवृत्ति मूलक नहीं पुरुषार्थपरक है। उन्हें संसारिकता अथवा माया के परिवार से नाता तोड़ना पड़ता है, संसार से नहीं। संसार में इस प्रकार रहना पड़ता है "जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैनाले।" ऐसे आध्यात्मिक एवं वैराग्य मूलक प्रेम की प्राप्ति पलायन के द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि पलायन से अहंकार प्रधानी नष्ट हो जाता है। गुरु नानक ने परमात्मा के प्रति प्रेम की भावना को अभिव्यक्त करने के लिये सभी प्रकार के सांसारिक रिश्तों और नातों का आश्रय लिया है, यथा पति-पत्नी सम्बन्ध, माता-पिता पुत्र सम्बन्ध, स्वामी-सेवक सम्बन्ध। शास्त्रीय दृष्टि कोण से इन्हीं भावों के अन्तर्गत रखकर विश्लेषित किया गया है, जैसे कांता-भाव, स्वामी सेवक भाव, वात्सल्य भाव, सख्यभाव। इनमें से भी प्रमुखता कांता भाव को मिली है। परमात्मा के साथ तादात्म्य के भाव की जो स्थापना पति-पत्नी के सम्बन्ध द्वारा

हो सकती है जैसी किसी अन्य सम्प्रदाय द्वारा संभव नहीं है। यह सम्बन्ध सर्वोत्तम और उत्कृष्ट प्रेम के रूप स्वरूप द्वारा माना गया है। गुरु नानक ने अपनी प्रेम भावना को प्रकट करने के लिये पति-पत्नी के प्रेम को ही उचित माध्यम मानकर स्वयं पत्नी का अभिनय किया है। ऐसा करने से दो लाभ हुए हैं। एक तो इस सम्बन्ध से द्वैत और जीव की एकता को व्यंजित किया जा सका है और दूसरे उनके जीव उत्कट प्रेम की महानता को प्रतिपादित किया जा सका है।

गुरु नानक की भक्ति साधना के सन्दर्भ में नाम-साधना का सब से अधिक महत्व है। मध्यकालीन भक्ति साधना वस्तुतः नाम साधना की संज्ञा से ही अभिहित की जा सकती है। प्रत्येक सम्प्रदाय में, चाहे वह निर्गुण हो, चाहे सगुण, नाम की महत्ता निर्विवाद है परन्तु सिक्ख गुरुओं ने जो असाधारण अधिक महत्व प्रदान किया है। नाम साधना की पृष्ठभूमि गुरु-ज्ञान और शब्द सिद्धान्त में देखी जा सकती है। नाथपंथियों का शब्द-सिद्धान्त नाम-स्मरण के महत्व का प्रतिपादन करता है। योग और तन्त्र सम्प्रदायों में इसकी बड़ी गंभीर और विस्तार पूर्ण छानबीन हुई है। मंत्र जाप के द्वारा साधक अपने मन को विषय-वासनाओं से हटाने का प्रयास करता है और अपने अभीष्ट देव से तद्रूप होने में सफल होता है।

गुरु नानक ने जीव के हृदय में परमात्मा के प्रति अनुरक्ति की भावना उत्पन्न करने के लिये और अपने आध्यात्मिक भावों का प्रचार करने के लिये परम्परागत नामों का उल्लेख भी किया है। इनको सामान्यतः दो भागों में बांटा गया है - भारतीय नाम और इस्लामी नाम। भारतीय नाम वे हैं, जिनका सम्बन्ध भारतीय निर्गुण एवं सगुण दोनों प्रकार की साधना पद्धतियों से है, जैसे राम, पद्मनाभ, अविनाशी, निरंकार, निर्गुण, अपरंपार, अकाल, अलख, मुरारि, गोपाल, निरंजन, अरि, हरि, प्रभु, मोहन, माधो, गोविन्द, नारायण, बासुदेव, जगदीश, गोपाल आदि। इस्लामी नाम वे हैं जिन का सम्बन्ध इस्लामी देशों की सांस्कृतिक परम्पराओं से है, यथा अल्लाह, कादिर, करीम, पातिसाह, परवरदिगार, रहीम, मौला आदि। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य नाम भी प्रयुक्त किये गये हैं। इनका सम्बन्ध परम्परा से उतना नहीं, जितना गुरु नानक के व्यक्तिगत अनुभव से है, यथा - साहब, सिरे, अल्ल, सद, सोहण, पियारा, पीर आदि।

गुरु नानक की वाणी में नाम केवल शब्द का सूचक नहीं है, अपितु एक विशेष अध्यात्मपरक अर्थ है। गुरु ग्रंथ का नाम से अभिप्राय सर्वव्यापक शक्ति से, जो सर्वत्र भरपूर है। जितनी भी सृष्टि है, वह सब नाम की है, नाम के बिना कोई स्थान खाली नहीं है। नाम की उत्पत्ति नामी के पहले हुई है। नाम और नामी में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक हैं। नाम नामी का प्रतीक है। सत्यनाम की उत्पत्ति, एक ओंकार है। समस्त शक्तियाँ नाम की ही दास हैं। वस्तुतः नाम परमात्मा की सम्पूर्ण सर्वशक्तियों का पुंजीभूत रूप है। यह नामी का प्रतीक है और इन दोनों में परस्पर कोई अन्तर नहीं है। नाम और गुरु शब्द में भी कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों एक सत्ता के ही भिन्न-भिन्न अभिधान हैं। प्राणी के लिये नाम की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि उसके बिना अन्य सभी कार्य-व्यापार व्यर्थ हैं। नाम महान कल्याणकारी है। यह वस्तुतः सांसारिकता के अंधकार में भ्रांत अज्ञानी पुरुष की सम्हाल पर उठाने वाली लाठी है। नाम का जप बहुत आवश्यक है और सभी जपों में जिस - जप श्रेष्ठ और अधिक कल्याणकारी है। गुरु का सत्संग और परमात्मा की कृपा नाम - प्राप्ति के प्रमुख साधन हैं और उसके दो लौकिक और पारलौकिक फल भी हैं। नाम की विस्मृति बहुत निकृष्ट अवस्था है। नाम - विहीन व्यक्ति पशुओं से भी निम्न स्तर का अनुपयोगी प्राणी है।

गुरु नानक की भक्ति साधना में "प्रसादि" अथवा कृपा की भावना को प्रमुख स्थान प्राप्त है। उसका दृष्टिकोण यद्यपि भारतीय भक्ति भावना से तथापि सामी धर्मों की "करम" भावना से भी यह पर्याप्त रूप में प्रभावित हुई है। प्रत्येक प्रकार की साधना प्रभु अथवा गुरु की कृपा के बिना व्यर्थ है, वह फलीभूत नहीं हो सकती। परमात्मा अपनी कृपा की रस्सी के सहारे भवसागर में डूबते हुए मनुष्य को गुरु रूपी "बोहथ" पर चढ़ा कर "सचखंड" में ले जाता है। सामान्यतः गुरु नानक ने प्रसाद अथवा कृपा के दो रूप माने हैं - एक सामान्य कृपा, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए सदैव विद्यमान रहती है और विशिष्ट कृपा जो " करम खंड" के द्वारा प्रस्तुत की गयी है। विशिष्ट कृपा की प्राप्ति के लिये साधक की अनुकूलता अथवा सुपात्रता की परमावश्यकता है क्योंकि उसके बिना सभी प्रयास व्यर्थ हैं।

गुरु नानक वाणी में गुरु के स्वरूप, सामर्थ्य और महत्व का जो प्रतिपादन किया है, वह समूचे भारतीय गुरु परम्परा में एक मील का पत्थर है। गुरु के सम्बन्ध में लगभग सभी प्राचीन व्याख्याओं को किसी न किसी रूप में गृहण कर लिया गया है। गुरु का जितना विस्तृत विवेचन और महत्व प्रतिपादन गुरु नानक वाणी में हुआ है, उतना अन्य किसी एक साधक की वाणी में नहीं हुआ। वास्तव में गुरु नानक की साधना पद्धति अथवा सहज साधना में गुरु का स्थान मेरुदंड के समान है। उसके बिना अभीष्ट साधना सम्पन्न ही नहीं हो सकती, साधना की पूर्ण ताली कल्पना करना भी असंभव है। गुरु नानक की साधना नाम की साधना है, कोई दुरूह साधना नहीं है, फिर भी दुरूह साधना वाले सिद्धों और नाथ योगियों के गुरु सम्बोधन से गुरु नानक की गुरु संकल्पना विशेष भिन्न नहीं है। इस सम्बन्ध में आश्चर्य की बात यह है कि जिस महान साधक की वाणी में गुरु के स्वरूप और महत्व का जितना अधिक विश्लेषण हुआ है उसका अपना कोई गुरु नहीं था। परमात्मा ही गुरु नानक का गुरु था। गुरु नानक की अभीष्ट साधना में गुरु का प्रमुख कर्तव्य आत्मा और परमात्मा का अभेद भाव उत्पन्न करना है और उसकी पूर्ति गुरु नानक के लिये परमात्मा स्वयं करते प्रतीत होते हैं। अतः गुरु का सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह गुरु के वैचारिक रूप को प्रस्तुत करता है, संस्थागत रूप को नहीं। गुरु नानक के परवर्ती गुरुओं की वाणी में उनके उक्त दोनों रूपों के दर्शन भी हो ही जाते हैं। गुरु नानक ने गुरु और गोविन्द दोनों के पर्याय स्वीकार किया है। वस्तुतः वे जब गुरु के सूक्ष्म रूप को प्रकट करना चाहते हैं तब गुरु का स्वरूप प्रभु के स्वरूप से अपना सामंजस्य स्थापित करता है और जब वे प्रभु के सगुण रूप को विवेचित करते हैं तो स्वयं व्यक्तिगत गुरु का रूप धारण कर लेता है। गुरु और गुरु के गुरु के शब्द में भी किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं माना गया। गुरु की प्राप्ति परमात्मा की कृपा से सत्संगति के माध्यम द्वारा होती है और हरि नाम में लीन होना ही उसके मिलने का प्रमाण है। गुरु की सेवा और उसके पक्ष का विश्लेषण करने के अतिरिक्त गुरु नानक ने असद गुरु और सच्चे व्यक्ति के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है और साधकों को उनसे बचने के लिये सावधान किया है।

इस प्रबन्ध के पाँचवें अध्याय में गुरु नानक के सैद्धांतिक आधारों को प्रस्तुत किया गया है। नानक वाणी में, यदि गहराई से देखा जाये तो दो विभिन्न आधारों -

मान्यतायें प्रतिबाधित हुई प्रतीत होती हैं। व्यक्ति और समाज- ये दोनों परस्पर सम्बद्ध इकाईयां गुरु नानक की वाणी का केन्द्र बिन्दु हैं। यही कारण है कि मौलिकता की सैद्धान्तिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए व्यक्ति मौलिकता तथा समाज - मौलिकता को दो भिन्न अध्यायों में विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। व्यक्ति-मौलिकता को व्यक्ति का परमलक्ष्य भी कहा जा सकता है। नानक वाणी में व्यक्ति का परमलक्ष्य मोक्ष बताया गया है। गुरु नानक ने मोक्ष को परमात्मा में एक मेकता अथवा लीनता की भावना माना है। इस दृष्टि से निर्गुण परमात्मा का हुक्म परमात्मवाचक है और यह हुक्म प्रभु की कृपा-दृष्टि द्वारा संभव है। गुरु, गुरु-शब्द, गुरु-सेवा, प्रेम-भक्ति का मोक्ष प्राप्ति में महत्व-पूर्ण योगदान है। अहंकार का त्याग और साधु संगति की शरण मोक्ष के लिये आधार-भूत आवश्यकतायें हैं। यह दृष्टि मृत्यु पश्चात प्राप्त होने वाली कोई वस्तु नहीं, जीवित अवस्था में ही इसकी प्राप्ति संभव हो सकती है।

जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त और निज मुक्त व्यक्तियों में से गुरु नानक केवल जीवन्मुक्त के प्रति आकर्षित हुए हैं। "जपु" वाणी में जिन पांच खंडों की अनुकृति जीवन अभिव्यक्ति हुई है, वह प्रकारान्तर से मुक्तात्मा की सचखंड तक पहुंचने की यात्रा का ही प्रतिरूप है। यह अन्तर की यात्रा है और इसके लिये मृत्यु अपेक्षित नहीं है।

गुरु नानक का जीवन्मुक्त व्यक्ति मानवता के कल्याण के लिये बहुत उपयोगी है। ऐसी आदर्श मुक्ति परम्परा को गुरु नानक की मौलिक देन है। गुरु नानक का आदर्श पुरुष "गुरमुख" सतगुरु जीवन्मुक्त व्यक्ति का उज्ज्वल रूप है।

आदि
छठे अध्याय में नानक वाणी में प्रतिबाधित सामाजिक मौलिकता का चित्रण किया गया है। मनुष्य का समाज से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य समाज की इकाई है और समाज मनुष्य की समष्टि का बोधक है। समाज का स्वरूप - निर्माण व्यक्ति के आचार-विचारों पर निर्भर करता है। सामान्यतः यह देखा गया है कि जब भी व्यक्ति दृष्टिभ्रष्ट हुआ है, समाज की व्यवस्था भंग हो गयी है। गुरु नानक का समय और बाद पतन का समय था। कि क्या सूत्र थे, पुराने सिद्धांत ढह चुके थे। शासन, संयम और परिवार के बंधनों को तोड़कर स्वार्थ - अनाचार आगे आ रहे थे। धर्म और प्रतिष्ठा नष्ट हो चली थी। लोगों के आचरण गिर चुके थे। झूठ बोल कर छल लेना साधारण दुराचार था जिसमें, ऐसे दुराचारी लोग ही छूतरों को सही काम के लिये समझाने वाले थे। आत्मिक प्रेम के

स्थान पर स्वार्थ पूर्ण धारणाओं के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होती थी । इस शोषणयुक्त समाज व्यवस्था को पुनर्गठित करने के लिये गुरु नानक ने अथक प्रयास किये जिनका वर्णन इस अध्याय में विस्तार पूर्वक किया गया है ।

गुरु नानक ने हिन्दू धर्म की प्रचलित मान्यता कर्मकाण्ड आदि पर बहुत गहरा कुठाराघात किया । स्त्रियों की मर्यादा का खंडन करते हुए उन्होंने जाति-पाति का विरोध किया । इस प्रयास में उनके तैतालिस पद व्याख्यात्मक प्रवचन सार विद्यमान है । इसी प्रकार धार्मिक व्यवस्था में वे गृहस्थाश्रम को सर्वोत्तम स्वीकार करते थे । उन्होंने बड़े विस्तार से दम्भ पर चलने वाले पंडितों , योगियों, संन्यासियों के दुराचरण का सच लोगों के सम्मुख प्रस्तुत किया ।

गुरु नानक ने अपनी वाणी में नारी जाति को अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान प्रदान किया है । गुरु नानक की सामाजिक चेतनता का महत्वपूर्ण तत्व परसेवा की भावना है । परसेवा से स्वार्थ की भावना का विनाश होता है । स्वार्थ द्वन्द का जनक है, इससे समाज में अनावश्यक और विनाश कारी प्रति स्पर्धा का प्रादुर्भाव होता है । दूसरे के अधिकार को छीनना मनुष्य के जीवनोद्देश्य की प्रकृति प्रदत्त हो जाने से सामाजिक व्यवस्था अस्तव्यस्त से हो जाती है । इसके विपरीत परसेवा सन्तोष को जन्म देती है । यह अपनेपन में एक साधना है । इसके साथ साथ गुरु नानक ने वाद , कलह, मान-अपमान आदि व्यर्थ की भ्रामक एवं कल्पना - प्रसूत सामाजिक प्रथाओं का विरोध करते हुए समाज को उपयोगी बनाने हुए , आध्यात्मिक कर्मों में संलग्न होने का उपदेश दिया है, क्योंकि इसके बिना शोषण सभी कर्म क्लेश का कारण है । वस्तुतः मान-अपना, जिस करना और बांट कर खाना । गुरु नानक की सामाजिक चेतनता के आधार तत्व हैं । मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देते हुए गुरु नानक ने संयम, भय, संतोष आदि पर भी बहुत बल दिया है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सातवें अध्याय में गुरु नानक वाणी का काव्य पक्ष विवेचित किया गया है । नानक वाणी की भाषा पूर्वी पंजाबी के अन्तर्गत रखी जा सकती है किन्तु उस पर पश्चिमी पंजाबी भाषा का भी पर्याप्त प्रभाव दृष्टि गोचर होता है । स्थान स्थान पर खड़ी बोली, ब्रजभाषा एवं रेखता के प्रयोग भी मिलते हैं । कहीं कहीं सिन्धी, लहंदा बोली के भी पर्याप्त शब्द मिलते हैं ।

भाव विश्लेषण के अन्तर्गत मुहावरों पर भी विचार किया जाता है। मुहावरों द्वारा भाषा में सजीवता तथा भाव की विशदता का समावेश हो जाता है। गुरु नानक की भाषा में मुहावरों का प्रयोग हुआ है जिनका उल्लेख विस्तार सहित किया गया है।

काव्यात्मकता की दृष्टि से नानक वाणी पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गुरु नानक आध्यात्मिक जगत के द्रष्टा थे। उन्होंने काव्यात्मक व चित्रात्मकता की दृष्टि से अपनी रचनाओं का सृजन नहीं किया है। उनकी [illegible] अभिव्यक्तियां उनकी आत्मा की सहजावस्था है। अपनी बात को स्पष्ट रूपसे कह देना ही उनका एक मात्र साहित्यिक दृष्टिकोण लगता है।

छन्द तथा अलंकार भी गुरु नानक वाणी में स्वाभाविक रूप में सन्निहित किये गये हैं। इसके लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ा। गुरु नानक अपने चित्त आध्यात्मिक प्रेम में निमग्न विचरण किया करते थे, उसी भाव भूमि में प्रतिष्ठित होकर उन्होंने जो कुछ भी कहा वह सहज काव्य बन गया।

-:-:-:-:-

ग्रन्थानुक्रमणिका

(अ) मौलिक ग्रन्थ (हिन्दी)

1:- गुरु नानक प्रकाश, भूलांध (कवि संतोख सिंह विरचित) सम्पा० भक्तन सिंह
खालसा मिशनरी

2:- गुरु नानक रचनावली - सम्पा० डॉ० रतन सिंह जग्गी

3:- गोरख बानी - सम्पा० डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल

4:- नाथ सिद्धों की बानियां - सम्पा० डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

5:- नानक गीता अथवा अद्भुत गीता

6:- नानक बानी - सम्पा० डॉ० जय राम मिश्र

7:- नानक सहस्रनामा

8:- पुरातन जन्म साखी - सम्पा० डॉ० रतन सिंह जग्गी

9:- प्राचीन साखी (३ भाग) - सम्पा० संत सम्पूर्ण सिंह

10:-कबीर डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्रा०) लि०
बम्बई - 1964 ई०

11:-कबीर और कबीर-पंथी- डॉ० बेदरत्नाथ तिवेदी- हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग - 1969 ई०

12:-कबीर और जायसी का रहस्यवाद: तुलनात्मक अध्ययन - डॉ० गोविंद त्रिगुणायत
साहित्य सदन, देहरादून - 1960 ई०

13:-कबीर की विचारधारा - डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत - साहित्य निकेतन
कानपुर - 2014 वि०

14:-कबीर ग्रन्थावली - सम्पा० बाबू श्यामसुन्दर दास - नागरी प्रचारिणी सभा,
वाराणसी -2029 वि० (छठां संस्करण)

15:-कबीर दर्शन - डॉ० रामकीलाल "सहायक"-महात्मा शिवधिद्यालय, मलका-1962 ई०

16:-कबीर पदावली-सम्पा० पुरुषोत्तम लाल "एक""शर्मा"- प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार,
दिल्ली- 1964 ई०

17:-कबीर मन्सूर (हिन्दी अनुवाद) स्वामी पुरुषानन्द कबीरपंथी -श्री वेंकटेश्वर
(स्टीम्) यन्त्रालय, बम्बई - 1903 ई०

18:- काव्य के रहस्यवाद — आचार्य राम चन्द्र शुक्ल- साहित्य भवन कार्यालय, इलाहाबाद - 1986 ई०
19:- केनोपनिषद् — [शांकर भाष्य सहित] गीता प्रेस, गोरखपुर-20191वि०
20:- गुरु ग्रन्थ साहिब — एक सांस्कृतिक अध्ययन - डा० मनमोहन सहगल - भाषा विभाग,पंजाब,पटियाला-197। ई०
21:- गुरु नानक:जीवनी — डा० पार्थ चिरंजीव- मुख्य सम्पादक गुरमुख निहाल सिंह गुरु नानक फाउंडेशन, नई दिल्ली - 1970 ई०
22:- तुलसी दर्शन मीमांसा — डा० उदयभानु सिंह - लखनऊ विश्वविद्यालय,लखनऊ 2018 वि०
23:- तुलसीदास: जीवनी और विचारधारा - डा० राजाराम रस्तोगी -अनुसंधान प्रकाशन, आचार्यनगर , कानपुर - 2020 वि०
24:- तात्पर्य वृत्ति तथा सूक्तिमुक्तावली — पं० श्रीमती पाठक - संस्कृति मंदिर, इलाहाबाद 1940 ई० [द्वितीय संस्करण]
25:- दर्शन दिग्दर्शन — पं० राहुल सांकृत्यायन - किताब महल प्रा०लि० इलाहाबाद - 1961 ई०
26:- नाथ-पन्थ की पौराणिक पृष्ठभूमि - डा० रत्न सिंह जग्गी -भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली-1968 ई०
27:- दोहा कोष — संपा० डा० प्रबोधचन्द्र बागची- कलकत्ता-1938 ई०
28:- नाथ और संत साहित्य — डा० पीताम्बर नाथ उपाध्याय-काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय , वाराणसी - 1965 ई०
29:- नाथ सम्प्रदाय — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी-नेशनल पब्लिशिंग,वाराणसी - 1966 ई० [द्वितीय संस्करण]
30:- नाथ सिद्धों की बानियाँ — संपा० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी -काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी -2014 वि०[1957ई०]
31:- नारद पंचरात्र — संपा० के० एम० बनर्जी- ऐशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, बिब्लियोथिका इंडिका प्रेस, कलकत्ता-1865 ई०
32:- नारद भक्ति सूत्र — टीकाकार रामकृष्ण शर्मा- सनातनधर्म पुस्तकालय, मुरादाबाद - 1911 ई०

33:- नारद भक्ति सूत्र हिन्दी टीका सहित | पं० हरिदास - गीता बैलीलोलाल बैंक स्ट्रीट, कानपुर -1933 ई०

34:- नारदीय पुराण वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई - 1962 ई०

35:- निराकार मीमांसा दर्शन स्वामी नारायण सम्प्रदाय - मुरादाबाद-1939 वि०

36:- निर्गुण साहित्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि - डा० मोती सिंह -नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी - 2019 वि०

37:- न्याय दर्शन |हिन्दी अनुवाद सहित | टीकाकार ठाकुर उदय नारायण सिंह - राजेन्द्र प्रकाशन भवन, मुजफ्फरपुर - 1991 वि०

38:- पंजाब प्रादेशिय हिन्दी साहित्य का इतिहास - पं० लीलाराम शर्मा- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जालन्धर, दिल्ली-6-1962 ई०

39:- ब्रह्मसूत्र भाष्यम् |श्री भाष्य | तृतीय संस्करण-संवत् वे० अनन्ताचार्य - महास संस्कृत बुक डिपु, मद्रास -1941 ई०

40:- ब्रह्मसूत्रों के वेदान्त भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन - डा० रामकृष्ण आचार्य विनोद पुस्तक मंदिर, हास्पिटल रोड, आगरा-1960

41:- भक्ति का विकास डा० मुंशीराम शर्मा -सोमवाल विद्याभवन, वाराणसी 1958 ई०

42:- भक्ति काव्य में रहस्यवाद - डा० रामनारायण पाण्डेय - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली -1966 ई०

43:- भगवद् गीता डा० स० राधाकृष्णन् -राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली - 1962 ई० |द्वय संस्करण |

44:- भगवद्गीता |भाष्य टीका|-गीता प्रेस , गोरखपुर - 2014 वि०

45:- भागवत पुराण सरल हिन्दी व्याख्या सहित - गीता प्रेस, गोरखपुर 2013 वि०

46:- भागवत सम्प्रदाय पं० कालेश उपाध्याय-नागरी प्रचारिणी सभा, काशी 2000 वि०

47:- भारतीय दर्शन डा० उमेश मिश्र - हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ - 1964 |द्वितीय संस्करण |

48:- भारतीय दर्शन |भाग-2| डा० स० राधाकृष्णन्- राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट, दिल्ली-6- 1969 ई०

49:- भारतीय दर्शन — पं० बलदेव उपाध्याय-शारदा मन्दिर , काशी-1966
50:- भारतीय दर्शन — डॉ० नलिनाक्षदत्त बटुकोपाध्याय तथा डा० औरेन्द्रमोहन दत्त- पुस्तक भंडार, पटना -4 - 1961 ई०
51:- भारतीय धर्म-साधना और गुरु नानक - डॉ० महीप सिंह - श्री गुरु तेग बहादुर साधना कालिज , खेलकार, नई दिल्ली
52:- मध्यकालीन धर्म साधना- डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी- साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद - 1962 ई०
53:- मध्यकालीन संत साहित्य- डॉ० रामखेलावन पांडेय - हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी - 1965 ई०
54:- मध्यकालीन साहित्य में अलंकारवाद - डॉ० कपिलदेव पांडेय - बोलबला विद्या भवन, वाराणसी - 2020 वि०
55:- रामचरितमानस — संपा० शिवनाथ प्रसाद मिश्र- सर्व भारतीय काशिराज न्यास, रामनगर दुर्ग, वाराणसी -1962 ई० [प्रथम]
56:- वेदान्त सार — [हिन्दी रूपान्तर सहित] स्वामी माधवतीर्थ श्रीवास्तव पीयूष प्रकाशन, प्रयाग - 1968 ई० [प्र० सं०]
57:- वेदान्त सूत्र — देखिए "ब्रह्मसूत्र"
58:- साहित्य अभिनव — गीता प्रेस - गोरखपुर - द्वितीय संस्करण,2012 वि०
59:- सोच मत — डॉ० मधुरेश- बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् ,पटना 5 1955 ई०
60:- श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन — डॉ० जसराज मिश्र - साहित्य भवन, इलाहाबाद-1960
61:- श्री गुरु नानक चमत्कार — भाई वीर सिंह -भाई वीरसिंह साहित्य सदन, नई दिल्ली- 1962 ई०
62:- श्रीमद् भगवद् गीता रहस्य - लोकमान्य बालगंगाधर तिलक [हिन्दी अनुवाद माधवराव सप्रे] अखिल भारत तिलक, 568 नारायण पेठ, तिलक मन्दिर, पूना -1962 ई० [चतुर्थ]
63:- संत काव्य का दार्शनिक विश्लेषण - डॉ० मनमोहन सहगल- भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़ - 1965 ई०

64:- सन्त साहित्य — डॉ० सुदर्शन सिंह मजीठिया- रंग महल प्रकाशन, दिल्ली- 1962 ई०
65:- सिद्ध साहित्य — डॉ० धर्मवीर भारती- किताब महल- 1955 ई०
66:- सूफीमत साधना और साहित्य - श्री रामपूजन तिवारी- ज्ञान मंडल, बनारस - 2013 वि०
67:- सूर सागर — महाकवि सूरदास - नागरी प्रचारिणी सभा, काशी- 1993 वि०
68:- सूर सागर — सं०प० बाबू राधाकृष्ण दास - श्री वेंकटेश्वर प्रेस - 1980 वि०
69:- सूरसारावली — (उक्त सूर सागर के आरम्भ से संकलित)
70:- हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति - डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल बनारसी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी -5- 1964 ई०
71:- हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय - डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल - अभय पब्लिशिंग हाउस, पायदरीबा, लखनऊ - 20 ई०
72:- हिन्दी निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि - डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत - साहित्य निकेतन, कानपुर-1961 ई०
73:- हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य पर लोक धर्म का प्रभाव - डॉ० सरला देवी त्रिगुणायत - साहित्य निकेतन आनन्द पार्क, कानपुर - 1963 ई०
74:- हिन्दी ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य - स्वामी अनुभवानन्द पूर्णाश्रमी - चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी - 1964 ई०
75:- हिन्दी सन्त साहित्य — त्रिलोकी नारायण दीक्षित - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - 1960 ई०
76:- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डॉ० रामकुमार वर्मा - रामनारायण लाल, प्रयाग- 1954 ई०
77:- हिन्दी साहित्य की भूमिका - डॉ० आचार्य प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर [प्रा०] लि०, बम्बई- 1963 ई० [लाक्षा]
78:- हिन्दुत्व- — रामदास गौड़- विश्वनाथ गुप्त, सेवा उपवन, काशी - 1993 वि०

(ङ) पंजाबी ग्रन्थ सूची :-

1:- आदि साखियां — संपा० डॉ० प्यार सिंह - प्रकाशन स्वयं (लाहौर बुक शाप, लुधियाना) 1969 ई०

2:- गुरुताप सूरज ग्रन्थावली (महाकवि संतोख सिंह विरचित) -संपा० भाई वीर सिंह -खालसा समाचार, अमृतसर-1934 -35 ई०

3:- गुरु ग्रन्थ साखि — शिरोमणि गुरु द्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर

4:- गुरु नानक प्रकाश — (महाकवि संतोख सिंह), संपा० भाई वीर सिंह - खालसा समाचार, खास बाजार, अमृतसर-1961-62 ई०

5:- गुरु नानक बाणी — संपा० डॉ० रतन सिंह जग्गी- मदान पब्लिकेशंस, पुरानी कोतवाली, पटियाला-1968 ई०

6:- गुरु नानक बाणी प्रकाश (दो भाग) संपा० डॉ० जोगा सिंह पंजाबी यूनिवर्सिटी पटियाला -1969 ई०

7:- जन्मसाखी भाई बाले वाली (पोथी जन्मसाखी) चिरकालीन साहित्य कुटम, लाहौर-1885 ई० (लिथो संस्करण)

8:- जन्मसाखी भाई मनी सिंह वाली- संपा० भेखरचन्द, मैनेजर संस्कृत व गुरमुखी पुस्तकालय, लाहौर- 1892 ई० (423 मानसरोवरी)

9:- जन्मसाखी श्री नानक देव जी (भेखरमान सोढी विरचित) संपा० डॉ० पूरन सिंह खालसा कालिज, अमृतसर - 1962 ई०

10:- गुरमत दरशन — डॉ० वीर सिंह - गुरद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर-1962 ई०

11:- गुरु ग्रंथ साखि विच वर्णत दा संसय- भाई जोध सिंह, प्रेम गुरबख्श सिंह साखि- पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला -29-11-1971 ई०

12:- गुरु नानक देव भाषी आन्दोलन - डॉ० मनमोहन सिंह -मनदीप प्रकाशन, मोतीबाग, नई दिल्ली-15 प्रथम, 1970

13:- गुरु नानक चिंतन ते धारा डॉ० तारन सिंह- अमृतसर खालसा कालेज, अमृतसर-1963ई०

14:- गुरु नानक : जीवन, दर्शन अते साहित्य-धारा , संपा० डॉ० सतबीर कौशल- पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़-1969

15:- गुरु नानक: जीवन, युग अते उपदेश - मुख्य संपा० गुरमुख निहाल सिंह- गुरु नानक फाउंडेशन , नई दिल्ली -1969 ई०

16:- गुरु नानक दरशन — डॉ० बलवंत सिंह खेदी - पंजाबी प्रकाशन, दिल्ली- 1968 ई०

17:- गुरु नानक दी विचारधारा - डॉ० रतन सिंह जग्गी- चेतना पब्लिकेशन्ज़, चाँदनी चौक, दिल्ली-1969 ई०

18:- गुरु नानक भाग — डॉ० बलवंत सिंह खेदी- पंजाबी बुक स्टोर, पहाड़ गंज, नई दिल्ली-1962 ई०

19:- जपु जी दरशन — डॉ० वीर सिंह -लाहौर बुक शाप, लुधियाना-1969 ई०

20:- जीवन-फ़लसफ़ा श्री गुरु नानक देव जी - प्रो० साहिब सिंह - सिंह ब्रदरज़, माई सेवाँ, अमृतसर- 1969 ई०

21:- सचखंड गुरु बाबा - ज्ञानी हरन सिंह -तीसरा संस्करण

22:- नानक वाणी चिंतन — वीर सिंह -लाहौर बुक शाप, लुधियाना-1969 ई०

23:- नानक वाणी विच पखंडवाद - [खोज पत्र] - प्रो० सीताराम बाहरी- पंजाबी विभाग, पंजाब पटियाला - 1963

24:- पंजाबी भाषा विगिआन अते गुरमति गिआन - डॉ० मोहन सिंह दीवाना - बलवंत राय एंड सन्ज़, बाजार माई सेवाँ, अमृतसर-1932

25:- पंजाबी साहित दा इतिहास भाग -1 [पुरातन काल], 2 [मध्यकाल] -भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला- पहला संस्करण

26:- भाई गुरदास — हरिंदर सिंह रूप - सिन्ध पब्लिकेशन्ज़ 7ि कोरट रोड, अमृतसर-1932 ई०

27:- वारां भाई गुरदास — शिरोमणि गुरद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर-1932 ई०

28:- रागमाला गुरु ग्रंथ साहिब, 4 भाग - गुरु खालसा समा आदि -1936 ई०

29:- रागमाला गुरु ग्रंथ साहिब, 4 भाग- शिरोमणि गुरद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर-1939 ई०

30:- रागमाला बाणी श्री गुरु नानक देव जी- संपा० सूरत सिंह भुल्ला, पूरन सिंह कलेक्ट आदि - भाषा विभाग, पंजाब पटियाला-1970

31:- श्री गुरु ग्रंथ कोश — संपा० प्यारा सिंह पदम - पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला -1969 ई०

32:- श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी दा साहित्यिक इतिहास- डॉ० तारन सिंह-शिरोमणि गुरद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर- 1963 ई०

33:- सिक्खां दी गुरु ग्रंथ साहिब ||ਤ ਅਤੇ ਟੀਕਾਕਾਰ ਭਾਈ वीरसिंघ || संपा० डॉ० वीर सिंघ- खालसा समाचार, चाल बाजार, अमृतसर -1958-1962 || प्रथम संस्करण ||

34:- सिख धरम दरशन ||सरदूल सिंघ कवीश्वर विरचित || संपा० वीर सिंघ - पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला- 1969 ई०

35:- सिक्खां दी भगत माला ||भाई मनी सिंघ विरचित || संपा० भाई वीर सिंघ - खालसा समाचार , चौक बाजार, अमृतसर-1964 ||चौथा संस्करण

36:- सिक्खां गुरु भगत सत्त आत्म सिंघ- गुरुदासपुर पब्लि - प्रथम संस्करण

|| ग || अंग्रेजी ग्रन्थ सूची :-

1. Aspects for Guru Nanak's Philosophy- Wasir Singh - Lahore Book Shop; Ludhiana- 1969
2. A Scientific theory of culture; Malinowske.
3. Collected works of Sir R.C. Bhandarkar; Vol. IV- Ed-Narayana Bapuji Utgikar- Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona- 1929
4. Comparative Study of Religion- Joachim Wach- Columbia University Press, New York- 1958
5. Critical Study of Adi Granth -Dr.S.S. Kohli-Punjabi Writers' Co-operative Industrial Society Ltd. New Delhi . 1961
6. Critique of Political Economy, Kalr Marx Materialism
7. Dictionary of Islam- Thomas Petrick Hughes- Premier Book House; Anarkali; Lahore- 1964
8. Divine Master- Sava Ram Singh - Munshi Gulab Singh and Sons; Lahore- 1930
9. Doctrine of Guru Nanak- Pritam Singh Gill- New Book Company; Nai Hiran Gate, Jullundur city- 1969

10. Encyclopaedia Britanica, Vol. 10(Grace) - 1966

11. Encyclopaedia of Islam, Vol. **- Leydem and London-1934

12. Encyclopaedia of Religions and Ethics, Vol. VI & VII- James Hastings- 1964

13. Ethical Philosophies of India -I.C. Sharma - George Allen & Unwin Ltd. London- 1965

14. Ethics of the Sighs- Dr. Avtar Singh - Punjabi University, Patiala- 1970

15. Evolution of the Khalsa- Dr. I.B. Banerjee- A.R. Mukherjee 2 College Square, Calcutta- 1967

16. Gospel of Guru Granth Sahib- Duncan Greenless- The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras- 20- 1960

17. Guru Baba Nanak- Baba P.L. Sadi- A New Light Publicatio n New Delhi- 1966

18. Guru Nanak: A Biography- Surinder Singh Johar- New Book Company, Mai Hiran Gate, Jullundur City- 1969

19. Guru Nanak and Origins of the Sikh Faith- Harbans Singh Asia Publishing House, Bombay- 1969

20. Guru Nanak and the Sikh Religion- Dr. W.H.Mc Leod- Oxford University Press, London,- 1968

21. Guru Nanak Commemorative Lectures (3rd Series) 1968 - Guru Nanak Religion and Ethics- Sh. Balwant Singh Anand - Panjabi University, Patiala

22. Guru Nanak Commemorative Lectures (1969) The Sikh Guru and the Sikh Society - Dr. Niharanjan Ray- Panjabi University, Patiala

23. Guru Nanak : Founder of Sikhism- Dr. Trilochan Singh Gurdwara Parbandhak Committee, Delhi- 1969

24. Guru Nanak : His Life, Time and Teachings - Ch. Ed. Gurmukh Nihak Singh - Guru Nanak Foundation , New Delhi- 1969

25. Guru Nanak : His Personality and Vision- Prof. G.S. Talib- Gur Das Kapur & Sons (p) Ltd. Ghauri Bazar, Delhi -6-1969

26. Guru Nanak in the Eyes of Non-Sikhs - Sarjit Singh Bal- Publication Bureau Panjab University; Chandigarh-1969

27. Guru Nanak Memorial Lectures (1967) -The Message of Shri Guru Nanak Dev in the content of the Ancient Sanatana it Tradition- Sh. B.L. Kapur- Panjabi University; Patiala

28. Guru Nanak Re-interpreted-Narain Singh - S.Narain Singh 26 Shiwala Road; Amritsar- 1965

29. Glimpses of Indian Culture - Dr. Vikram Singh- 1968

30. History and Philosophy of the Sikh Religion (Two parts)4 Khazan Singh- Newal Kishore Press, Ltd. Lahore-1914

31. History of Indian Literature- Dr. M. Winternitz- University of Calcutta- 1927

32. History of Indian Philosophy - Dr. S.N. Das- Gupta- University Press, Cambridge- 1952

33. History og Punjabi Literature- Dr. Mohan Singh Diwana- Kasturi Lal and Sons; Amritsar- 1956 (II)

34. History of The Sikhs-J.D.Cunningham-Johan Murrey, Albemarle Street, London-1849.

35. History of the Sikhs (Vol.I)-W.L.M. Gregor-James Madden, London-1846.

36. Indian Philosophy-Dr.S. Radha Krishnan-George Allen & Unwin, London-1948.

37. Influence of Islam on Indian Culture-Dr.Tara Chand- Indian Press, Allahabad -1946.

38. Life of Guru Nanak Dev-Kartar Singh-Lahore Book Shop, Ludhiana-1958.

39. Mysticism-Evelyn Underhill-University Paperbacks, Methuen, London-1960.

40. Notes towards the definition of culture. T.S. Eliot

41. Out-lines of Sikh thought-Dr. S.S. Kohli-Punjabi Parkashak, 6268/6 Dev Nagar, Karol Bagh, New Delhi 5 -1966

42. Philosophy of Guru Nanak-Dr.S.S. Kohli-Publication Bureau Punjab University, Chandigarh-1969

43. Philosophy of Sikhism-Dr. Sher Singh-Sikh University Press, Lahore-1944.

44. Principal Upanisads-Ed.Dr.S. Radhakrishnan-George Allen & Unwin Ltd.,London-1953.

45. Quranic Sufism-Dr. Mir Valiuddin-Moti Lal Banarsi Dass, Delhi-1959.

46. Religion & Society -Dr. S S. Radhakrishnan-George Allen & Unwin Ltd., London-1959.

47. Religion of Guru Nanak-Dr. Darshan Singh-Lyall Book Depot, Ludhiana-1970.

48. Religion of the Sikhs-Dorothy Field -John Murray,London -1914.

49. Religion and Society-Dr. Radhakrishanan.

50. Serpent Power-Sir John Woodroffe-Ganesh & Co. Madras -1953.

51. Shorter Encyclopaedia of Islam, H.A.R. Gibb and J.H. Kramers -Leiden, E.J. Brill-1953.

52. Sikhs, in Relation to Hindus, Moslems, Christians and Ahmadiyyas-John Clark Archer-Princeton University Press, Princeton-1946.

53. Sikh Religion: Its Gurus, Sacred Writings and Authors-Max Arthur Macauliffe,-Clarendon Press,Oxford,London-1909

54. Sikh Studies-Sardul Singh Caveeshar-The National Publication, Mission Road, Lahore-1937.

55. Studies in Epics & Puranas of India-Dr. A.D. Pusalker-Bhartiya Vidya Bhavan, Chaupatty, Bombay-1955.

56. Studies in the Upanisads-Dr. Govindagopal Mukhopadhyaya Sanskrit College, Calcutta-1960.

57. Transformation of Sikhism (How the Sikhs became a Political Power) -Dr. Gokal Chand Narang-Tribune Press, Lahore-1912.

58. Travels of Guru Nanak-Surinder Singh Kohli-Publication Bureau, Punjab University, Chandigarh-1969.

59. The Nature of Culture, ed.1952. A.L. Kroeber

60. Vedanta-V.S. Ghate-Bhandarkar Oriental Research Institute Pune, 1960.

.....

(ब) सहायक ग्रन्थ सूची (हिन्दी)

1:- भारतीय संस्कृति — डॉ० गुलाबराय, प्र० सं० 1969, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

2:- भारतीय संस्कृति की रूपरेखा - डॉ० गुलाबराय, संस्करण 1956

3:- भारतीय संस्कृति, — तृतीय संस्करण 1966 डॉ० देव राज हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश।

4:- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, संस्करण 1957, डॉ० देव राज हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश।

5:- भारतीय संस्कृति — (पत्र) प्रथम संस्करण, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

6:- भारतीय संस्कृति और कला, प्रथम संस्करण 1973, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी लखनऊ - राधाकृष्ण गैरोला

7:- भारतीय संस्कृति एक समाज दार्शनीय समीक्षा - गौरी शंकर भट्ट

8:- भारतीय संस्कृति का विकास - श्री देव दत्त शास्त्री

9:- कल्प वृक्ष — डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल

10:- संस्कृति और जीवन, — प्रथम संस्करण - क्रिश्चियन भार्गव, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

11:- संस्कृति के चार अध्याय, प्रथम संस्करण, राष्ट्रधारी सिंह दिनकर।

(ज) पत्र-पत्रिकाएं (हिन्दी)

1:- कल्याण - — गीता प्रेस, गोरखपुर-योगांक, हिन्दू संस्कृति अंक, उपनिषद् अंक, वेदांक अंक

2:- परिशोध अंक 10,13 — हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

3:- सप्तसिंधु — भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला, 11/1963

4:- साहित्य मार्ग अंक — पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला-1968 ई०

पंजाबी :-

1:- आलोचना — पंजाबी साहित्य अकादमी, लुधियाना - जनवरी 1956 जनवरी 1963 गुरु नानक अंक

2:- खोज पत्रिका अंक 1	पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला - 1967-68 ई०
3:- गुरमत प्रकाश	शिरोमणि गुरद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर- गुरु नानक दरशन अंक (नवम्बर-दिसम्बर 1967), नवम्बर 1962 गुरु नानक अंक (3 भाग)
4:- पंजाबी दुनिया	भाषा विभाग, पंजाब पटियाला- गुरु नानक अंक, गुरमत अंक, भाती अंक, निरगुण काव्य अंक, दमोदर, अंक ,भाई गुरदास अंक (1952 ई० तथा 1968 ई०)
5:- परख अंक 2 (1967 ई०)	अंक 1 (1970 ई०) पंजाबी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ।
6:- साहित समाचार	लाहौर बुकसाप, लुधियाना - पुरातन काव्य अंक

-0-0-0-0-0-0-0-0-

-:-:-:-:-:-

-0-0-0-

गुरु नानक काव्य

का

सांस्कृतिक अध्ययन

(पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

संक्षेपिका

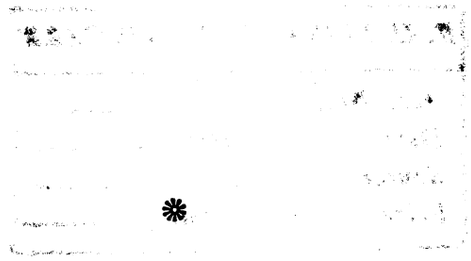

❋

शोध-कर्त्तृ

ललिता देवी

❋

शोध-निर्देशक

डा० गोविंद नारायण राजगुरु

अध्यक्ष हिन्दी विभाग पत्राचार निदेशालय

पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़

मई १९८०

गुरु नानक काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन :-

- भूमिका -

शोध :-

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में गुरु नानक के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन किया गया है। गुरु नानक मध्यकालीन सन्त साहित्य के एक गौरव - मण्डित युग पुरुष थे हुए हैं। निश्चय ही गुरु नानक काव्य में वे सभी तत्व विद्यमान हैं जिनके आधार पर गुरु नानक वाणी का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन उपयोगी हो सकता है।

संस्कृति मानव की उत्थान की ओर ले जाने वाला व्यापक तत्व - बोध है जो विभिन्न कलाओं के माध्यम से पुरा-पुरुषों की धरोहर बन जाता है। अध्ययन संस्कृति के प्रचार, प्रसार में एवं उसके ज्ञान में पर्याप्त रूप से सहायक होती है। "ओझा" जी ने बिल्कुल ठीक कहा है कि "... कला साहित्य मूलतः और अनिवार्यतः एक संस्कृति की उपज होता है और उस संस्कृति का स्वर उस साहित्य में सुनाई पड़ना चाहिए। जो साहित्य किसी एक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, उसका अपना व्यक्तित्व, अपनी ऐतिहासिकता होती है, और उस वह व्यक्तित्व उसके देश के बाहर पड़ोस में तथा दूसरे संस्कृति - समाजों में इसे महत्व दिया जाता है। दूसरे शब्दों में तभी वह विश्व-साहित्य में स्थान पाता है। जिस साहित्यिक रचना में संस्कृति का स्वर नहीं बोलता उसका विश्व-साहित्य में स्थान पाने का कोई सवाल नहीं उठता।"[1] इस दृष्टि से कबीर, सूर, तुलसी, नानक आदि के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। गुरु नानक वाणी को लेकर अब तक सैकड़ों टीका ग्रन्थों एवं मौलिक - आलोचनात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है परन्तु इस दिशा में कोई कार्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में पहली बार व्यापक रूप पर और व्यवस्थित रूप से आदिगुरु नानक के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

आजकल "सांस्कृतिक अध्ययन" विश्वविद्यालय शोध का बहुत प्रिय एवं प्रचलित विषय बना हुआ है। इसकी महत्ता को सर्वप्रथम डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने महसूस किया था। उन्होंने " हर्ष चरित " एवं "कादम्बरी " का सांस्कृतिक अध्ययन करते हुए लिखा है कि "सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से भारतीय साहित्य का अध्ययन अभी बहुत

1:- संस्कृति : यहां वहां, या ओ में ; सच्चिदानन्द वात्स्यायन, साप्ताहिक, हिन्दुस्तान, 30 मार्च, 1980 , पृष्ठ 7

अनुभव होता है। अब आवश्यकता है कि हमें तक के एक सहस्र वर्षों का भारतीय सांस्कृतिक जीवन का अति समृद्ध चित्र संस्कृत के काव्य, नाटक, चम्पू और कथा-साहित्य से प्राप्त किया जा सकता है" यह ऐसी सामग्री है, जो किसी विश्वकोश या इतिहास में तो नहीं लिखी गई पर शताब्दियों से हमारे सामने रही है। उसके पूरे संचित और अर्थ को अब समझना उचित है। भारतीय इतिहास के चित्र में पूरा रंग भरने के लिए यह आवश्यक कर्तव्य है।[1]

काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन का स्वरूप क्या हो यह निर्धारित करने में मुझे पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। डा० राजेश मिश्र ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि "सांस्कृतिक अध्ययन का स्वरूप लोगों की दृष्टि में स्पष्ट नहीं है। अब तक इस दिशा में जो काम हुआ है, उस में इस अध्ययन की दो शैलियां सामने आई हैं - डा० वासुदेव शरण अग्रवाल की व्याख्यात्मक शैली और विश्वविद्यालयीय शोधार्थियों की वस्तु परिगणनात्मक शैली। उक्त दोनों शैलियों का तुलनात्मक अध्ययन करके डा० मिश्र ने बड़े स्पष्ट रूप से प्रमाणित किया है कि काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए डा० अग्रवाल की शैली की उपयोगी है।[1] डा० अग्रवाल के सांस्कृतिक अध्ययनों को जो व्यापक और उन्मुक्त स्वीकृति मिली है और विश्वविद्यालयीय शोध के नाम पर किए गए अध्ययनों की जो उपेक्षा हुई है उससे भी डा० अग्रवाल की पद्धति ही अधिक प्रमाणित होती है। अतः अपने निर्देशक डा० गोविन्द नाथ राजगुरु की सहमति और डा० राजेश मिश्र की सलाह पर मैंने प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध में डा० अग्रवाल वाली शैली का अनुसरण किया है। संस्कृति के विविध पक्षों के आधार पर गुरु नानक - काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन का मेरा यह विनम्र प्रयास है अपनी वास्तविक मूल्यवत्ता के लिए विद्वज्जनों की उदार दृष्टि का मुखापेक्षी है।

१- गुरु नानक : जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व :-

गुरु नानक काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन के सम्यक विश्लेषण के लिये प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सब से पहले गुरु नानक के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विहंगावलोकन प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः गुरु नानक अपने जीवन-काल में ही इतने महिमा-मंडित

१:- डा० राजेश मिश्र, आकाशवाणी, रोहतक से १४-१२-७८ को प्रसारित पुस्तक समीक्षा।

एवं सिद्ध पुरुष स्वीकार कर लिये गये थे अतः आगे वाले समय में उनके साथ अनेक चमत्कारी गाथाओं को सम्बद्ध किये जाने की एक लम्बी परम्परा रही है। एक तरह से इन गाथाओं को एक अवतारी पुरुष के जीवन के प्रति पौराणिक गाथाओं के रूप में भी देखा गया है। इनमें से अनेक, विभिन्न नामों के अन्तर्गत "जनम साखियां" रूपों में हमें उपलब्ध हुई हैं। इन जनम साखियों के माध्यम से गुरु नानक के जीवन एवं व्यक्तित्व का अध्ययन स्वयं में ही एक बहुत विशाल सांस्कृतिक विरासत लिये हुए है। विवेच्य प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सांस्कृतिक अध्ययन को गुरु नानक काव्य तक ही सीमित रखने की सीमा भी सम्मुख रही है, लेकिन जनम साखियों के माध्यम से व्यक्तित्व के अध्ययन ने मुझे आदिगुरु के समग्र सांस्कृतिक वैभव को समझने की एक दृष्टि दी है जिसके मैं उनके काव्य में अभिव्यंजित सांस्कृतिक तत्वों का सही विश्लेषण करने में सक्षम सिद्ध हो सकी हूँ।

" भारतीय मध्यकालीन धर्म - साधना में गुरु नानक का गौरवपूर्ण स्थान है, और उनकी महिमामयी गुरुता, उनका प्रखर व्यक्तित्व, उनकी अंतर्दर्शी दृष्टि, अपने युग के प्रति उनकी जागरूकता, लोक संग्रह की भावना, मिथ्याचारों का निर्भीक प्रत्याख्यान तथा "घट-घट वासी" की अपरोक्षानुभूति के मर्मीय तत्वों को उन्होंने अपनी वाणी में बड़ी मर्मज्ञता अभिव्यक्ति दी है। आज से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व गुरु नानक ने अपनी सहज समाधिस्थ अवस्था में लोक कल्याण के लिए जिस वाणी का संगीतलहरियों में प्रादुर्भाव किया था वह भी ही, सम्भवतः अन्तराल के कम स्वरूप भक्त-विदों की दृष्टि में कहीं किन्हीं अंशों में प्रक्षिप्त सी परन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से गुरु अर्जुन देव के प्रयत्नों के कारण प्रामाणिक रूप से सुरक्षित की गई इस वाणी को विद्वानों ने सही रूप में उपलब्ध मान लिया है।

आदि ग्रन्थ में संकलित गुरु नानक वाणी का सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से मैंने समस्त गुरु वाणी को चार शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। इस प्रबन्ध में उनकी लम्बी रचनाओं को "वृहदाकार कृतियां" शीर्षक देकर स्पष्ट किया गया है और छोटी रचनाओं को अन्य से वर्णित किया गया है। इसी प्रकार गुरु नानक द्वारा रचित आरतों का अलग वर्गीकरण कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त जो शेष कुछ पद शेष रह गये थे, उन्हें फुटकर पदों के शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है। इससे आदि नानक वाणी के विश्लेषण को समझने में अधिक स्पष्टता मुझे प्रतीत हुई है।

गुरु मानक - काव्य का सर्वेक्षण करते हुए अन्य विद्वानों की तरह मैंने भी माना है कि यह समस्त वाणी गुरु अर्जुन देव द्वारा रागों के अन्तर्गत सम्पादित की गयी है । इसलिये उपर्युक्त वर्गीकरण के साथ-साथ मैंने समस्त वाणी में समाविष्ट विभिन्न रचनाओं के लिये निर्धारित विभिन्न रागों का वर्गीकरण भी प्रस्तुत कर दिया है क्योंकि जपुजी के अतिरिक्त समस्त गुरु-काव्य गेय शैली में रचित है ।

आदिग्रन्थ के सम्पादक एवं संकलन कर्ता पांचवें गुरु अर्जुन देव ने गुरुनानक वाणी को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत करने का निर्देश दिया था - जपु, सिद्ध गोसटि, ओंकार, पट्टी, आरत्याद, थिती, पहरे, सोदर, आरतीया आरती, कुचजी, सुचजी, माझ की वार , आसा की वार, मलार की वार, छोपदे, अष्टपदिया, छंत, सोलहे, रलोक । इस सर्वेक्षण में निर्धारित रूप से गुरुनानक-काव्य में प्रतिष्ठापित सांस्कृतिक तत्वों का स्वरूप निर्धारित करने में एक पूर्व-पीठिका का काम किया है ।

२- संस्कृति और काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन का

द्वितीय अध्याय में विषय के सैद्धान्तिक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है । इसमें संस्कृति के अर्थ, परिभाषाओं एवं उसकी उपयोगिता का उल्लेख करते हुए, संस्कृति एवं साहित्य का परस्पर सम्बन्ध निरूपित किया गया है । इसके साथ ही संस्कृति के विविध पक्षों को विवेचित करने का प्रयत्न भी किया है ।

संस्कृति मानवीय ज्ञान, सद्गुण और उत्कर्ष का समष्टिगत पुंज है , और साहित्य मानवीय भावनाओं और ज्ञान का सुन्दर संग्रह है । सांस्कृतिक आदर्श साहित्यिक कृतियों में व्यक्त होकर अमरत्व ग्रहण करते हैं । साहित्य सांस्कृतिक तत्वों के सम्प्रेषण से ही दीर्घजीवी बनता है । प्रस्तुत अध्याय में इसी दृष्टिकोण को मैंने विवेचन विश्लेषण का आधार बनाया है । वस्तुतः साहित्य में कवि या लेखक के व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभवों, दार्शनिक-आध्यात्मिक विचारों, प्रेम-भावना और सौन्दर्य बोध आदि की अभिव्यक्ति होती है क्योंकि इन से संस्कृति का गहन सम्बन्ध है । सांस्कृतिक चेतना उन्हीं तथ्य चिन्तनपरक कृतियों में अधिक स्पष्ट रूप से प्रकाश पाती है । यही कारण है कि किसी भी जाति के साहित्य के द्वारा उसकी

संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । जिस देश की संस्कृति जितनी समुन्नत होगी उस देश का साहित्य भी उतना ही प्रांजल और उच्चस्तर होगा साहित्य और समाज के सम्बन्धों की तरह ही संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध भी संश्लिष्ट होता है । यदि सूक्ष्म रूप से देखें तो पता चलता है कि साहित्य का आधार पाकर ही संस्कृति स्थायी एवं शाश्वत रह सकती है । आज यदि हम पांच सौ वर्ष पूर्व की संस्कृति या इतिहास जानना चाहते हैं तो साहित्य ही में हमारा सर्वाधिक सहायक हो सकता है । साहित्य के द्वारा संस्कृति को नयी पीढ़ियों तक पहुंचाया जा सकता है । मानव जाति के इतिहास में होने वाली सांस्कृतिक प्रगति मुख्यता श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों के रूप में सुरक्षित रही है । इस प्रकार साहित्य संस्कृति का संवाहक भी है और संरक्षक तथा पोषक भी । सांस्कृतिक आदर्श साहित्यिक कृतियों में व्यक्त होकर अमरत्व प्राप्त करती है और साहित्य सांस्कृतिक तत्वों के सम्मिश्रण से शाश्वत समुन्नत प्रभावकारी और दीर्घजीवी बनता है । साहित्य के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए इस दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण स्वीकार कर- करते हुए मैंने गुरु मानव अब्य के सांस्कृतिक अध्ययन के समीचीन निरूपण के लिये संस्कृति के स्वरूप-विश्लेषण को आवश्यक माना है । इसके साथ-साथ संस्कृति के [साहित्य के सम्बन्ध में] विभिन्न तत्वों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी मैंने किया है जिसके गुरु मानव अब्य के सांस्कृतिक अध्ययन का आधार निर्धारित किया जा सके । यही कारण है कि संस्कृति की व्यवस्था प्रस्तुत करते हुए मैंने इस बात पर बल दिया है कि संस्कृति बहुआयामी है । यह एक सम्पूर्ण मूल्यवत्ता है जिसके अन्तर्गत मानवीय संभावनाओं के उच्चतम आदर्श निहित होते हैं । इस अध्याय में गुरु मानव अब्य के अध्ययन में इन्हीं संभावनाओं और अभिव्यंजनाओं को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है, जिनका किन्हीं दार्शनिक मूल्यों, नैतिक मूल्यों और कलात्मक आदर्शों की स्थापना में योगदान है ।

३- गुरु मानव : अब्य : तत्व दृष्टि:-

पूर्वपीठिका के रूप में प्रस्तुत पहले दो अध्यायों के पश्चात् मैंने तीसरे अध्याय में गुरु मानव अब्य में प्रतिष्ठापित तत्वचिन्तन को प्रस्तुत किया है । वस्तुत: भारतीय संस्कृति की गहनता, गंभीरता , विशालता, स्थिरता और प्राचीनता

आदि विभिन्न पक्षों का सम्यक् विश्लेषण उनके दार्शनिक-साहित्य में निहित है। दर्शन दार्शनिक ही किसी देश या समाज की मौलिक चेतना का उत्स है, संस्कृति की नींव दर्शन पर ही आधारित है। दर्शन भारतीय जीवन का प्राण रहा है। प्राचीन काल से ही सहस्रों वर्षों तक यहाँ के साधकों, विचारकों एवं आचार्यों ने घोर तपश्चर्या का अनुसरण करते हुए दार्शनिक तथ्यों का उद्घाटन किया है तथा धर्म एवं तत्वज्ञान को जीवन के लिये अत्यावश्यक बताया है। गुरु नानक काव्य में प्रतिपादित दार्शनिक तत्वों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए मेरा दृष्टिकोण रहा है कि त्रिविध ताप से सन्तप्त जनता की शान्ति के लिये, क्लेशमय संसार से आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति के लिये ही दर्शन शास्त्र का आविर्भाव हुआ है। हमारी यह विचारधारा सुधीजनों की अकारण कल्पना ही नहीं रहा अपितु इसका व्यावहारिक महत्व भी रहा है। यही कारण है कि गुरु नानक की लोकहिताय चेतना के कारण गुरु काव्य में दार्शनिक तत्व स्वयमेव प्रतिपादित होते चले गये हैं।

यहाँ इस तथ्य को भी स्पष्ट किया गया है कि गुरु नानक-काव्य समस्त भारतीय संस्कृति की मानव-कल्याणभावना की पावन धारा को तीव्रगामी बनाने का प्रयास है। गुरु नानक ने भारतीय दर्शन के मूल एवं शाश्वत तत्वों-ब्रह्म, जीव, जगत् एवं माया की अपनी सहज, सार्वभौम दृष्टि से वर्णित किया है। इन जिज्ञासाओं का लक्ष्य सदैव इनके सम्मुख मानव-मात्र का अभ्युदय ही रहा है। ब्रह्म की विराटता की समस्त चिरन्तनता मनुष्य के अहं की भावुकता को विनष्ट करती है, जगत् का मिथ्याभास उसके मोहजालों को ढीला करता है, माया की भ्रमावह तृष्णा का भान मनुष्य को गुरु की शरण में जाने के लिये बाध्य करता है। ब्रह्म, माया और जगत् का यथार्थज्ञान इस धरती के मनुष्य नामक जीव के अभ्युदय के लिये परमावश्यक है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति एवंदर्शन के समस्त चिन्तकों ने इन दार्शनिक तत्वों का बड़ी गंभीरता से विवेचन किया है।

गुरु नानक द्वारा वर्णित निर्गुण ब्रह्म सर्वपूरक है, कृपालु है। यही कारण है कि उन्होंने अपने परब्रह्म के प्रति अनेक भावनात्मक सम्बन्धों की स्थापना की है। जीव के वर्णन के सन्दर्भ में गुरु नानक की मौलिक उद्भावना मनुष्य का मनमुख तथा गुरमुख दो वर्गों में बाँटा जाना है। जीव के सम्बन्ध में समस्त दार्शनिक परम्परा को स्वीकार करते

पुरु, वे मनुष्य जन्म को अत्यन्त मूल्यवान स्वीकार करते हैं क्योंकि इसी मनुष्य के रूप में ही वह परमात्मा की भक्ति करते हुए श्रेष्ठ तत्व को उपलब्ध कर सकता है। उनका कहना है कि गुरु मानव द्वारा निर्मित मनुष्य हरिमन्दिर के समान है, वह समस्त साधनाओं का केन्द्र है, शक्तियों का पुंज है। गुरु मानव का सृष्टि-चिन्तन भी अनेक आयामों को प्रकट करता हुआ अत्यन्त विराट है। जगत् उनके लिये दुखों का घर भी है और अन्तर्यामी को प्राप्त करने का रणक्षेत्र भी। अनेक स्थलों पर मैंने पाया है कि गुरु मानव उपनिषदों के स्वप्नवत् मिथ्यात्व भाव को अनेक उपमानों एवं रूपों के मौलिक प्रयोग द्वारा प्रकट करने का प्रयास करते हैं। गुरु मानव का अनुभवी व्यक्तित्व अपनी समस्त सांस्कृतिक विरासत को समेटता हुआ ही अपनी मौलिक उद्भावनाएं प्रकट करता प्रतीत होता है। माया के वर्णन में भी हमें उनके इसी प्रकार के दृष्टि कोण के दर्शन होते हैं। डा० राजेश सिंह ने ठीक कहा है कि समस्त सन्तसाहित्य का दृष्टि - कोण माया के प्रति नितान्त व्यवहारिक रहा है। वे उन समस्त विकारों, वासनाओं, कामनाओं, तृष्णाओं को माया में अभिहित करते हैं, जो हरि-मिलन में या मानव-अभ्युदय में बाधक हैं।[1] गाहे माया के विधायी पक्ष को गुरु मानव ने कुदरत की संकल्पना द्वारा अभिव्यंजित किया है। गुरु मानव की " कुदरत " सांख्यादियों की प्रकृति से भिन्न है। वहां कुदरत एक विराट् स्वरूप में चित्रित है, जिसके अस्तित्व का उत्तरदायित्व सीधे ब्रह्म पर है। निर्गुण ब्रह्म की यह शक्ति ही जागतिक प्रपंचों का निर्माण करती है और सृष्टि के इस विराट् रूप का संचालन करती है। इस प्रकार संक्षेपतः ब्रह्म, जीव, जगत्, माया का वर्णन गुरु-काव्य में अनेक मौलिक तथा मौलिक उद्भावनाओं को समाहित किये हुए है और समस्त जगती के सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिये समर्पित है।

४- गुरु मानव - काव्यःभक्ति - साधना :-

प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में गुरु-काव्य के साधना-पक्ष को अध्ययन का विषय बनाया गया है। समस्त सन्त-साहित्य वस्तुतः एक निश्चित भक्ति-साधना की ओर

अग्रसर है

आधार है । गुरु नानक इसी ज्योतिस्वरूपी के अभिन्न अंश हैं । भक्ति और उसके विविध रूपों को लेकर भारतीय साहित्य में पर्याप्त चिन्तन-मनन किया गया है । भक्ति की परम्परा इस देश में काफी पुरानी है जिसने सभी युगों में भक्ति इस देश की सर्वाधिक जीवन्त साधना रही है । इस समय भक्ति के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों का चिन्तन और आचरण व्यापक स्तर पर और पूरी गहराई से किया गया है ।

मोटे तौर पर भक्ति के दो रूप उपलब्ध होते हैं - निर्गुण और सगुण । दोनों की परम्पराएं इस देश में काफी पुरानी हैं । निर्गुण-भक्ति-धारा के कवियों ने भगवान के निर्गुण-निराकार रूप की उपासना पर बल दिया, उन्होंने भजन-पूजन आदि के विधि-विधानों की आवश्यकता नहीं स्वीकार की, भगवान के अवतारों, लीलाओं आदि को माया मानकर उन्हें अपनी भक्ति का विषय नहीं बनाया । इनका सामान्य सिद्धान्त था - ईश्वर को अपने भीतर देखना, सारे संसार में उसकी विभूति का दर्शन करना । इसके विपरीत सगुण भक्त कवि वे हैं जिन्होंने भगवान् के नाम रूप, गुण लीला और धाम की महिमा का वर्णन किया है तथा भगवान की अवतार-लीला को गौरव दिया है ।

गुरु नानक निर्गुण-भक्ति-धारा के अन्तर्गत आते हैं । उनका ईश्वर अजन्मा पुरुष "निरभउ, निर्वैर, अकाल, अजोनि, स्वयंभू" है । गुरु-कवि की भक्ति की एक उल्लेखनीय विशेषता उसका अविराम भक्तिमय-प्रेम है । उनकी भक्ति को प्रायः भाव-भक्ति ही कहा गया है परन्तु गुरु नानक किसी भी स्थल पर प्रेम-भक्ति के संयोग तथा वियोग पक्ष का वर्णन करते समय संयम का त्याग नहीं करते । उनका प्रेम अन्य प्रेम जैसा है एवं उनके प्रेम-वर्णनों में शृंगारिकता की झलक से तैयार किया हुआ प्रेम का रस है । गुरु नानक के प्रेम-भाव में आत्म समर्पण की जैसा सेवा-भाव का प्राधुर्य है । इस दृष्टि से आराधनात्मक गुरु नानक की उल्लेखनीय रचना है जिसे विश्व की श्रेष्ठ साहित्यिक अभिव्यक्ति माना गया है ।

गुरु नानक ने प्रभु-भक्ति को मनुष्यता की रक्षा का सर्वोत्तम उपाय बताया है उनके विचार में भक्त की आत्मा स्त्री रूपी को वही कार्य करना चाहिये जो उसके प्रियतम को अच्छा लगे क्योंकि अपने प्रियतम का गुण-गायन करने वाली प्रेयसी पर ही प्रभु प्रसन्न होते हैं । प्रभु की अनन्य भक्ति के अभाव में आनन्द की प्राप्ति असंभव है । प्रभु-प्रेम से

परिपूर्ण हृदय ही आनन्द से परिपूर्ण हो सकता है। यही कारण है कि गुरु नानक ने प्रेमा भक्ति के बिना कर्मकांड को पाखण्ड कहा है। वे भक्ति से शून्य ज्ञान को कोरा तर्क तथा विलासवाद मानते हैं और योग-साधना को भक्ति के बिना शारीरिक व्यायाम घोषित करते हैं। गुरु नानक का मत है कि यदि हृदय में प्रेम का रस नहीं है तो जीव के कर्म सदा सकाम रहेंगे। भक्ति - तत्व के प्राणवान होने पर ही ज्ञान ब्रह्मज्ञान कहलाता है और योग, सहजयोग का रूप धारण कर लेता है।

गुरु नानक की भक्ति का दूसरा उल्लेखनीय तत्व नाम महिमा है। वस्तुतः गुरु वाणी में भक्ति और "नाम" पर्याय के रूप में विवेचित किये गये हैं। भारतीय परम्परा में वाचिक, उपांशु तथा मानस जपों का उल्लेख बड़े प्राचीन काल से किया जाता रहा है। सर्वप्रचलित सम्प्रदायों में ही नाम - साधना। गुरु नानक ने भक्ति - साधना में नाम को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। संसार के मोहान्ध वातावरण में नाम ही व्यक्ति का सम्बल बन सकता है। इस नाम की की गुरु नानक ने अनेक स्थलों पर इन्द्रिय - निग्रह, सदाचरण और तीर्थ - स्नान माना है। नाम को वे अमूल्य मानते हैं। नाम उनके लिये एक अनश्वर पदार्थ के समान है और इसी के द्वारा संसार में कोई भी व्यक्ति मुक्त हो सकता है।

भारतीय संस्कृति परम्परा में कर्म, योग और भक्ति नामक तीन साधन - मार्गों का समय समय पर प्रत्याख्यान होता रहा है। भक्ति सर्वप्रचलित साधना ने एक मत से भक्ति को सर्वतोमुखी साधन के रूप में स्वीकार किया है। भारत के पश्चिमांचल की निर्गुण भक्ति ने लोक-मानस को अत्यन्त गहराई तक प्रभावित किया है। इस क्षेत्र की भक्ति - साधना के विकास में गुरु नानक तथा उनके परवर्ती सिख गुरुओं की पावन - वाणी का योगदान सबसे अधिक माना जाना चाहिए। गुरु नानक की समस्त वाणी भक्ति का ही एक विशाल ग्रन्थ है जिसके प्रति पद में नाम - स्मरण ध्वनित होता है। नाम - महिमा के प्रति समर्पित यह समस्त काव्य इस युग की सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है।

३-३- गुरु मानक -काव्य : नैतिक मूल्य
: नैतिक प्रतिमान
: वैयक्तिक नैतिक मूल्य
: सामाजिक नैतिक मूल्य

प्रस्तुत प्रबन्ध के पांच से अध्यायों में गुरु मानक काव्य में प्रतिपादित नैतिक मूल्यों का विवेचन किया गया है। मानव के सांस्कृतिक विकास के साथ - साथ उस के नैतिक मूल्यों में भी यह उर्ध्वगामी भी प्रवृत्ति लक्षित होती है। हर युग अपनी परि - स्थितियों के अनुसार अपने अभिलक्ष की रक्षा के लिए किन्हीं नैतिक मानदंडों को निर्धारित करने में सदैव प्रयत्नशील रहा है। नैतिक मूल्यों का सम्बन्ध संस्कृति के साथ बहुत गहराई तक होता है। प्रायः देखा जाता है कि नैतिक मूल्य भी संस्कृति के स्वरूप - निर्धारण में अधिक सहायक होता रहा है। स्वभावतः भारतीय संस्कृति निरन्तर अपने में नैतिक आदर्शों को समाहित किये रही है और यही कारण है कि हमारे यहां संस्कृति रक्षा को नैतिक रक्षा माना जाता रहा है या नैतिक रक्षा को ही संस्कृति रक्षा कहने की परम्परा है। संभव है 'धर्म' निश्चित रूप से नैतिक अर्थों का नैतिक मापदंड रहा होगा क्योंकि 'धर्म' के कुपथ: विचुत होते जाने की स्थिति में हम प्रायः सभी प्राचीन सांस्कृतिक धर्म की गौरवशाली परम्परा को पतनोन्मुख होते देखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उपनिषदों में कहीं - कहीं नये नैतिक आधार प्रस्तुत किये जाने लगते हैं। परन्तु उस युग का सांस्कृतिक मूल्य चिरो- धरता है और युग के चार आदर्श मूल्यों के रूप में नये नैतिक आधार का स्वरूप निर्धारित किया जाने लगता है। कहने का अभिप्राय यह है भारतीय मनीषा निरन्तर युगानुरूप नैतिक मूल्यों को स्थापित करने में सचेष्टशील रही है।

मध्यकालीन भक्ति-काव्य नैतिक आधार को प्रतिष्ठित करने की एक गहरी साधना है। इस कालावधि में भक्ति - काव्य की विपुल एवं समृद्ध दोनों धाराओं में ऐसे युग-पुरुषों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने छिन्न-भिन्न हो रहे भारतीय समाज को एक सशक्त प्रदान किया। गोस्वामी तुलसीदास के मर्यादा पुरुषोत्तम राम का शील, शक्ति, सौन्दर्य से समन्वित भव्य भारतीय जनमानस के लिये संजीवनी सिद्ध हुआ है। सूर के श्यामसुन्दर ने उस अभावपूर्ण वातावरण को

भी उद्देश्यमय तथा आकर्षणकारी बना दिया था ।

निर्गुण सन्तों का मुख्य लक्ष्य था समाज का अभ्युत्थान और व्यक्ति का कल्याण । इसके लिए उन्होंने एक सिरे से दूसरे सिरे तक समस्त कुराइयों को खटक कर फेंक दिया और नवीन तथा मौलिक कुछ मान्यताओं को प्रस्तुत किया । जिसका प्रभाव लोक - चेतना में एक लम्बे समय तक ग्राह्य किया और जिसके उपदेशों ने सोचित को निरन्तर संघर्ष की प्रेरणा प्रदान की उन सन्तों में गुरु नानक आते हैं ।

गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित नैतिक मूल्यों का विश्लेषण करने के लिये को " सामाजिक नैतिक मूल्य " तथा " व्यक्तिगत नैतिक मूल्य " जैसे दो भागों में बाँट लिया गया है । वस्तुतः गुरु नानक के सम्मुख व्यक्ति के " सच्चिआरा " होने की समस्या थी । लेकिन वे जानते थे कि व्यक्ति समाज - निरपेक्ष होकर कभी भी , किसी भी स्थिति में " सच्चिआरा " नहीं हो सकता । साथ ही समाज के नैतिक मूल्यों की स्थापना व्यक्तिगत नैतिक मूल्यों से सम्भव है । यही कारण है कि उन्होंने जहाँ व्यक्ति के " सच्चिआरा " होने के आदर्श प्रस्तुत किये हैं वहीं समाज के सामूहिक अभ्युत्थान को भी वे अपने ध्यान में रखे रहे हैं ।

व्यक्तिगत नैतिक मूल्यों के अन्तर्गत गुरु नानक ने "परम ज्ञान " के स्वरूप को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया है । उन्होंने परम ज्ञान के रूप में " मोक्ष " के आदर्श को स्वीकार किया है । गुरु नानक सांसारिक बन्धनों से छुटकारा प्राप्त करने को " मुक्ति " मानते हैं । इस मुक्ति के मार्ग में काम, क्रोध , लोभ, मोह, अहंकार आदि विकार बाधक हैं । यह गुरु नानक को मालूम था अतः इनका विशद विश्लेषण करते हुए गुरु नानक ने इनके त्याग पर और शुभ कर्मों के द्वारा मोक्ष प्राप्ति पर बल दिया है ।

परम ज्ञान की प्राप्ति में गुरु नानक ने भगवद् कृपा को महत्वपूर्ण माना है । उन्होंने बड़े आग्रह से इस मान्यता की स्थापना की है कि परम ज्ञान की प्राप्ति केवल परमात्मा की कृपा से ही सम्भव है । मनुष्य का जन्म निरन्तर कर्मों के परिणाम स्वरूप होता है लेकिन उस मोक्ष की प्राप्ति प्रभु की कृपा से ही होती है । यहाँ इस बात का उल्लेख भी किया जा सकता है कि संतों के मत से प्रभु - कृपा गुरु के सान्निध्य से ही उपलब्ध हो सकती है । गुरु नानक आदि सन्त कवियों को

गुरु सामर्थ तथा परमात्मा में कहीं कोई अन्तर दिखायी नहीं देता । इसी प्रकार परम भेक्त की उपलब्धि में सेवा-भाव का वर्णन गुरु-काव्य का एक उल्लेखनीय पक्ष है । इसमें सेवा को श्रेष्ठ कर्म बताया गया है । यही कारण है कि गुरु मानक की शिष्य परम्परा में सेवा कार्य को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है ।

गुरु मानक ने अपने आदर्श व्यक्ति को गुरमुख की संज्ञा से अभिहित किया है । गुरमुख का बड़े विस्तार से गुरु - वाणी में वर्णन किया गया है । गुरमुख के विपरीत मनमुख है । गुरमुख से अभिप्राय है गुरु के प्रति आस्थावान् तथा मनमुख का भाव है मन के विकारों का अनुगामी व्यक्ति । गुरु मानक द्वारा प्रतिपादित मनमुख व्यक्ति में समस्त हेय आदर्श विद्यमान रहते हैं ।

गुरु मानक ने सामाजिक मैतिक मूल्यों का प्रतिपादन सच्चा मानव - मौल के दृष्टिकोण से किया है जिसे " गुरु सिख " परम्परा में " सरबत दा भला " के रूप में समझ - समझाया जाता है ।

गुरु मानक ने अपने समय के समस्त राजनैतिक, सामाजिक , धार्मिक तथा आर्थिक अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करते हुए समाज के प्रत्येक वर्ग के लिये नैतिक मान्यताएं निर्धारित की हैं । उनका किसी व्यक्ति के मुसलमान, हिन्दू, खोट, खेन आदि किसी भी वर्ग - विशेष में होने का कोई विरोध नहीं है । वे वस्तुतः मुसलमान को एक अच्छा मुसलमान, हिन्दू को एक श्रेष्ठ हिन्दू, खोट को श्रेष्ठ खोट और खेन को श्रेष्ठ खेन देखना चाहते हैं । यही कारण है कि उन्होंने इन सभी वर्गों के रूढ़िग्रस्त, अतथ्य-युक्त निरर्थक क्रिया कलापों का खंडन करते हुए एक सहज - मार्ग का आदर्श प्रस्तुत किया । वे आज से इस प्रयत्न में एक नयी व्यक्ति की निर्मिति की ओर अग्रसर हो रहे थे जो धर्म की ठोस भूमि पर टिका रहकर जीवन-जगत् की समस्त विभीषिकाओं से टकराते हुए अपने समाज का निर्माण कर सके । उनके मन में एक ऐसे समाज की परिकल्पना थी जिसकी अन्तिम परिणति " सिख पंथ " के रूप में हुई और जिसने लगभग दो सौ वर्षों तक सम्पूर्ण भारतीय समाज के मनोबल को ऊंचा उठाये रखने में कोई कसर नहीं उठा रखी । गुरु मानक के नैतिक मूल्यों की आधार भूमि पर खड़े होकर ही गुरु - कवि के शिष्यों ने दलित और शोषित तथा शोषित वर्गों को सामन्त, अत्याचार, धार्मिक ढोंग आडम्बर से मे टक्कर लेने और आत्मोत्सर्ग करने में कभी पीछे नहीं रहे ।

९- गुरु नानक - काव्य : अभिव्यंजना शिल्प :-

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के नवम अध्याय में गुरु नानक-काव्य के अभिव्यंजना शिल्प का विश्लेषण-विवेचन किया गया है। किसी काव्य कृति के प्रत्येक शब्द, वाक्य - विन्यास, अभिव्यक्ति कौशल, लोकोक्तियाँ तथा काव्य-वेश आदि सभी से संस्कृति के विभिन्न अंगों पर प्रकाश पड़ता है। नानक - काव्य का एक-एक शब्द अपने गर्भ में जिस विचार - राशि को लिए हुए है वह हमारे पूर्वजों के क्रिया - कलापों, विचार - पद्धति तथा व्यवहार-कला की द्योतिका है। यदि ये शब्द जीवित हैं तो इनके साथ सम्बद्ध विचार राशि भी जीवित है और इनके साथ ही हमारी यह परम्परा भी जीवित है जो युगों के अन्तराल को चीरती हुई आने वाली जीवनोपयोगी सामग्री को वाणी देती है।

किसी कृति के अभिव्यंजना शिल्प के अध्ययन अध्ययन के अन्तर्गत सबसे पहले उस कृति की भाषा को ध्यान आकर्षित करती है। कवि की भाषा के सांस्कृतिक पक्ष का विवेचन उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों, वाक्यांशों तथा लोकोक्तियों के आधार पर किया जा सकता है। संस्कृति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मधुरता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शों की समष्टि का ही दूसरा नाम है। सामान्य अर्थ में संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जो मानव व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं। सामाजिक प्राणी होने के कारण कवि का व्यक्तित्व देश-विशेष की संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यही व्यक्तित्व भाषा के माध्यम से काव्य में प्रकट होता है। वस्तुतः कवि का अभिव्यंजना शिल्प तथा उसकी भाषा उसकी सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती है। इस दृष्टि को लक्ष्य मानकर गुरु नानक काव्य के अभिव्यंजना शिल्प के विविध पक्षों का विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। भाषा, मुहावरे और लोकोक्तियाँ, शब्द-शक्ति अलंकार-विधान, प्रतीक-योजना, बिम्ब-विधान तथा संगीतात्मकता इस अध्याय के विषय हैं।

10- उपसंहार

प्रबन्ध के सातों अध्याय में गुरु नानक - काव्य के सांस्कृतिक अध्ययन सम्बन्धी अपने अनुशीलन-कार्य की मुख्य उपलब्धियों को अध्याय क्रम से रेखांकित किया गया है और इस प्रकार इस्तुत प्रबन्ध के सारे विस्तार को उपसंहृत किया गया है।

इस प्रकार इस्तुत प्रबन्ध के इन सात अध्यायों में गुरु नानक के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। आशा है कि विद्वानों को मेरा यह विनम्र प्रयास पसन्द आएगा।

ललिता देवी

-:-:-:-:-